2025

ISSN 2231-1041

स्तोम

STOM

कलाभिव्यक्ति का माध्यम

पिअर रिव्यूड वार्षिक शोध पत्रिका

Peer Reviewed Annual Research Journal

वर्ष-25, अंक-25 / Year-25, Volume-25

रजत जयन्ती वर्ष

'शिवम्' सांस्कृतिक मंच, छपरा

2025

संस्थापक
चन्द्र किशोर सिंह, अधिवक्ता

आदि मुद्रक
श्यामा सिंह

प्रबन्ध सम्पादक
डॉ० कुमार विमल मोहन सिंह
डॉ० कुमार निर्मल मोहन सिंह

प्रकाशक
'शिवम्' सांस्कृतिक मंच, छपरा

मुद्रक
कुमार प्रिन्टर्स,
लाह बाजार, छपरा-841301

पत्राचार का पता
प्रो० लावण्य कीर्ति सिंह 'काव्या'
फ्लैट नं०- 108
न्यू टीचर्स फ्लैट
ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय
दरभंगा (बिहार)
मोबाईल नं० : 9835296330
ई-मेल : editor.stomresearchjournal@gmail.com

सहयोग राशि- **315/-**

पत्रिका के प्रकाशन से जुड़े सभी संगीतसेवी अवैतनिक हैं ।

लेखकों के विचार से सम्पादकीय सहमति आवश्यक नहीं है ।

ISSN 2231-1041

स्तोम

कलाभिव्यक्ति का माध्यम

पिअर रिव्यूड वार्षिक शोध पत्रिका

वर्ष-25, अंक-25

रजत जयन्ती वर्ष

प्रधान सम्पादक
प्रो० लावण्य कीर्ति सिंह 'काव्या'

सह सम्पादक
डॉ० कुमार विनय मोहन सिंह

'शिवम्' सांस्कृतिक मंच, छपरा

स्तोम

कलाभिव्यक्ति का माध्यम

(यूजीसी-केयर सूचीबद्ध, पिअर रिव्यूड वार्षिक शोध पत्रिका)

सलाहकार मण्डल : प्रो० पंकजमाला शर्मा
प्रो० द्वारम वी.जे. लक्ष्मी
विदुषी काजल शर्मा
प्रो० दर्शन पुरोहित
प्रो० के० शशि कुमार

सम्पादक मण्डल : प्रो० संगीता पण्डित
प्रो० बी० राधा
डॉ० विधि नागर
डॉ० अनीता शिवगुलाम
डॉ० हिमांशु द्विवेदी

सहयोगी मण्डल : प्रो० अर्चना अम्भोरे
प्रो० निशा झा
डॉ० राजश्री रामकृष्ण
डॉ० बिन्दु के०
डॉ० आरती एन० राव
डॉ० अरविन्द कुमार
डॉ० ज्योति सिन्हा
डॉ० मधुरानी शुक्ला

leil.k

pUnfd'kkj flg **';kek flg**

संस्थापक
शिवम् सांस्कृतिक मंच, छपरा

शिवम्-सरगम

आङ्गिकं भुवनं यस्य वाचिकं सर्ववाङ्मयम् ।
आहार्यं चन्द्रतारादि तं नुमः सात्विकं शिवम् ।।

नृत् कला की इस दुनिया में,
है अपना नया कदम ।
जहाँ सुर का संगम होता,
वो सरगम बना शिवम् ।।

लेकर हम चाँद सितारे
आपस में प्रीत सँवारे ।
प्रीत के इस मंदिर में,
नित शीष झुकाते हैं हम ।।

संगीत हो मन्त्र हमारा,
अभिनय हो शस्त्र हमारा ।
हम नेक, एक, जग जीते,
यही नाद सुनाते हैं हम ।।

हो विकसित जग में कलायें,
संस्कृति की अलख जगाएँ ।
यही भावना हमारी,
यही लक्ष्य बनाते हैं, हम ।

मूल रचना : रविभूषण 'हँसमुख'
परिकल्पना : विनय मोहन 'वीनू'
संगीत : लावण्य कीर्ति सिंह 'काव्या'

सम्पादकीय...

नब्बे का दशक था, जब श्री चन्द्र किशोर सिंह ने कलाओं के विकास के लिए, युवाओं के उत्साहवर्द्धन के लिए, समाज में सांस्कृतिक उन्नति के लिए, अपने छोटे-से शहर की पहचान के लिए एक संस्था की नींव रखी । इससे पूर्व वे शहर व राज्य स्तरीय अनेकानेक सांगीतिक व सांस्कृतिक कार्यक्रमों के आयोजन-समितियों के सक्रिय सदस्य के रूप में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा चुके थे । पेशे से अधिवक्ता होते हुए संगीत में गहरी रुचि थी उनकी, उन्हें आचार्य वृहस्पति का सान्निध्य जो मिला था, फिर तो अनगिनत गुणियों का संयोग मिलता गया । परिणामत: 1990-91 में छपरा (बिहार) में संगीत के साथ-साथ नाट्य, चित्रकला आदि कलाओं के विकास के लिए श्री चन्द्र किशोर सिंह, अधिवक्ता (मेरे पिता) ने 'शिवम् सांस्कृतिक मंच' की स्थापना की । इस संस्था के द्वारा कई वर्षों तक प्रति वर्ष विभिन्न विधाओं में राज्यस्तरीय प्रतियोगिताएँ आयोजित की गईं । इतना ही नहीं, देश-भर के अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के कलाकारों को आमंत्रित कर सम्मेलन आयोजित किया गया । तीन दिनों तक दिन-रात चलने वाले 'कला पर्व' नामक इस आयोजन में युवाओं को मंच प्रदान किया गया, निखर कर प्रतिभाओं का परचम देश-भर में लहराया । इस अवसर पर स्मारिका का प्रकाशन [मुद्रक- श्रीमती श्यामा सिंह (संस्थापक की धर्मपत्नी)] कुमार प्रिन्टर्स, छपरा में होता जिसके महत्त्वपूर्ण आलेख आज भी शोधार्थियों के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध हो रहे हैं । इस संस्था को स्थानीय ही नहीं, अनेकानेक वाह्य विद्वद्विभूतियों का भी खूब सहयोग मिला । आदरणीय संस्थापक-दम्पति और कई अभिभावकतुल्य सम्मानित सदस्य आज हमारे बीच नहीं हैं । नि:संदेह गतिविधियाँ कमजोर होने लगीं। परन्तु, छोटी-बड़ी गतिविधियों के द्वारा अब तक यह संस्था जीवन्त रही है ।

इस 'शिवम् सांस्कृतिक मंच' के द्वारा वर्ष 2001 में एक वार्षिक शोध-पत्रिका '**स्तोम**' प्रकाशित करने की योजना बनी, यह अद्यतन प्रकाशित हो रही है, निरन्तर पच्चीस वर्षों से । ISSN 2231-1041 से सुयोजित पिअर-रिव्यूड यह पत्रिका इक्कीस वर्षों बाद यूजीसी-केयर सूचीबद्ध हुई जो 2024 तक रही । संगीत के साथ-साथ अन्य सभी कलाओं से सम्बन्धित शोध-पत्र इसमें प्रकाशित होते रहे हैं । अब **वर्ष 2025, यह पच्चीसवाँ वर्ष है 'स्तोम' का अर्थात् रजत जयन्ती वर्ष !** संसाधन-शून्य परिदृश्य में आरम्भ होकर भी 'स्तोम' ने लम्बी यात्रा की है, अनेक अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों का सामना करते हुए '**रजत जयन्ती अंक**' तक पहुँचा है यह ।

'स्तोम' का यह 'रजत जयन्ती वर्षांक' अपने सुधी पाठकों-लेखकों के हाथों में पहुँच कर बहुत गौरवान्वित होगा जिसमें देश-विदेश के अनेक विद्वान चिन्तकों, अध्येताओं, लेखकों के शोध-आलेख समाहित हैं । ये आलेख वर्षों के चिन्तन-मनन के परिणाम हैं । अनुभव और अनुभूतियों का खजाना है इसमें, पारखी दृष्टिकोण का निचोड़ है । इन लेखकों ने कलाओं को निरन्तर गम्भीरतापूर्वक देखा-सुना है, वहाँ मात्र मनोरंजन नहीं है । इनकी लेखनी का सुपरिणाम है कि बार-बार पढ़ने को जी चाहता है, लिखने की लालसा जागृत हो उठती है, रचनात्मकता को प्रश्रय मिलता है । इनके विचार-मन्थन का परिणाम है कि कलाओं के प्रति बहुजन का नजरिया बदला है । नकारात्मकता गौण होती जा रही और सकारात्मक पहलू उजागर हुए हैं । कला

पारखी सुचिन्तकों ने अपने विचारों से अध्ययन–अध्यापन जगत को समृद्ध बनाया है । देखी–सुनी जाने वाली कलाएँ पढ़ी जाने लगीं, समाज इसे अपनाकर सुसंस्कृत होने लगा । संस्कृति की सुरक्षा और समृद्धि के लिए कलाओं के आवश्यकता की अनुभूति हुई और इस पर बल दिया जाने लगा । इन कलाओं में भौतिक द्वन्द्वों से ऊपर उठकर मनुष्यता की भावना को जागृत करने की शक्ति है । ये कला–पारखियों को समाज–सापेक्ष कार्यों के क्रियान्वयन हेतु उद्वेलित करती हैं – यह बहुत ही सहज प्रक्रिया है – कला–प्रेमियों के अन्दर यह अनायास जन्म लेता है और सुन्दर सम्भावनाएँ गतिमान हो जाती हैं ।

हमारे देश के कोने–कोने में लेखक, चिन्तक, समीक्षक हैं । उनमें से श्रेष्ठ श्रेणी के विद्वानों के आलेख इस अंक के आरम्भ में समाहित होकर इस अंक की गरिमा को बहुगुणित कर रहे हैं । सर्वप्रथम डॉ. मुकेश गर्ग का आलेख है जो विषय के सुन्दर प्रतिपादन के साथ–साथ लेखन की विधा से भी परिचित कराता है । वे स्वयं एक संगीतज्ञ, लेखक, चिन्तक, समीक्षक, सम्पादक थे । अब वे हमारे बीच नहीं हैं परन्तु हम उनकी रचनाओं से लाभान्वित अवश्य होते रहेंगे । मेरी गुरू–माता काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से अवकाशप्राप्त विदुषी प्रो. अर्चना प्रदीप कुमार दीक्षित, ने सदैव मनोबल बढ़ाया है, उनका आलेख गुजरात के संगीत का आकलन प्रस्तुत करता है । पं. विजय शंकर मिश्र एक सपुरिचित व्यक्तित्व हैं जिन्होंने सदैव संगीत–सेवा का बीड़ा उठाया है– उद्‌बोधन, आयोजन, लेखन, समीक्षा सब कुछ । उन्होंने एक विराट परिदृश्य उपस्थापित किया है इस अंक के अपने आलेख में । आगे, प्रो. सुनीरा कासलीवाल, डॉ. मीना बनर्जी, श्रीमती मंजरी सिन्हा, श्री उदयन वाजपेयी, पं. देवाशीष दे सहित डॉ. टी.वी. मणिकण्डन, डॉ. राजेन्द्र कृष्ण अग्रवाल 'रजक', सौ. माधवी रमेश नानल, डॉ. अंजना पुरी, श्री दीपक दुआ, डा. शशि प्रभा तिवारी, डॉ. विजयश्री शर्मा ने अपनी लेखनी से इस अंक को समृद्ध बनाया है । इसके साथ ही, क्रम में इसके बाद के सभी लेखकों ने अपने–अपने शोध–पत्र को सुव्यस्थित स्वरूप देकर विषय–निरूपण किया है । स्तोम–परिवार आप सभी के प्रति शुभकमानाओं और बधाईयों सहित हार्दिक आभार प्रेषित करता है ।

'स्तोम' शोध–पत्रिका से जुड़े उन सभी सदस्यों को भी हार्दिक आभार जिन्होंने इन पच्चीस वर्षों की यात्रा में हमारा साथ दिया ।

अध्ययन–लेखन से जुड़े हमारे सुधी पाठकों, अध्येताओं, चिन्तकों, लेखकों, मार्गदर्शकों से निरन्तर प्रतिक्रिया की आकांक्षा में–

2.1.2025 **(लावण्य कीर्ति सिंह 'काव्या')**

vuØe

			i-l-
	lEikndh;		v-vi
1.	आजादी के 75 साल और हिन्दुस्तानी संगीत	डॉ. मुकेश गर्ग	01
2.	संगीत के क्षेत्र में गुजरात का योगदान	प्रो. अर्चना प्रदीप कुमार दीक्षित	07
3.	भारतीय संगीत का इतिहास (उत्तर भारतीय संगीत के विशेष संदर्भ में)	पंडित विजयशंकर मिश्र	10
4.	वाद्य संगीत का सिकुड़ता संसार	प्रो. सुनीरा कासलीवाल व्यास	20
5.	स्वाधीन–भर्त्रिका नायिकाएँ	मीना बनर्जी	26
6.	Ustad Anwar Khan Manganiyar : The Humble Soul (An Interview)	Manjari Sinha	33
7.	चित्रकला के छह अंग	उदयन वाजपेयी	36
8.	कला के सर्वांगीण विकास में संग्रहण की भूमिका	देवाशीष दे	39
9.	Age of 'Natyashastra' and 'Amarakosha' of AMARA SIMHA -A Retrospection	Dr. T. V. Manikandan	43
10.	वसंत, व्रज और वंशीधर श्रीकृष्ण	डॉ. राजेन्द्र कृष्ण अग्रवाल 'रजक'	48
11.	शिव–स्वरूप और संगीत	सौ. माधवी रमेश नानल	52
12.	रंग संगीत : एक पुनर्विवेचन	डॉ. अंजना पुरी	59
13.	मुबारक बेगम : कभी तन्हाईयों में यूं हमारी याद आएगी...	दीपक दुआ	64
14.	लोकगायन 'बिरहा' का अद्भुत संसार	शशिप्रभा तिवारी	67
15.	काव्य और संगीत की एकात्मकता	डा. विजयश्री शर्मा	72
16.	भारतीय संगीत में बंदिश का महत्व	डॉ. सुरेन्द्र नाथ सोरेन	76
17.	राग–विस्तार में अलंकारों का प्रयोजन	डॉ. राजपाल सिंह	81
18.	यशोदानन्द शुक्लविरचित 'रागमाला' : एक अध्ययन	डॉ. अरविन्द कुमार	86
19.	The Charyapada as a Musical Form : A study	Dr. Tama Debnath Dr. Rabindra Bharali	90

20.	हापुड़ और मेरठ के ऐतिहासिक स्थलों पर सांगीतिक वाद्य (एक सांस्कृतिक यात्रा)	डॉ. मोनिका दीक्षित	97
21.	Ganjam District: A Window of Folk Performance : With Special Reference to Prahlada Nataka	Dhananjay Kumar Dr. Niraj Kumar	102
22.	उत्तरपूर्व की कला पर स्मारक डाक–टिकट	डॉ. विनय पटेल	107
23.	संगीत : एक आध्यात्मिक दृष्टिकोण	विजय सांब्याल	111
24.	मीराबाई की भक्ति साधना में संगीत की महत्ता	प्रो. (डा.) अनिता रानी	114
25.	A Review on Oriental Music in European Notation by A.M. Chinnaswami Mudaliar and Elements of Western Music by P. Sambamoorthy	M. Sharana Sree	118
26.	Guruvayur Chembai Sangeetolsavam : A glimpse on its history	Dr. Shyama K.R	122
27.	मुकेश : भारत के वैश्विक पार्श्व गायक	सितेन्द्र रंजन सिंह	125

vktknh d 75 lky vkj fgUnLrkuh lxhr

M,- ed'k xx

शास्त्रीय संगीत में बदलाव बहुत धीरे–धीरे आता है। दूसरी कलाएँ जहाँ अपने जमाने को जल्दी पकड़ती हैं, वहीं रागदारी संगीत अपनी परंपरा से चिपके रहने में गर्व महसूस करता है। समाज के प्रति लंबे समय तक उदासीन बने रहना इस संगीत का ख़ास चरित्र है। पर, गए 75 साल में शास्त्रीय संगीत ने समाज की काफी कुछ परवाह करना सीख लिया है। यही वजह है कि हिन्दुस्तानी संगीत में देश की आजादी के बाद जितने परिवर्तन आए हैं, उतने कई शताब्दियों में भी देखने को नहीं मिलते।

वर्तमान शास्त्रीय संगीत मूलतः दरबारों में पनपा है। इसलिए सामंती प्रवृत्तियाँ उसकी रग–रग में समाई हैं। घंटों तक एक ही राग को गाते–बजाते रहना, उसके सुरों के साथ अलग–अलग तरीके से खेलते रहना, भीषण तैयारी से श्रोताओं को आतंकित कर देना, फिरत, छूट, गमक, सपाट व जबड़े आदि की तानों से अपने जबरदस्त रियाज की धाक जमाना, दूसरे घरानों के बरक्स अपने घराने को महान समझना, संगीत के गुरों को दूसरों से छिपाना, घराने की ख़ास तालीम अपने ख़ानदानियों को ही देना, इत्यादि कुछ ऐसी चीजें हैं जो हिन्दुस्तानी संगीत के सामंती चरित्र को आज भी प्रमाणित करती हैं।

स्वतंत्रता के बाद सबसे बड़ी बात यह हुई कि जो संगीत राजा–रईसों की चहारदीवारी से बाहर आने में दिक़्क़त महसूस कर रहा था, उसे मजबूरन जनता के बीच आना पड़ा क्योंकि सामंतों का भविष्य अंधकारमय हो गया था। पक्के गाने–बजाने को ज्यादातर उन आम रसिकों पर निर्भर होना पड़ा, जो शास्त्रीय संगीत के प्रेमी तो थे, पर जिन्हें इसकी तकनीकी बारीकियों की कोई पकड़ नहीं थी। आम श्रोता की यह बढ़ती दिलचस्पी ऐसा ऐतिहासिक मोड़ साबित हुई, जिसने शास्त्रीय संगीत की दुनिया बदल कर रख दी। जो संगीत पहले सिर्फ अपने शरीर को रगड़–रगड़ कर धोने, पोंछने, सजाने, सँवारने में सारी ताक़त लगा देता था, वह अपनी आत्मा को भी टटोलने लगा। आम श्रोता की लगातार बढ़ती भागीदारी ने शास्त्रीय संगीत को अपनी क्रॉनिक बीमारियों से मुक्त होने में भारी सहायता पहुँचाई । अब वह इने–गिने लोगों के मन–बहलाव या बौद्धिक अय्याशी का साधन–भर नहीं रह गया। वह उनके दिलों से बातें करने लगा।

शास्त्रीय संगीत के लोकतंत्रीकरण का यह आगाज बीसवीं सदी के शुरू में हो गया था। पं. विष्णुनारायण भातखंडे, पं. विष्णु दिगंबर पलुस्कर और उस्ताद अलाउद्दीन ख़ाँ ने शास्त्र और क्रिया पक्षों में जो काम किए, वे संगीत को आम लोगों तक पहुँचाने के लिए थे। इसी दौरान दरबारी मानसिकता वाले गायक–वादकों के बीच किराना घराने के उस्ताद वहीद ख़ाँ और उस्ताद अब्दुल करीम ख़ाँ ऐसे दो गायक पैदा हो गए, जिन्होंने दिल को छूने वाली उस गम्भीर गायन शैली की बुनियाद रख दी, जो भावी शास्त्रीय संगीत की रीढ़ बन गई। माइक्रोफोन आने वाला था। उसके आते ही हर घराने का स्वर–लगाव बदल गया। आज किसी घराने का गायक उस दमदार आवाज में नहीं गाता जिस आवाज का इस्तेमाल 100 साल पहले उसके पुरखे करते थे। लेकिन किराने घराने का स्वर–लगाव शुरू से ही माइक के अनुकूल था। यही वजह है हर परम्परा पर उसका असर पड़ा। यह सब सदी के पूर्वार्द्ध में इसलिए हो रहा था, क्योंकि पूरा देश अंग्रेजों के ख़िलाफ स्वतंत्रता के महान आंदोलन में कूद पड़ा था। राजे–रजवाड़े दरक गए थे। आम आदमी महत्त्वपूर्ण हो उठा था।

शास्त्रीय संगीत में जनतंत्रीकरण की यह प्रक्रिया आजादी के बाद यौवन पर पहुँच गई। पंडित ओंकारनाथ ठाकुर ने रस–हीन संगीत को संगीत मानने से इनकार कर दिया। स्वरों में क्या और कैसे वो बात पैदा हो कि सुनने वालों के हृदय में हलचल मच जाए। इस पर उन्होंने गंभीर चिंतन किया और गायकों के लिए एक ऐसा समझ–भरा रास्ता तैयार कर दिया जिस पर चलकर पं. कुमार गंधर्व, पं. भीमसेन जोशी, पं. जसराज, विदुषी किशोरी अमोनकर जैसे रससिद्ध कलाकार हमारे सामने आए। उन्होंने आवाज की वॉल्यूम के संकुचन और फैलाव की एक ऐसी माइक्रोफोनी तकनीक पैदा कर दी जिससे हिंदुस्तानी संगीत तो सम्पन्न हुआ ही, आगे चलकर फिल्म संगीत

अवकाशप्राप्त उपाचार्य, हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
लेखक, चिन्तक, पूर्व सम्पादक (संगीत, मासिक पत्रिका, हाथरस); संस्थापक महानिदेशक (संगीत संकल्प)

और सुगम संगीत पर भी उसका गहरा असर पड़ा। ताज्जुब तब होता है जब ऐसे महान कलाकार को हम सेक्यूलरिजम से हटते हुए देखते हैं। एक ख़ास समुदाय के गायक–वादको के प्रति उनके मन में कुछ दूरी आ गई थी। माना जाता है मंच पर बैठने से पहले वह गंगाजल छिड़कवाते थे। फिर अपना कालीन बिछाते थे। तब गाते थे।

उधर, उस्ताद अमीर ख़ाँ ने गायकी में एक नया आयाम जोड़ दिया। मेरुखंडी ढंग से राग की पैड़ी–दर–पैड़ी बढ़त की उन्होंने ऐसी मिसाल कायम की कि न सिर्फ गायक, बल्कि वादकों तक पर इसका गहरा असर पड़ने लगा। राग–विस्तार के नए रास्ते खुल गए। सरगम का इस्तेमाल तो गायन में पहले भी होता था। पर, मेरुखंडी ढंग से सरगम को गायकी का चमत्कारी हिस्सा बना लेना यह अमीर खाँ से शुरू हुआ। विलंबित की लय को उन्होंने इतना गाड़ दिया कि कई घराने अपनी लय भूल गए। कमोबेश वे अमीरखघनी लय में गायकी पेश करने लगे। अमीर खाँ ने लड़–झगड़ की पुरानी गायकी को खत्म कर चिन्तनशील सुर–लगाव से उसे भावपूर्ण और गंभीर बनाया।

अमीर ख़ाँ की उस्तादी का सबसे विलक्षण नमूना आकाशवाणी के एक कार्यक्रम में सामने आया। यह घटना यहाँ आचार्य बृहस्पति के हवाले से बताई जा रही है। 1971–72 की बात है। तब रेडियो से नेशनल प्रोग्राम का प्रसारण लाइव होता था। घोषणा हुई राग बिलासखानी की। खाँ साहब धीरे–धीरे राग की बढ़त करते हुए जब पंचम के आस–पास पहुँचे तो यक़ायक़ तीव्र मध्यम का प्रयोग कर बैठे। बिलासखानी में यह सुर दूर–दूर तक नहीं घुस सकता। लेकिन अमीर खाँ की उस्तादी देखिए। एक बार तीव्र मध्यम लग गया तो लग गया। उसका निर्वाह फिर उन्होंने पूरी परफॉर्मेस में कुशलता से किया। आलाप, बोल–आलाप, तान, बोल–तान सभी में। यह बड़े–बड़े उस्तादों के बस का नहीं। शास्त्रीय संगीत का मतलब ही यह है कि एक बार कलाकार राग का जो रूप स्थिर कर ले, अन्त तक फिर उसी को निबाहे। अमीर खाँ उस्तादों के उस्ताद थे।

पंडित रवि शंकर का उदय पिछली सदी के उत्तरार्द्ध की एक और बड़ी घटना है। भारतीय संगीत को संसार के नक्शे पर सम्मानजनक स्थान दिलाने में उनके प्रयासों का कोई जोड़ नहीं। भारतीय समाज में कुलीन घरों के बच्चों का संगीत सीखना पहले अच्छा नहीं माना जाता था। यह रवि शंकर की लोकप्रियता और ग्लैमर था, जिसने समाज का नजरिया बदलकर रख दिया। बच्चों को संगीत की तालीम दिलवाना अब फख्र की बात समझा जाने लगा। शास्त्रीय संगीत का मंच पहले बड़ी अराजकता का शिकार था। लोग आ रहे हैं, जा रहे हैं, बातें कर रहे हैं, चाय–कॉफी पी रहे हैं, मूँगफली चबा रहे हैं। रवि शंकर ने इस सब को रोका। विदेश से भी उन्होंने बहुत कुछ लिया। मंच पर बैठने का सलीक़ा, उचित रोशनी, अच्छा कारपेट, अच्छा साउंड–सिस्टम– इन सब पर उन्होंने ध्यान दिया, ताकि लोग न सिर्फ सुनें बल्कि देखकर नेत्रों का सुख भी लें।

रवि शंकर ने सितार–वादन की शैली में समग्रता लाने की जबरदस्त कोशिश की। उन्होंने अलग–अलग शैलियों की तमाम खूबियों को एक जगह इकट्ठा कर दिया। इससे हुआ यह कि ध्रुपद के आलाप का, जोड़ का, ख़याल का, ठुमरी का, तैयारी का, लयकारी का और तिहाइयों का आनंद एक साथ और एक जगह मिलने लगा। राग नटभैरव और राग बैरागी का जो स्वरूप आज हमें मिलता है वह रवि शंकर की देन है। अपने बनाए रागों की अपने ही जीवन–काल में ऐसी लोकप्रियता देखने वाले वह अकेले लीजेंड थे।

आजादी के बाद सितार में दूसरी क्रांति उस्ताद विलायत ख़ाँ के रूप में आईं। उनका सितार बिलकुल अलग राह पर चल पड़ा। वह गाने लगा था। कोमलता, बारीकी और रूमानियत से उसने बिल्कुल नया संसार रच डाला। रवि शंकर की लय–ताल प्रधानता के मुक़ाबले विलायत खाँ ने लंबी–लंबी मींड़ों के जरिए दिल को मथ डालने वाली संवेदनशील हरकतों से सितार को संपन्न कर दिया। इसे वह गायकी अंग कहते थे– ख़याल गायकी का अंग। इसका नशा हमारी युवा पीढ़ी पर आज पहले से भी ज्यादा बढ़ता जा रहा है।

सितार की तीसरी क्रांति के मसीहा थे स्वर्गीय पंडित निखिल बैनर्जी। वह उस्ताद अली अक़बर खाँ के शिष्य थे। निखिल बैनर्जी ने रवि शंकर की रागदारी और लय–ताल की निपुणता में विलायतख़ानी बाज की मार्मिकता का ऐसा जटिल किन्तु नपा–तुला मिश्रण कर दिया कि सितार एक सम्पूर्ण साज बन गया। आज रवि शंकर या विलायत खाँ के आलोचक तो आपको कई मिल जाएँगे। पर, निखिल बैनर्जी के सितार का आलोचक मुश्क़िल ही कोई मिलेगा।

संगीत को शास्त्रीयता की अतल गहराइयों में

पहुँचाने का जैसा प्रयास आजादी के बाद सरोद वादक उस्ताद अली अक़बर ख़ाँ ने किया उसका कोई मुक़ाबला नहीं। क्या सुर, क्या ताल, क्या लय, क्या लयकारी, क्या राग, क्या सर्जनात्मकता और क्या अदायगी –सबकुछ अव्वल दरजे का। वह सिर्फ वादक नहीं हैं, संगीत के गहरे चिंतक भी हैं। हमारे समाज के अंदरूनी दुःखद और सुखद पहलू उनके सरोद की हर जरब में अभिव्यक्ति पाते हैं। अली अकबर को सुर की भीषण पकड़ है। राग की रहस्यमयी परतों को वह ऐसे उघाड़ते चलते हैं जैसे बच्चों का खेल। वह राग के कोने–कोने में घूम आते हैं और उसके मर्म–स्थलों को खोज–खोज कर लाते हैं। सुर के चारों ओर के श्रुति–वलय को अली अकबर इस गहराई से उभारते हैं मानो सुर कोई हँसता–रोता, उछलता–तड़पता व्यक्तित्व हो। अली अकबर ने अपनी शैली में वीणा और सितार की वादन–तकनीकों के साथ–साथ गायकी और गतकारी, इन दोनों अंगों का कलात्मक समावेश किया है। उनका सरोद वादन व्यापक सौंदर्य बोध का परिचायक है। राग के सवाल–जवाब वाले स्वर–खंडों, जवा के कोमल–कठिन प्रहारों, लय की परस्पर विपरीत स्थितियों, मीड़ तथा खड़े सुरों के घुले–मिले प्रयोगों से वह द्वंद्व–मूलक सौन्दर्य का अद्भुत सृजन करते हैं। देश में हुई उपेक्षा के कारण ऐसे कलाकार का विदेश जा बसना आजादी के बाद की ऐसी घटना है, जो अफसोस पैदा करती है।

बाद की पीढ़ी में अली अक़बर ख़ाँ की कुछ क्षतिपूर्ति उस्ताद अमजद अली खाँ के सरोद से हुई। अमजद अली रवि शंकर के बाद शास्त्रीय संगीत के दूसरे 'शो–मैन" के रूप में उभरे। पर सुरीलेपन, तैयारी और अपने भाव–केन्द्रित सरोद–वादन की वजह से संगीत की दुनिया में उन्होंने जो सम्मान पाया, वह उनकी पीढ़ी के शायद ही किसी दूसरे कलाकार को मिला हो।

कुछ पुराने वाद्य आजादी के बाद धीरे–धीरे लुप्त होते चले गए। सुरबहार और रुद्रवीणा के वादक आज ख़त्म होते जा रहे हैं। सारंगी के वादक अभी हैं जरूर, पर उनकी अब वैसी माँग नहीं रह गई। पखावज जैसा ताल वाद्य भी इन दिनों गर्दिश में है।

स्वतंत्रता के बाद नए वाद्यों में संतूर ने भारी इज्जत कमाई है। एक ऐसा वाद्य जिसमें न मींड़ की गुंजाइश है, न गमक की, फिर भी हिन्दुस्तानी संगीत में सिर चढ़कर बोले तो इसे अजूबा ही कहा जाएगा। पंडित शिव कुमार शर्मा के अकेले प्रयासों ने यह ऐतिहासिक चमत्कार कर दिखाया है। उनके अंतहीन संघर्ष का नतीजा है कि नई पीढ़ी में अच्छा संतूर बजाने वाले अब कई वादक सामने आ चुके हैं। पन्नालाल घोष और हरि प्रसाद चौरसिया की बासुरी और बिस्मिल्लाह ख़ाँ की शहनाई ने भी आजाद भारत में खूब धूम मचाई है। पहले शास्त्रीय संगीत में इन वाद्यों का कोई ख़ास महत्व नहीं था। उधर, संगीत वाद्य के रूप में हारमोनियम ने सारंगी को जबरदस्त शिकस्त दे दी है। अब ज्यादातर गायक सारंगी वादकों की अपनी कमजोरियों की वजह से हारमोनियम की संगत कहीं ज्यादा पसंद करते हैं। गिटार ने भी खूब तरक्की की है। स्वतंत्रता के बाद इस वाद्य से हिंदुस्तानी संगीत की दुनिया कुछ और समृद्ध हुई है। सैक्सोफोन और क्लेरिनेट पर भी आजकल शास्त्रीय संगीत सुनने को मिल जाता है।

सामाजिक नजरिए से आजादी के बाद सबसे बड़ा इंक़लाब संगीत में स्त्री की लगातार बढ़ती भागीदारी के रूप में सामने आया। पहले प्रायः वे स्त्रियाँ गाती–बजाती थीं जिन्हें समाज में सम्मान की दृष्टि से कम ही देखा जाता था। गाना–बजाना तब ओछा काम जो था। भारतीय आजादी ने स्त्रियों के लिए चौतरफा दरवाजे खोल दिए। अब मध्यवर्ग के उन घरों की लड़कियाँ भी हिंदुस्तानी संगीत में अपनी प्रतिभा का लोहा मनवाने लगीं जिनके परिवार में कभी कोई 'सा रे गा मा" तक नहीं जानता था। कई स्त्रियों ने तो सरोद, गिटार, वीणा, सितार, वायलिन, तबला, हारमोनियम जैसे वाद्यों पर अधिकार प्रदर्शित किया है। आजादी न आई होती तो हमारी आधी आबादी हिंदुस्तानी संगीत से वंचित ही रह जाती। आज ऐसी अनेक स्त्रियाँ गुरुरूप में स्थापित हैं जो कई शिष्याओं को गायन की तालीम दे रही हैं। पुरुष और स्त्री के कंठ और पिच अलग–अलग होते हैं। स्त्री–गुरु से जुड़े होने के कारण अब लड़कियों के लिए गाना सीखना अपेक्षाकृत सहज हो गया है।

किताबों आदि के पब्लिकेशन का असली विकास आजादी के बाद हुआ। 1932 में हालॉकि हाथरस (उत्तर प्रदेश) के प्रभूलाल गर्ग उर्फ काका हाथरसी ने "गर्ग एंड कम्पनी' नाम से एक प्रकाशन संस्था खोल दी थी। इसके अंतर्गत 'म्यूजिक मास्टर" नाम की किताब भी छापी थी जो खूब लोकप्रिय हुई। लेकिन जनवरी 1935 से उन्होंने 'संगीत' नामक मासिक पत्रिका का नियमित प्रकाशन शुरू कर दिया। साथ ही, गर्ग एंड कम्पनी का नाम बदल कर

उन्होंने 'संगीत कार्यालय, हाथरस" कर दिया। आज 'संगीत'" पत्रिका 90वें वर्ष में पहुँच गई है और अब भी हर महीने प्रकाशित हो रही है। आजादी के इन 75 बरसों में संगीत कार्यालय, हाथरस ने हिंदुस्तानी संगीत की जो सेवा की है वह बेमिसाल है। 'संगीत' पत्रिका ही नहीं, संगीत पर केंद्रित अब तक लगभग 200 ग्रंथों का प्रकाशन भी किया है। 'संगीत' पत्रिका के सम्पादकों में विश्वंभर नाथ भट्ट, जयदेव पत्की से लेकर सितार वादक शशि मोहन भट्ट तक शामिल रहे। स्वतंत्रता के बाद पचास के दशक के शुरू में लक्ष्मीनारायण गर्ग को सम्पादन का काम सौंपा गया। साठ के दशक में बालकृष्ण गर्ग भी सम्पादक के रूप में जोड़ लिए गए। फिर, 1974 में मुकेश गर्ग (इस लेख का लेखक) को इस पत्रिका के सम्पादन की जिम्मेदारी मिली। लगातार 36 साल तक उनके सम्पादन में 'संगीत' पत्रिका नई चुनौतियों का सामना करते हुए आगे बढ़ी।

'संगीत' पत्रिका ने पचास–साठ के दशकों में बहुमूल्य शोध–सामग्री छापी। तब संगीत के लेखक किसी डिग्री आदि के लिए नहीं लिखते थे। पुरानी परम्पराओं को नए सिरे से समझने–समझाने के लिए लिखते थे। संगीत–चिंतन उनके जीवन का लक्ष्य बन गया था। वे कई भाषाओं के जानकार होते थे। इन लेखकों में ठाकुर जयदेव सिंह, आचार्य कैलाश चंद्र देव "बृहस्पति" जैसे मेधावी विद्वान शामिल रहे। 1974 में मुकेश गर्ग द्वारा 'संगीत' पत्रिका का सम्पादन सँभालने के बाद नए सवालों से लबरेज विचारोत्तेजक सम्पादकीय लेखों का सिलसिला शुरू हुआ। जैसा बताया जा चुका है, यह लगभग 35–36 साल तक जरूरत के मुताबिक चलता रहा। इसी दौरान अखिल भारतीय गांधर्व महाविद्यालय मंडल की पत्रिका 'संगीत कला विहार" का भी प्रकाशन आरम्भ हुआ। हिंदी, मराठी, इंगलिश आदि भाषाओं में लेखों का प्रकाशन इस पत्रिका की विशेषता है।

संगीत अदृश्य कला है। अन्य कोई कला ऐसी नहीं जिसे देखा न जा सकता हो। चित्र, मूर्ति, वास्तु आदि कलाओं को देख कर ही हम उनका आनंद लेते हैं। यहाँ तक कि भाषा पर निर्भर रहने वाले साहित्य में भी हम दृश्यों और बिंबों को देखते हैं। रामचरितमानस पढ़ कर हम पूरी कहानी आँखों के सामने घटित होता हुआ देख पाते हैं। संगीत एकमात्र ऐसी कला है जो कानों के जरिए दिमाग तक जाती है। सामने कुछ नहीं होता। होता है तो सिर्फ कलाकार। अब किसी गायक या वादक के हाव–भाव देख कर तो नहीं समझा जा सकता कि वह क्या और कैसा गा–बजा रहा है। संगीत की इस सीमा का नुकसान संगीत की आलोचना और समीक्षा के विकास को उठाना पड़ा। जो अमूर्त है, भाषा में उसकी व्याख्या कैसे हो, यह सवाल हमेशा मुंह बाए खड़ा रहा। इसके लिए आलोचक को संगीत के अलावा भाषा पर भी अधिकार हासिल करना पड़ता है। उसके बाद अमूर्त को भाषा में मूर्त बनाने की कोशिश करनी पड़ती है। इस कठिनाई की वजह से संगीत में आलोचना का वैसा विकास न हो सका, जैसा अन्य कलाओं में।

अलबत्ता, मुद्रण की सुविधा आ जाने के कारण आजादी के बाद बहुत से लेखकों ने आलोचना या समीक्षा लिखने की कोशिश की। हिंदी, इंगलिश ही नहीं, अन्य क्षेत्रीय भाषाओं में भी लिखा गया। आरम्भिक आलोचना का चरित्र प्रायः घरानेदारी की मानसिकता से आक्रांत है। आलोचक जिस घराने या परम्परा का शागिर्द या प्रशंसक है उसी के नजरिए से वह सभी कलाकारों को देखने की कोशिश करता है। कुछ बाद में अखबारी समीक्षा का युग आया। लेकिन लिखा उसने वही जो गायक–वादकों के बारे में उसकी अपनी धारणा बनी हुई है। अपनी पसंद–नापसंद से बाहर निकल, कलाकार की कला को आँकने का न तो साहस उसमें मिलता है और न हि योग्यता। आज की अखबारी समीक्षा तो और भी बुरे हाल में है। अब सिर्फ लेखक रह गए हैं। जिसने जो कहा उसी को ज्यों–का–त्यों लिख देते हैं और समझते हैं समीक्षा हो गई। ये तथाकथित समीक्षक संगीत के जरा भी मर्मज्ञ नहीं होते। इसीलिए उनके लिखे में प्रशंसा के अलावा कुछ नहीं मिलता। वह आलोचक क्या, जो कला और कलाकार की यथासंभव तटस्थता से व्याख्या न कर सके और सवाल न उठा सके।

आजादी के आस–पास विश्वविद्यालयों में संगीत की शिक्षा आरम्भ हुई । यह बड़ी बात थी। लेकिन इन 75 बरसों में इसे ढेरों दिक्क़तों का सामना करना पड़ा है। ताज्जुब यह कि उनका कोई समाधान निकालने की गम्भीर कोशिश हुई हो इसके सबूत नहीं मिलते। स्नातक स्तर पर सा रे गा मा" सिखाना पड़े, यह तो विश्वविद्यालय की तौहीन है। हास्यास्पद भी। इस दुर्दशा की असली वजह है प्राइमरी शिक्षा में संगीत को अनिवार्य विषय के रूप में पढ़ाए जाने की व्यावहारिक व्यवस्था का न होना।

घरानेदारी हिंदुस्तानी संगीत की निजी विशेषता रही है। ऐसे लोगों की आज भी कमी नहीं, जो घराने के नाम पर इठलाते नहीं अघाते। पर सच्चाई यह है कि

आजादी के बाद रेडियो, टीवी, ग्रामोफोन, कैसेट और वीडियो की बढ़ती लोकप्रियता ने घरानों की चहारदीवारियों को पूरी तरह ध्वस्त कर दिया। आज घराने के नाम पर कोई अपने महान होने का दावा चाहे जितना कर ले, पर असलियत यह है कि आज का न तो कोई लोकप्रिय गायक अपने घराने की पुरानी गायकी गा रहा है, और न कोई वादक अपने घराने के बाज को दुहरा रहा है। सभी गायक–वादकों के आँख–कान अब चारों तरफ देख–सुन रहे हैं। राजन मिश्र और मणि प्रसाद जैसे घरानेदार बड़े गर्व से मानते रहे कि आज इतनी खूबसूरती चारों ओर फैली है कि जहाँ से जो अच्छा मिले, ग्रहण कर लेना चाहिए। रजवाड़ों वाले घरानों में क्या यह मुमकिन था? वहाँ दूसरे का कुछ भी ग्रहण कर लेने से अपने घराने को बट्टा लगता था। यही वजह है कि मौजूदा संगीत क्षेत्रीयता की तमाम सीमाओं को तोड़ राष्ट्रीयता की ओर लगातार कदम बढ़ाता जा रहा है। जम्हूरियत की यह बड़ी जीत है।

माइक्रोफोन की कुछ चर्चा ऊपर आ चुकी है। यही वह यंत्र है जिसने पूरे हिंदुस्तानी संगीत को कब्जे में ले लिया है। इसकी वजह से गायन के हर घराने की आवाज और उसे लगाने का ढंग बदल गया है। ध्रुपद अब दमदार आवाज का उपक्रम नहीं रह गया। इसका अब वही घराना लोकप्रिय है जिसने अपनी गायकी को माइक्रोफोन के अनुकूल ढाल लिया है। पुरानी शुद्धता की हामी ध्रुपद शैलियाँ अब लगातार पार्श्व में चलती चली जा रही हैं। रेडियो का आगमन इसी की वजह से सम्भव हो सका। स्वतंत्र भारत में इस रेडियो ने रागदारी संगीत के स्वरूप को बदलने में गहरी भूमिका निभाई है। स्टूडियो में बैठ कर कलाकार अब मनचाहे ढंग से गाना–बजाना नहीं कर सकता। समय की पाबंदी इसकी पहली शर्त है। इस बंधन से गाने–बजाने के ढर्रे में बदलाव आया। तय समय में कला को बाँधने की विवशता ने आलाप, बंदिश, बोल–आलाप, बोलतान, लयकारी, तिहाई आदि के प्रति कलाकार का नजरिया बदल दिया। इन्हें कितना–कितना और कब पेश करना है, इस पर वह सोचने को मजबूर हुआ। इतना ही नहीं, यह माइक्रोफोन ही है जिसने उन वाद्यों को विकसित होने की परिस्थिति मुहैया कराई जो सोलो वाद्य के रूप में पहले कभी आगे नहीं बढ़ पाए थे। सितार, सरोद, संतूर जैसे वाद्यों में मुलायम हरकतों का विकास इस माइक की वजह से हो सका। ये तथा इन जैसे सारंगी, बॉसुरी, मेंडोलिन, गिटार, वायलिन आदि वाद्य माइक्रोफोन के सदा एहसानमंद रहेंगे।

रागों के क्षेत्र में भी आजादी के बाद कई सर्जनात्मक काम सामने आए। नटभैरव, बैरागी, जन–संबोधिनी जैसे नए रागों की लोकप्रियता बढ़ी। दीपावली, लाजवंती, चंद्रनंदन, लगनगांधार और मालावती जैसे कुछ नए मोहक राग उस्तादों से सुनने को मिले। छाया–तिलक, हिंडोल–बहार, कौंसी–भैरव जैसे अनेक मिश्र राग भी अस्तित्व में आए। कर्नाटिक संगीत के कई रागों का हिंदुस्तानी संगीत में प्रयोग होने लगा। हंसध्वनि, आभोगी, कीरवानी और चारुकेशी इनमें सबसे ज्यादा लोकप्रिय हुए। उधर, कर्नाटिक संगीत ने भी उत्तर भारत के दरबारी कान्हड़ा और परज जैसे रागों को अपना लिया। राग–रूप के प्रति भी नजरिए में उदारता आई है और कट्टरता कम हुई है। अब एक ही राग को अलग–अलग तरह से सुनने का धैर्य विकसित हो चुका है।

और अब, एक दिलचस्प किंतु चकित करने वाला किस्सा। क़िस्सा है ठुमरी का। आजादी के आस–पास कोठों से जुड़ी अनेक श्रेष्ठ गायिकाएँ शास्त्रीय संगीत के मंच पर आ गईं। अपनी नायाब ठुमरी–गायकी से उन्होंने भरपूर सम्मान और नाम कमाया। अन्य स्त्रियाँ ठुमरी नहीं गाती थीं। लेकिन आजादी आने के साथ मध्य वर्ग की स्त्रियों में ठुमरी के प्रति गहरा आकर्षण पैदा होने लगा। ठुमरी की रस–भरी गायकी का वर्चस्व आजाद भारत में लगभग तीस वर्ष तक खूब रहा। बड़े गुलाम अली ख़ाँ ने पंजाब अंग की हरकतों से ठुमरी में एक अलग ही रंगीनी भर दी। उस वक्त ठुमरी की खूब धूम थी। इक्का–दुक्का को छोड़ ऐसा कोई कलाकार न बचा, जो ख्याल गाने के बाद अपने कार्यक्रम का समापन ठुमरी से न करता हो। वादकों तक ने अंत में ठुमरी–धुन बजाना शुरु कर दिया। लेकिन कुछ ऐसा हुआ कि बात धीरे–धीरे उलट गई। ख्याल के कलाकार माइक की सुविधा मिल जाने से अब उन हरकतों और मुर्कियों का प्रयोग ख्याल को ख़ूबसूरत बनाने में करने लगे। (जबकि पुराने ख़्यालिए इन मुर्कियों के सख़्त ख़िलाफ थे।) ख्याल में ही जब कण, खट्का, मुर्की का आनंद मिलने लगा तो ठुमरी की जरूरत ही कहाँ रह गई। साम्प्रदायिकता ने भी ठुमरी को बहुत मारा है। पंडितों ने ख्याल के अंत में ठुमरी की जगह भजन गाना शुरू कर दिया। गोया, कोठों की गायकी अपनाने से उनकी इज्जत चली जाएगी।

भारत सरकार की दिलचस्पी के कारण स्वतंत्रता के बाद प्रदर्शनकारी कलाओं को प्रश्रय देने के लिए

केन्द्रीय संगीत नाटक अकादेमी की स्थापना हुई । राज्यों में भी अन्य अनेक अकादमियाँ आरंभ हो गईं। व्यक्तिगत स्तर पर भी जगह–जगह संगीत–विद्यालय और संगीतोद्धारक मंडलों का गठन हुआ। आज पूरे देश में संगीत–सेवी संस्थाओं की एक बड़ी तादाद है। इनमें कुछ संस्थाएँ कार्यक्रम और समारोह आयोजित करती हैं, कुछ संगीत की परीक्षाएँ चलाती हैं और कुछ पाठ्यक्रम पर आधारित शिक्षा देती हैं। पिछले तीन–चार दशकों से दो–एक ऐसी संस्थाएँ भी सामने आई हैं, जो गुरु–शिष्य–परंपरा की पद्धति से चुने हुए विद्यार्थियों को उस्तादों से तालीम दिलवा रही हैं। कोलकाता स्थित आइटीसी की 'संगीत रिसर्च अकादमी" ऐसी ही एक संस्था है। युवाओं में शास्त्रीय संगीत की अभिरुचि जगाने के लिए 'स्पिक मैके" की कोशिशें भी लगातार जारी हैं। उधर, गत तीन दशकों से अनछुए और अनपहचाने सैकड़ों संगीत–साधकों को मंच मुहैया कराने और संगीत–जगत में उन्हें उचित प्रतिष्ठा दिलवाने के लिए 'संगीत संकल्प" नामक अखिल भारतीय संगठन के सर्जनात्मक प्रयास अब एक देशव्यापी आंदोलन का रूप ले चुके हैं।

स्वतंत्रता के बाद हिंदुस्तानी संगीत में अनेक नई प्रवृत्तियों ने जन्म लिया। अपने अस्तित्व को संगीत में डुबो देने वाली आत्मकेन्द्रित गायकी का विकास, कंठ–माधुर्य और स्वर–माधुर्य पर बल, स्वर–लगाव में संवेदनशीलता पर बराबर निगाह, रागों के समय–सिद्धांत का कमजोर पड़ते जाना, तानबाजी का संतुलित प्रयोग और उससे सौन्दर्य में वृद्धि, गायकी में सरगम की तानों का सर्जनात्मक प्रयोग, बड़े ख्याल की लय का अति–विलंबित हो जाना, सितार–सरोद–वादन में तबले के साथ लड़ंत–भिड़ंत की अखाड़ेबाज परंपरा की जगह सवाल–जवाब की कलात्मक और आकर्षक परंपरा की शुरुआत, मंद्र सप्तक के काम में बढ़ोत्तरी और गहराई– ये कुछ ऐसे तत्त्व उभरे हैं जिन्होंने भारतीय संगीत के क्षितिज का आश्चर्यजनक रूप से विस्तार कर दिया है।

बेशक़ आजादी के इन 75 वर्षों में शास्त्रीय संगीत ने गजब की उपलब्धियाँ हासिल की हैं। रजवाड़ों से लेकर लोकतंत्र तक और बुद्धि–प्रधानता से लेकर रस–प्रधानता तक की महत्वपूर्ण यात्रा उसने तय कर ली है। फिर भी, उसका भविष्य अभी बहुत निश्चित नजर नहीं आता। युवा पीढ़ी में लबालब प्रतिभा के बावजूद गला–काट प्रतियोगिता, व्यापारिकता और ग्लैमर के प्रकोप ने चारों तरफ अन्याय और अराजकता का माहौल पैदा कर दिया है। धन के मामले में नामी कलाकारों की बेपनाह बढ़ती भूख ने उन्हें एकाधिकारवादी कंपनियों का दास बना दिया है। उनकी बहुत–सी ऊर्जा बाजार में अपनी स्थिति को लगातार ऊपर बनाए रखने में खर्च हो जाती है। उभरते कलाकारों में भी बाजार को हथियाने की मानो होड़ लगी है। लूट–खसोट के इस माहौल में उन कलाकारों की तूती बोलती है, जो कला के साथ–साथ दुनियादारी की तिकड़मों में भी माहिर हैं। आजादी के 75 वर्षों में संगीत के अनगिनत सच्चे साधकों का इस तरह लगातार हाशिए पर पहुँचते जाना किसी भी समाज के लिए बेचैनी और चिंता की बात होनी चाहिए।

संगीत की दुनिया कुछ दिन पहले तक ऐसी न थी जैसी अब होती जा रही है। तीन–चार साल से कोविड–19 महामारी के संकट ने सभागारों में होने वाले आयोजनों पर गहरी चोट की है। अब प्रत्यक्ष गोष्ठियाँ या तो होती नहीं, होती भी हैं तो उनमें भाग लेने वाले श्रोता सहमे हुए आते हैं। इससे उन कलाकारों की भारी क्षति हुई है, जिनकी आजीविका ही गाना–बजाना है।

लेकिन, तमाम तकलीफों के बावजूद कोविड–19 ने संगीत की दुनिया को जो तोहफा सौंपा है उसे इतिहास कभी नजरअंदाज नहीं कर सकेगा। यह तोहफा है बोलने की क्षमता का विकास। संगीत की व्याख्या और विश्लेषण पहले कहाँ देखने मिलते थे। इने–गिने लेखकों की बात अलग है। लेकिन उनकी भाषा बोलचाल की न होकर साहित्यिक और कठिन होती थी। कोरोना ने दो काम किए। एक, गाने–बजाने से ज्यादा संगीत पर बातचीत को प्रोत्साहित किया। दूसरा, पूरे देश और दुनिया के संगीतज्ञों को संगीत–सम्बन्धी–चर्चा सुनने को मजबूर किया। धीरे–धीरे इन चर्चाओं में आम लोगों की दिलचस्पी बढ़ने लगी है। संगीत में जिन मुद्दों की हमेशा उपेक्षा की जाती थी अब वे उभरने लगे हैं। अवैज्ञानिक मान्यताओं पर उठाए गए सवालों को संगीत के शोधार्थी और शिक्षक अब गौर से सुनने लगे हैं। बड़ी बात यह कि उनके प्रति सकारात्मक रुख़ अपनाने लगे हैं। हिन्दुस्तानी संगीत की दुनिया, सामंती अकड़ छोड़ अब नरम पड़ने लगी है। संगीत चिंतन में उदारता का माहौल निर्मित हुआ है। कलाकारों, गुरुओं और विद्यार्थियों में संगीत के बारे में सोचने, सवाल उठाने और कला के अन्दर घुस कर सहज ढंग से कुछ कहने की हिम्मत और योग्यता बढ़ी है। आजादी के 75 वर्षों की यह अद्वितीय उपलब्धि है।

lxhr d {k= e xqtjkr dk ;kxnku

ik- vpuk inhi dekj nhf{kr *

गुजरात में प्राचीन वैदिक संगीत की साम–गायन की परम्परा आज भी जीवित है। गुजरात में सामगायन की कौथुमी शाखा प्रचलित है तथा इस शाखा के अधिकतम साम–गायक गुजरात में हैं। गुजरात में श्रीरणछोड़राय के पवित्र तीर्थ स्थान डाकोर में द्वारिका के शंकराचार्य द्वारा स्थापित सामवेद की एक संगीत शाला है जिसमें छात्र सामगायन आज भी सीखते हैं।

गुजरात की संगीत–संस्कृति के आराध्य देव भगवान श्रीकृष्ण माने जाते हैं। इस प्रांत में आर्य संस्कृति के प्रसार में यादव–कुल का महान योगदान है। श्रीकृष्ण के नेतृत्व में यादव–कुल के बहुत–से व्यक्ति द्वारिका में बस गए। भगवान श्री कृष्ण महान राजपुरुष के उपरान्त एक संगीतज्ञ एवं नृत्यकार भी थे। वे अद्भुत बाँसुरी वादक थे तथा गोकुल में गोप–कन्याओं के साथ रास नृत्य करते थे। ये सब कलाएँ उनके साथ गुजरात में आ गईं तथा लोकप्रिय हो गईं। आज भी गुजरात प्रांत के रास और गरबा अति प्रसिद्ध हैं। श्रीकृष्ण के मुरली की परम्परा गुजरात की गोप कौम ने यहाँ के लोक संगीत में जीवित रखी है।

15 वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के संगीतज्ञों में प्रथम नाम जूनागढ़ के भक्त कवि नर सिंह मेहता का आता है। आप गुजरात के आदि कवि ही नहीं, बल्कि एक समर्थ संगीतज्ञ भी थे। आपने अनेक भजन अनेक रागों में तैयार किए थे। आपका 'वैष्णव जन तो तेने कहिए' भजन 'गाँधी बाबू' को अति प्रिय था तथा गाँधी–जयन्ती पर यह भजन पूरे भारत में गाया जाता है। सन् 1526 से 1537 तक गुजरात के सुल्तान बहादुर शाह का काल संगीत की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण रहा। इनके दरबार में नायक बक्शू तथा नायक बैजू, ये दो महान् संगीतकार थे। नायक बैजू जिन्हें हम बैजू बावरा के नाम से जानते हैं, वे गुजराती थे, स्वामी हरिदास जी के शिष्य थे। जब अकबर के पिता हुमायूँ ने गुजरात पर आक्रमण किया तथा अपनी सेना को नरसंहार का आदेश दिया तब बैजू ने अपना दिव्य संगीत सुनाकर हुमायूँ को प्रसन्न किया। हुमायूँ ने बैजू से कुछ भी मांगने की बात कही तो बैजू ने सविनय नरसंहार रोकने की अपनी मांग रखी तथा हुमायूँ ने नरसंहार रोक दिया था।

इसके पश्चात् अकबर के काल में गायक तानसेन को दीपक राग गाने से पूरे शरीर में जो जलन हुई थी, वडनगर की दो नागर कन्याएँ ताना और रीरी ने मेघ–मल्हार गाकर तानसेन की जलन शान्त की थी। आज भी वडनगर में ताना–रीरी की दो समाधि हैं तथा वहाँ प्रति वर्ष संगीत का कार्यक्रम आयोजित किया जाता है। तानसेन ने ताना–रीरी की स्मृति में तराना की रचना की थी।

गुजरात के देशी रियासतों में बड़ौदा तथा भावनगर में संगीत को अच्छा प्रश्रय मिला था। बड़ौदा के महाराजा सयाजीराव संगीत के प्रेमी थे। सन् 1776 में बड़ौदा में प्रो. मौलाबक्श के नेतृत्व में एक संगीतशाला आरम्भ हुई। प्रो. मौलाबक्श बहुत अच्छे वीणावादक थे तथा अपने संगीत में नोटेशन पद्धति प्रारम्भ की। बड़ौदा के राजगायक उस्ताद फैयाज खाँ शास्त्रीय संगीत के आगरा घराना के प्रमुख गायक थे। महाराजा सयाजी राव ने प्रति सप्ताह अपने गायक–वादक के वाद्य–वृन्द का जलसा सामान्य प्रजा–जन हेतु करवाया तथा इस प्रकार प्रजा की संगीत रस–वृत्ति का पोषण किया था।

भावनगर रियासत भी संगीत के लिए प्रसिद्ध था। वहाँ के पुराने के गायक श्री दलसुखराम ठाकोर ध्रुपद, धमार, टप्पा, होरी, ठुमरी आदि गायकी में प्रवीण थे। भावनगर के ही निवासी श्री डाह्यालाल शिवराम ने 'संगीत कलाधर' नामक ग्रंथ की रचना की थी। आधुनिक काल में भावनगर के स्व. यशवन्त राव पुरोहित एक प्रसिद्ध ख्याल गायक थे। इनके अलावा श्री बाबू लाल अंधारिया तथा श्री रसिक लाल अंधारिया भी भावनगर के ही गायक थे। पं. ओंकार नाथ ठाकुर के पट्ट शिष्य पं. बलवन्त राय भट्ट भी भावनगर के ही निवासी थे। आपने 'भावरंग' उपनाम से

*निवृत्त गायन विभागाध्यक्ष, का.हि. विश्वविद्यालय, वाराणसी; निवृत्त डायरेक्टर, स्कोपा, सूरत

अनेक सुन्दर बन्दिशों की रचना की है।

बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में गुजरात के पंडित ओंकार नाथ ठाकुर जी का नाम देश के अति विशिष्ट संगीतकारों में लिया जाता है। आप एक श्रेष्ठ गायक थे, संगीत शास्त्रज्ञ भी थे। आपके द्वारा लिखित ग्रन्थ 'प्रणव भारती' संगीत के क्षेत्र में एक बहुमूल्य ग्रन्थ माना जाता है। आपके शिष्यों में श्री शिव कुमार शुक्ला, श्री महादेव शास्त्री, श्री कनकराय त्रिवेदी, पं. अतुल देसाई, प्रो. प्रदीप कुमार दीक्षित आदि हैं। प्रो. प्रदीप कुमार दीक्षित ने पंडित जी की जीवनी 'वाग्गेयकार पं. ओंकार नाथ ठाकुर' लिखी है तथा संगीत में रस–सिद्धान्त पर 'सरस संगीत' पुस्तक लिखी है। पं. बलवन्तराय भट्ट पंडितजी के वरीयतम शिष्य थे।

गुजरात के वैष्णव मन्दिरों में हवेली संगीत नित्य गाया जाता था, आज भी गाया जाता है। हवेली संगीत के गायकों ने शास्त्रीय संगीत पर भक्ति का रंग चढ़ा कर इस संगीत को खूब सजाया है। गुजरात का हवेली संगीत श्रीनाथजी की ब्रज–परम्परा के अनुरूप है। प्राचीन कवि दयाराम स्वयं वैष्णव थे। आपके द्वारा लिखित गीत, गरवा तथा भजन आज तक गाए जाते हैं। गुजरात के स्वामी नारायण सम्प्रदाय में भक्त कवि प्रेमानन्द और ब्रह्मानन्द ने भी अनेक भजनों की रचना की थी, जो आज भी प्रचार में हैं। प्रेमानन्द तथा ब्रह्मानन्द, दोनों उच्च्य कोटि के संगीतज्ञ भी थे।

गुजरात के शिष्ट संगीतज्ञों में पं. विष्णु दिगम्बर पलुस्कर जी के शिष्य श्री शंकर राव व्यास, श्री नारायण राव व्यास जी का भी योगदान है। गाँधी बापू के आश्रम में प्रार्थना तथा भजनों के नेतृत्व करने वाले श्री नारायण मोरेश्वर खरे जी का योगदान भी अविस्मरणीय है। आपने राग–वर्गीकरण की रागांग–पद्धति का प्रतिपादन किया था। आधुनिक काल में अहमदाबाद में 'सप्तक' संस्था के प्रणेता श्री नन्दन मेहता जो पं. किशन महाराज के शिष्य थे तथा श्रेष्ठ तबला वादक थे, तथा उनकी पत्नी सुश्री मंजू बेन मेहता एक श्रेष्ठ सितार वादिका थीं। आप दोनों ने अहमदाबाद में शास्त्रीय तथा सुगम, दोनों प्रकार के संगीत की ज्योति प्रज्ज्वलित की।

गुजराती सुगम संगीत के प्रमुख पुरुष श्री अविनाश व्यास थे। आप उत्तम श्रेणी के कवि तथा संगीतज्ञ थे। आपने अनेक चलचित्रों में भी संगीत दिया है। सुगम संगीत की पुरानी गायिकाओं में कौमुदी मुन्शी का नाम प्रमुख था। आज अनेक गायक–गायिकाओं ने सुगम सगीत के क्षेत्र में बहुत लोकप्रियता अर्जित की है । सभी के नाम देना संभव नहीं है।

गुजरात का लोक संगीत तथा लोक नृत्य बहुत प्रसिद्ध है । यहाँ के लोकवाद्यों में पावो, तुरही, जंतर, झांझ, मंजीरा, ढोलक आदि प्रसिद्ध है । गुजरात के लोक संगीत की गायिका श्रीमती दिवाली बेन भील को भारत सरकार ने 'पद्मश्री' से सम्मानित किया था। वर्त्तमान में, श्री ओसमान मीर लोक संगीत के नामी गायक हैं । गुजरात की चारण जानिका साहित्य और संगीत अनुपम है। असाधारण स्मृति–शक्ति तथा काव्य–शक्ति के धनी चारण कोम को राज्याश्रय मिला था। चारण–साहित्य में संगीत का मेल ऐसे अद्भुत ढंग से होता है कि कहाँ साहित्य समाप्त होता है और कहाँ से संगीत आरंभ हो जाता है, यह पता ही नहीं लगता। इसमें प्रमुख नाम श्री दुला काग का है। सौराष्ट में, नये गुजरात में आज भी लोक संगीत की महफिल 'डायरा' का आयोजन होता रहता है।

भारत के विश्वविद्यालयों में संगीत विषय का प्रवेश सर्वप्रथम गुजरात की सयाजीराव यूनिवर्सिटी, बड़ौदा में हुआ। जून 1950 से सयाजीराव महाराजा द्वारा स्थापित संगीतशाला को फैकल्टी ऑफ म्यूजिक एण्ड ड्रामेटिक्स के अन्तर्गत स्थान दे दिया गया। इसके पश्चात् अगस्त 1950 में बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी में संगीत कॉलेज की स्थापना पं. ओंकारनाथ ठाकुर के नेतृत्व में हुई। आज भारत के अनेक विश्वविद्यालयों में संगीत विषय के विभाग हैं। महाराजा सयाजीराव यूनिवर्सिटी, बड़ौदा के डीन प्रो. आर.सी. मेहता जी का नाम भारत के अग्रणी संगीत शास्त्रियों में है। आप 'म्यूजीकोलॉजी' नामक त्रैमासिक पत्रिका के तंत्री भी थे। दक्षिण गुजरात में सूरत में 2010 में 'सार्वजनिक कॉलेज ऑफ परफॉर्मिंग आर्ट्स' की स्थापना हुई जिसकी प्रथम निदेशक इस लेख की लेखिका थी।

शास्त्रीय नृत्य शैलियों का भी गुजरात में बहुत विकास हुआ है। नृत्य क्षेत्र में भरतनाट्यम की नृत्यांगना

श्रीमती मृणालिनी साराभाई का नाम प्रसिद्ध है तो कथक की प्रसिद्ध नृत्यांगना श्रीमती कुमुदिनी बेन लाखिया वर्षों से अहमदाबाद में कथक की शिक्षा दे रही हैं।

गुजरात का लोक नाट्य 'भवाई' जग प्रसिद्ध है। नाट्य–परम्परा में गुजरात बहुत समृद्ध है। अच्छे नाट्य कलाकारों को चलचित्रों में भी स्थान दिया गया है। श्री परेश रावल, श्री हरि भाई (संजीव कुमार) इनमें प्रमुख हैं। सुश्री आशा पारिख, निरूपा रॉय आदि महिला कलाकार भी चलचित्रों में अच्छा स्थान प्राप्त कर चुकी हैं। संगीत क्षेत्र में गुजरात के श्री कल्याणजी–आनन्दजी संगीत निर्देशक के रूप में अच्छा नाम है। श्री संजय लीला भंसाली भी एक डाइरेक्टर के उपरान्त संगीत निर्देशक भी हैं।

वर्त्तमान में गुजरात की 'संगीत नाटक अकादमी', अहमदाबाद की 'सप्तक' संख्या, सूरत की 'प्रणव पारिजात' संस्था तथा प्रत्येक शहर में ऐसी संस्थाएँ कार्यरत हैं जो संगीत की सेवा कर रही हैं। समाज में लोगों ने संगीत की महत्ता को समझा है। प्रत्येक स्थान पर संगीत एवं नृत्य की कक्षाएँ चल रही हैं।

यहाँ मैं संगीत क्षेत्र के कतिपय नाम ही ले सकी हूँ। बहुत से नाम छूट गए हैं, इसके लिए मैं क्षमा–प्रार्थी हूँ। इस लघु लेख में सभी नामों को समाविष्ट करना सम्भव नहीं है। मैंने गुजरात के संगीत तथा मंच कलाओं की केवल झाँकी ही प्रस्तुत की है। संगीत में बंगाल और महाराष्ट्र जितना तो नहीं, फिर भी गुजरात में संगीत का प्रचार–प्रसार अच्छी मात्रा में हो रहा है, यह प्रसन्नता का विषय है। अस्तु !

Hkkjrh; laxhr dk bfrgkl

¼mÙkj Hkkjrh; laxhr ds fo'ks"k lanHkZ esa½

iafMr fot;'kadj feJ*

संगीत– यानी सर्वश्रेष्ठ, सर्वोत्तम ललित कला– जो मानवीय भावनाओं की अभिव्यक्ति का भी सर्वश्रेष्ठ माध्यम है– और ईश्वरीय–आराधना का भी सर्वोत्तम माध्यम है। इसकी उत्पति के विषय में भारत में जो विभिन्न मत प्रचालित हैं उनमें से दो प्रसिद्ध मत इस प्रकार हैं–

(अ) जगत् के सृष्टा ब्रह्माजी ने धरती पर मनुष्यों को विभिन्न प्रकार के कष्टों से ग्रसित देखकर उनके आत्मिक, मानसिक और बौद्धिक आनंद के लिये संगीत को भी रचा। इसके लिये उन्होंने ऋग्वेद से पाठ्य, सामवेद से गीत, यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से रस का संचयन कर पंचमवेद के रुप में नाट्यवेद की रचना की थी। ब्रह्माजी से इसे भगवान शंकर ने सीखा। शंकरजी से यह कला माता सरस्वती तक पहुंची। माता सरस्वती से इसे सीखकर गंधर्व नारद ने इसे अन्य गंधर्वों और किन्नरों सहित महर्षि भरत और हनुमान आदि को भी सिखाया, जिनके माध्यम से यह कला धरतीवासियों तक पहुंची।

(आ) दूसरे मत के अनुसार– संगीत की उत्पत्ति 'ॐ' शब्द से हुई है। 'ओउम्' शब्द के तीन अक्षर अ, ऊ और म क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु और महेश के प्रतीक हैं जिन्हें क्रमशः जनक, पालक और संहारक माना जाता है। श्रुति से स्वरों की उत्पत्ति हुई है। इन 22 श्रुतियों में से ही 7 मुख्य श्रुतियों को स्वर की संज्ञा प्राप्त है।

इसे लगभग सभी मानते हैं कि भारत सहित दुनिया–भर के संगीत की उत्पत्ति धर्म से ही हुई है। इसलिये भारत में इसे विभिन्न देवी–देवताओं से जोड़कर देखा गया है। भगवान शंकर को नटराज कहकर तांडव नृत्य का प्रणेता भी बताया गया है, भैरव, हिंडोल, मेघ, दीपक और श्री जैसे रागों का सर्जक भी, तथा पार्वतीजी की शयन–मुद्रा देखकर रुद्र वीणा का आविष्कारक भी। माता पार्वती को लास्य नृत्य का सर्जक माना जाता है। उल्लेखनीय है कि तांडव और लास्य नृत्य के संयोग से ही अन्य शास्त्रीय नृत्यों का आविष्कार हुआ है। मां सरस्वती को वीणा के साथ, श्रीकृष्ण को मुरली और नृत्य के साथ, गणेश को मृदंग के साथ और नारद को इकतारा के साथ जोड़कर भारतीय संगीत के महत्व को प्रतिपादित किया गया है। आदियोगी शंकर को नटराज तथा योगेश्वर श्रीकृष्ण को नटवर की संज्ञा प्राप्त है।

दुनिया–भर का संगीत धर्म से जुड़ा हुआ है, यह इससे भी प्रमाणित होता है कि– यूनानी भाषा में संगीत के लिये मौसिकि (MOUSIKE), लैटिन और पुर्तगीज भाषा में मुसिका (MUSICA), जर्मन भाषा में मूसिक (MUSIK) और अंग्रेजी भाषा में म्यूज़िक (MUSIC) जैसे शब्दों का प्रयोग होता है। अरबी और फारसी आदि भाषाओं में इसे मौसिकी कहा जाता है। इन सभी शब्दों का आधार यूनानी भाषा का म्यूज़ (MUSE) शब्द है, जिसका अर्थ है– गान की प्रेरक देवी– (THE INSPIRING GODDESS of SONGS)। और, इसी तरह लगभग हर देश, हर भाषा का संगीत किसी–न–किसी रुप में धर्म, आध्यात्म और देवी–देवताओं से जुड़ा है।

भारत में प्रचलित सभी धर्मों, जैसे– हिन्दू, इस्लाम, ईसाई, सिख, बौद्ध और जैन आदि धर्मों और मतों में संगीत को तो महत्व मिला ही, इनके संदेशों, उपदेशों और विचारों को जन–जन तक पहुंचाने के लिये भी संगीत को माध्यम बनाया गया, क्योंकि संगीत के माध्यम से कही गई बात सीधे ह्रदय तक पहुंचती है, और फिर वहीं बस जाती है चिर काल के लिये।

लेकिन, संगीत की उत्पत्ति के विषय में एक मनोवैज्ञानिक मत भी है, और वह भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है। आदिम मानव– जो जंगलों में रहता था– जब भाषा और बोली का जन्म नहीं हुआ था– तब– वह अपनी बात, अपनी भावनाएँ लोगों तक कैसे पहुंचाता था? जंगल में अचानक आग लग जाने, किसी हिंसक पशु के आ जाने, किसी आत्मीय की मृत्यु होने अथवा कोई हर्षदायक घटना घटित होने पर वह अपने मनोभावों को आखिर कैसे व्यक्त करता होगा? अपनी वाणी

*प्रसिद्ध संगीतज्ञ, लेखक, समीक्षक, दिल्ली

के उतार–चढ़ाव और हस्त मुद्राओं के माध्यम से ही तो! वाणी का यह उतार–चढ़ाव ही आगे चलकर 'नाद' कहलाया। यह ध्वनि अर्थात् नाद दो वस्तुओं के घर्षण से उत्पन्न होता है– अर्थात् अग्नि और वायु के संयोग से। लेकिन, सामान्य ध्वनि और नाद में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण अंतर होता है। नाद सिर्फ उस मधुर और कर्णप्रिय ध्वनि को कहा जाता है– जो आनंददायक, सुमधुर और संगीतोपयोगी हो। कोलाहल, चीख–पुकार, गाड़ी के हॉर्न आदि जैसी ध्वनियों को नाद के अंतर्गत नहीं रखा जा सकता है। इस संगीतोपयोगी नाद को आहत नाद कहा जाता है और माना जाता है कि यह मुक्तिदायक है। स्वर तथा गायन, वादन एवं नृत्य की समस्त रचनाएँ आहत नाद के ही अंतर्गत आती हैं।

लेकिन, नाद का एक और भी प्रकार है– जिसे सुना नहीं सिर्फ अनुभव किया जा सकता हैं। यह किसी घर्षण अथवा प्रहार के बगैर उत्पन्न होती है। इसलिये इसे अनाहत (अन+आहत) नाद कहते हैं। इस नाद को ऋषि–मुनियों, योगियों और श्रेष्ठ संगीतज्ञों ने अपनी आध्यात्मिक गहराइयों के कारण बार–बार अनुभव किया है, और इसका गुण–गान भी किया है। जब भी कोई साधक अपनी साधना की गहराई में जाकर समाधि की अवस्था में पहुंचता है, तो वहां उसके शरीर में स्थित सात यौगिक चक्रों से सात स्वरों की गुंजार हृदय की गहराइयों में स्पष्ट सुनाई देती है। अंतरात्मा की इसी आवाज से प्रेरणा पाकर भिन्न–भिन्न स्वर–लहरियों का जन्म हुआ है। इस अनाहत नाद को संगीतकारों द्वारा अनहद कहकर भी संबोधित किया जाता है। संत संगीतज्ञा मीरा बाई ने अपनी एक दार्शनिक रचना में अनाहत अर्थात् अनहद नाद की ओर संकेत करते हुए लिखा है कि–

होली खेल मना रे। फागुन के दिन चार।
बिन करताल पखावज बाजे। अनहद की झनकार।
बिन सुर राग छत्तीसों गावे। रोम–रोम रंग सार।
फागुन के दिन चार।
सील संतोष की केसर घोली, प्रेम–प्रीति पिचकार।
उड़त गुलाल लाल भये अम्बर, बरसत रंग अपार।
फागुन के दिन चार।
घट के सब पट खोल दिये हैं, लोक लाज सब डार।
होली खेल पिया घर आये, सोई प्यारी पिय प्यार।
फागुन के दिन चार।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर, चरण कमल बलिहार।
होली खेल मना रे फागुन के दिन चार।

मीरा बाई की यह रचना उनकी सांगीतिक विद्वता का भी परिचय देती है।

नाद को योग मानते हुए संगीतकारों को 'नाद योगी' की संज्ञा दी गई है–

नाद योगी उनको तू जान।
सुर–सरि में करके स्नान। धर कर नित गुरु पद का ध्यान।
जो करते अनहद का गान। परम तपस्वी उनको मान।
'नाद योगी' उनको तू जान।
जो स्वर में ईश्वर दिखलाते। लय ब्रह्म के भेद बताते।
भव सागर से पार उतरने। की विधि का देते हैं ज्ञान।
नाद योगी उनको तू जान।
(पं. विजयशंकर मिश्र)

संगीत–योगियों का मानना है कि जब आत्मा की बोलने की इच्छा होती है, तब वह मन को प्रेरित करता है, मन शरीर में स्थित अग्नि को इसके लिये प्रेरित करता है और तब अग्नि वायु का चलन करती है और, तब ब्रह्म ग्रंथि में स्थित वायु क्रमशः ऊपर चढ़ती हुई नाभि, हृदय, कंठ, मूर्धा और मुख–इन पांच स्थानों से पांच प्रकार के नाद उत्पन्न करती है। इन नादों का संबंध स्वर से होता है और स्वरों की सहायता से भाव तथा रस की सृष्टि होती है।

समाज में शुरु से ही संगीत की दो भिन्न धारायें प्रवाहित होती रही हैं– मार्ग अथवा मार्गी संगीत और देशी संगीत। मार्गी संगीत के विषय में विद्वानों का कथन है कि यह पूरी तरह से नियमबद्ध था और पूजा तथा यज्ञ आदि के अवसर पर पूरे विधि–विधान और सांसों के उतार–चढ़ाव के साथ इसका गायन होता था। इसके अंतर्गत मूलतः वैदिक ऋचाओं का ही गायन होता है। इसके गायन से मोक्ष का मार्ग प्रशस्त होता है, अतः इसे 'मोक्ष मार्गी' अथवा 'मार्गी संगीत' कहा गया जिसका तात्पर्य है कि यह मोक्ष मार्ग का द्वार खोलता है। इसमें किसी भी प्रकार के परिवर्त्तन की अनुमति नहीं होती है। इसे इंसानों के मनोरंजन के लिये कभी भी प्रस्तुत नहीं किया गया।

लेकिन, सभा–समारोहों में आमोद–प्रमोद के लिये, आम लोगों द्वारा, आम लोगों के मनोरंजन के लिये जिस

संगीत की प्रस्तुति हुई वह 'देशी संगीत' कहलाया। हृदय–रंजन इसका मुख्य उद्देश्य था। इस संगीत में स्थानीय वातावरण, जलवायु, उच्चारण भेद, शैलीगत विशेषता आदि के कारण समय–समय पर और, स्थान–स्थान पर परिवर्त्तन होते रहे। मूलतः अपने देश अर्थात् क्षेत्र–विशेष से जुड़े होने के कारण ही इसे 'देशी संगीत' कहा गया। जन समाज में लोक रंजन के लिये प्रस्तुत सभी प्रकार के संगीत को देशी संगीत के अंतर्गत रखा जाना चाहिये– चाहे– वह लोक संगीत हो अथवा शास्त्रीय संगीत। विभिन्न जिलों और प्रदेशों का लोक संगीत अपनी बोली और भाषा आदि के आधार पर एक–दूसरे से बिल्कुल भिन्न दिखता है। यहां हमें यह भी याद रखना चाहिये कि आधुनिक काल में प्रचलित शास्त्रीय संगीत की लगभग सभी विद्यायें लोक संगीत से ही जन्मीं हैं, इसलिये भी उन्हें देशी संगीत के अंतर्गत रखा जाना चाहिये।

भारतीय संगीत के इतिहास का अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि प्राग्वैदिक काल में जब भाषा, बोली और शब्द का जन्म नहीं हुआ था, तब भी आदि–मानव अपने कंठ से अहा, हाहा, हूहू, ओह, हाउ, हे आदि ध्वनियों को निकालकर अपना अभिप्राय प्रकट करता था। इन ध्वनियों को बाद में स्तोभ और interjectional cry कहा गया। आदि मानव ने अपना पहला गान शब्दों के अभाव में इन्हीं स्तोभों के माध्यम से गाया होगा– यह अनुमान नहीं, विश्वास है। प्राग्वैदिक युग की खुदाई में मिले अवशेषों से ज्ञात होता है कि तब बांसुरी, तंत्र–वाद्य वीणा जैसे आकार का एक वाद्य तथा चमड़े से बने वाद्य–यंत्रों का प्रयोग होता था। कुछ नर्त्तकियों की भी खंडित मूर्त्तियां मिली हैं। जानवरों के सिंग से बने फूंक से बजनेवाले श्रृंग–जैसे सुषिर वाद्य भी उस समय प्रचलित थे।

वैदिक काल में संगीत उन्नत अवस्था में थी। यद्यपि इस काल में संगीत के स्वतंत्र ग्रंथ नहीं लिखे गये, तथापि गीत, वाद्य और नृत्य के यथेष्ट उल्लेख मिलते हैं। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद के साथ–साथ– चारों वेदों की चार संहिताओं में, वेदों की व्याख्या करने वाले ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् आदि ग्रंथों सहित शिक्षाग्रंथ तथा प्रतिसांख्य–जैसे ग्रंथों में संगीत के विषय में प्रचुर सामग्री उपलब्ध है। वैदिक काल में ही संगीतोपयोगी ध्वनि के लिये नाद शब्द का प्रयोग शुरु हुआ, और उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित स्वरों के आधार पर क्रुष्ट, प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, मंद्र और अतिस्वार्य– नामक सात स्वर स्थापित हुए, जिन्हें बाद में षड्ज, ऋषभ, गांधार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद कहा गया। उदात्त से गांधार और निषाद, अनुदात्त से ऋषभ और धैवत तथा स्वरित से षड्ज, मध्यम और पंचम स्वर विकसित हुए। सर्वप्रथम 'नारदीय शिक्षा' में सा रे ग म प ध और नि नामों का उल्लेख हुआ। आज 7 शुद्ध और 5 विकृत स्वर प्रचलित हैं।

स्वरों की उत्पत्ति के विषय में भी विद्वानों के कई मत प्रचलित हैं, एक संक्षिप्त दृष्टि उन पर भी डालते हैं। एक मत के अनुसार, एक बार पर्वत मालाओं में सफर के दौरान हजरत मूसा को आकाशवाणी सुनाई दी कि– 'मूसा अपना असा (हथियार) इस पत्थर पर मार।' हजरत मूसा ने जब अपना असा पत्थर पर मारा तो उस पत्थर के सात टुकड़े हो गये और उनसे सात अलग–अलग जल धारायें प्रवाहित होने लगीं। उन अलग–अलग जल धाराओं से सात अलग–अलग ध्वनियां उत्पन्न हुईं जिन्हें सा रे ग म प ध और नि कहा गया। नारदकृत 'नारदीय शिक्षा' के अनुसार– मयूर की बोली से सा, गाय की आवाज से रे, बकरे से ग, कौवे से म, कोयल से प, मेढ़क से ध स्वर की और हाथी से नि स्वरों की उत्पत्ति हुई है। नारद के अनुसार घोड़े की आवाज से ध स्वर उत्पन्न हुआ है जबकि कुछ लोग इसकी उत्पत्ति मेढ़क की आवाज से भी मानते हैं।

जैन आचार्य पार्श्वदेव ने अपने ग्रंथ 'संगीतसमयसार' में लिखा है कि– सिर, कंठ, उर, तालु, जिह्वा और दांत– इन छह स्थानों से उत्पन्न स्वर षड्ज कहलाता है। इसी षड्ज पर शेष छह स्वर आश्रित होते हैं। नाभि से उठकर कंठ तथा सिर से होते हुए जो ध्वनि वृषभ के समान नाद उत्पन्न करता है, वह ऋषभ कहलाता है। नाभि से उत्पन्न तथा कंठ एवं सिर से संबद्ध वह ध्वनि जो गंधर्वों को सुख प्रदान करता है, गांधार नाम से जाना जाता है। नाभि से उठकर हृदय से समाहित मध्य स्थान में स्थिर होकर स्वर उत्पन्न करने वाला स्वर मध्यम कहलाता है। होठ, तालु, कंठ, सिर और हृदय– इन पांच स्थानों से उत्पन्न स्वर पंचम कहा गया। वायु जब हृदय, कंठ, होठ, तालु और सिर से होते हुए नाद उत्पन्न करता है तो उसे धैवत स्वर कहा गया। इसी प्रकार वायु के द्वारा कंठ, तालु और सिर का समर्थन न होने पर जिस स्वर से

सभी स्वरों पर विराम लगता है– वह निषाद कहलाता है।

तब वीणा के लिये वाण और बाण संज्ञा का प्रयोग होता था। वीणा शब्द का प्रथम प्रयोग 'यजुर्वेद' में हुआ। आज हम किसी कार्य में कुशल व्यक्ति के लिये जिस 'प्रवीण' शब्द का प्रयोग करते हैं, उस प्रवीण शब्द का प्रयोग प्राचीन काल में सिर्फ कुशल वीणा वादकों के लिये होता था। भूमि दुंदुभि, दुंदुभि और गर्गर जैसे अवनद्ध वाद्यों का वादन हिरण के सिंग से होता था। तूणव, बाकर और नाली नामक सुषिर वाद्य भी उस समय प्रचलित थे।

वैदिक काल में संगीत अत्यन्त उन्नत अवस्था में था। पुरुषों के साथ–साथ महिलायें भी संगीत के कार्यक्रमों में भाग लेती थीं। वैदिक काल में संगीतकारों का समाज में प्रतिष्ठित स्थान था। ऋग्वेद की एक कथा के अनुसार, एक बार असुरों ने कण्व ऋषि को एक अंधेरी कोठरी में बंद करके उनकी आंखों को बंद करते हुए उन्हें चुनौति दी थी कि वे उषा आगमन की बात बताकर अपने ब्राह्मणत्व को सिद्ध करें। तब अश्विन कुमार ने उषा काल में वीणा–वादन कर उन्हें उषा–काल की सूचना दी थी। इस काल में सांगीतिक कार्यक्रमों का आयोजन खुले प्रांगण में होता था। हर्षोल्लास और विजय आदि की खुशी मनाने के लिये भी संगीत के आयोजन होते थे। गाथा, गान वीणा आदि का वादन होता था।

रामायण के लगभग सभी प्रमुख पात्र राम, रावण हनुमान तथा सुग्रीव आदि संगीत अनुरागी थे, इसलिये अयोध्या, किष्किंधा और लंका आदि में संगीत का अनवरत प्रयोग होता रहता था। आदि कवि वाल्मिकि तथा गोस्वामी तुलसीदास दोनों की ही कृतियों में संगीत का प्रचुर मात्रा में उल्लेख हुआ है। रामायण काल में द्वितंत्री नकुली वीणा, त्रितंत्री वीणा, सप्ततंत्री चित्रा वीणा और नौतंत्री विपंची वीणा जैसे तंत्र वाद्य, वेणु, शंख और वंश जैसे सुषिर वाद्य, दुंदुभि, भेरी, पणव, डिंडिम, मुरज, मृदंग, मुड़डुक और आदम्बर जैसे अवनद्ध वाद्य तथा कांस्य निर्मित मंजीरा जैसे घन वाद्य प्रचलित थे। राक्षसराज रावण संगीत के ज्ञाता थे। उनके राज्य की महिलायें भी संगीत नृत्य कुशला थीं। इस काल में मार्ग और लौकिक– दोनों प्रकार के संगीत प्रचलित थे। लय के लिये 'वृत्त' शब्द का प्रयोग होता था। ताल का तात्पर्य हाथ से ताली–खाली प्रदर्शित करना होता था, जिनके लिये सशब्द क्रिया और निशब्द क्रिया जैसी संज्ञा प्रचलित थी। इस काल में संगीत मानव–जीवन का एक अभिन्न अंग था और राम की अयोध्या, रावण की लंका तथा सुग्रीव के किष्किंधा पर्वत सहित महर्षि वाल्मिकि के आश्रम तक इसकी लोकप्रियता यथावत व्याप्त थी।

वाल्मीकि रामायण के एक श्लोक के अनुसार, रावण अपने धनुष के प्रत्यंचा के आवाज की तुलना वीणा के नाद से करते थे। उनके द्वारा रचित शिव तांडव स्तोत्र आज भी संगीत और साहित्य की अमूल्य धरोहर मानी जाती है। लक्ष्मण ने जब सुग्रीव से मिलने के लिये उनके महल में प्रवेश किया था तब वहां वीणा वादन के साथ गायन हो रहा था। लक्ष्मण और राम द्वारा राक्षसों के संहार पर आकाश से दुंदुभि बजाकर देवताओं ने हर्ष प्रकट किया था।

सीता स्वयंवर में राम द्वारा धनुष तोड़े जाने पर भी नभ मंडल दुंदभियों की आवाज से गूंज उठा था। अप्सराओं ने नाच गाकर अपनी प्रसन्नता प्रकट की थी। जनक नंदनी सीता की सखियों ने बधाई और मंगलाचार के गीतों का जो गायन किया था वह त्रिस्थानकर्णान्वित ताल में था। महर्षि वाल्मिकि ने लव–कुश को गायन की शिक्षा दी थी। इस काल में संगीतज्ञों की सामाजिक प्रतिष्ठा बहुत थी। इस काल में रागों में शुद्ध जातियों का ही प्रयोग होता था। कोई स्वर कम नहीं किया जाता था। राम के पुत्र–द्वय कुश और लव के द्वारा रामायण गान का उल्लेख भी मिलता है। कहा जाता है कि कुश और लव के अनुयायी ही आगे चलकर कुशीलव कहलाये जिनका संगीत के प्रचार–प्रसार में बड़ा योगदान रहा है।

महाभारत काल में भी संगीत की लोकप्रियता चरम पर थी। कृष्ण–जैसे अद्वितीय बांसुरी वादक और महान् नर्त्तक इसी काल खंड में हुए थे। इस काल में संगीत के लिये 'गांधर्व' शब्द का प्रयोग होता था। तुम्बरु जैसे श्रेष्ठ ऋषि गंधर्व इसी समय हुए थे। कहा जाता है कि तम्बूरा का निर्माण उन्होंने ही किया था, जिसे आज तानपूरा कहा जाता है। महाभारत के आदि पर्व में कम्बल, अश्वतर और नारद–जैसे गंधर्वों का भी उल्लेख हुआ है, जो कच्छपी वीणा बजाते थे। धनुर्धर अर्जुन ने चित्रसेन से गायन, वादन और नर्त्तन की शिक्षा ली थी। वे वीणा पर गायन करते थे। अज्ञातवास के समय बृहन्नला का रुप धारण कर उन्होंने विराट नरेश की पुत्री उत्तरा को सांगीतिक कलाओं की शिक्षा दी थी। अभिजात्य वर्ग के संगीतकारों

को गंधर्व कहा जाता था। इनके अलावा मंगलगाथा और स्तुति आदि गाने वाले व्यवसायी गायकों को नट, सूत, बंदी, मागध और वैतालिक कहा जाता था। समाज में संगीत और संगीतकारों का सम्मान था, और बालिकाओं को संगीत सिखाने के लिये संगीत शालायें भी थीं। वाद्य के चारों प्रकार प्रचलित थे जिनमें शंख, भेरी, तूर्य, वारिज और कांस्य के घनवाद्य अधिक लोकप्रिय थे।

जैन काल में सांगीतिक कलाओं से विभिन्न धर्मों और वर्गों के लोग जुड़ने लगे थे। दलित और पिछड़े वर्ग के लोग भी संगीत सीखने लगे थे। वे सामूहिक रुप से गायन, वादन और नृत्य की प्रस्तुतियां देते थे। मृदंग, भेरी और ढप के साथ–साथ कच्छपी, नकुली, महती, वल्लकी, परिवादिनी और विपंची आदि जैसी वीणायें भी प्रचलित थीं। जैन धर्म के प्रचार–प्रसार के लिये उनके सिद्धांतों का सस्वर गायन किया जाता था।

बौद्ध काल में वैदिक ऋचाओं के समान ही बौद्ध सूत्रों को भी सस्वर पढ़ने की प्रथा थी। धन संपन्न उच्चवर्गीय परिवार की कन्याओं को संगीत सिखाया जाता था। सिद्धार्थ, उनकी मां महामाया देवी तथा परिवार के अन्य सदस्य संगीत का समुचित ज्ञान रखते थे। सिद्धार्थ की पत्नी यशोधरा के पिता ने शर्त्त रखी थी कि उनकी कला प्रतिभासंपन्न पुत्री से विवाह के पूर्व ही भावी वर को अपनी सांगीतिक कलाओं का परिचय देना होगा। दूसरी ओर, राजा शुद्धोदन ने भी अपने पुत्र सिद्धार्थ के लिये गणिका के समान कला संपन्न वधू की इच्छा प्रकट की थी। सिद्धार्थ के जन्म पर 500 वाद्यों का वृंद–वादन हुआ था। जातक ग्रंथों में नट, नर्त्तक, गायक और भेरी वादक जैसे कलाकारों की चर्चा हुई है। समाज में नर्त्तकियों तथा गणिकाओं दोनों को कलाकार के रुप में सम्मान प्राप्त था। 'गणिका' शब्द का प्रयोग ऐसी महिलाओं के लिये होता था जो संगीत और शास्त्र दोनों जानती थीं। गणिकाओं की सामाजिक उपयोगिता को स्वीकारते हुए उन्हें समाज के प्रतिकूल नहीं माना गया था। इस काल में कलाकारों को राज्याश्रय प्राप्त था। राजसभा में गायकों, वादकों और नर्त्तकियों की नियुक्ति भी होती थी, और विशेष अवसरों पर संगीतकारों को बाहर से भी आमंत्रित किया जाता था। विभिन्न प्रकार के उत्सवों को धूमधाम से मनाने के लिये भी संगीत–नृत्य के कलाकारों को आमंत्रित किया जाता था। ऐसे सामाजिक पर्वों को 'समज्जा' और 'समाज' कहा जाता था। राजगृह में आयोजित एक ऐसे उत्सव में 500 नर्त्तकियों के भाग लेने का वर्णन मिलता है।

बौद्ध काल में तत वाद्यों के अंतर्गत परिवादिनी, विपंची, वल्लकी, महती, नकुली और कच्छपी जैसे वीणा के विभिन्न प्रकार प्रचलित थे। इस काल में सामान्यतः सभी तत वाद्यों को 'वीणा' कहा जाता था। इस काल के प्रचलित सुषिर वाद्यों में शंख, तूर्य, श्रृंग एवं कुशल जैसे वाद्य प्रमुख थे। घन वाद्यों में कांस्य ताल, झल्लरी, जल्लरी, दुंदुंभी तथा डिंडिम आदि लोकप्रिय थे। एक कथा के अनुसार– तुम्बरु की कन्या सूर्यवसा का प्रेमी पंचशिख गंधर्व जब प्रेम में असफल होकर वीणा पर एक करुण गीत का गायन कर रहा था, तब गीत एवं वीणा के स्वरों का एकांत तादात्म्य सुनकर स्वयं वीतराग बुद्ध भी गीत की प्रशंसा कर उठे थे। इस समय संगीत कला अत्यन्त उन्नत अवस्था में था। बौद्ध और जैन धर्म संगीत से काफी गहराई से जुड़े रहे हैं। बौद्ध और जैन मंदिरों में प्राचीन काल से अब तक स्तुति गान की परंपरा रही है। बौद्ध ग्रंथों में स्पष्ट उल्लेख है कि गुत्तिल ने इंद्र का स्तुति गान किया था। अश्वघोष द्वारा रचित अनेक स्तुतियां भी प्रचलित हैं। पंचशिख ने वीणा–वादन के साथ इंद्र का स्तुति–गान किया था। बौद्ध धर्म की महायान शाखा पर तो संगीत का काफी गहरा प्रभाव रहा है।

बुद्ध, महावीर तथा अन्य तीर्थकरों के सिद्धान्तों, उपदेशों के प्रचार–प्रसार के लिये उन्हें संगीतबद्ध कर उनके गायन की परंपरा तब से आज तक प्रचलित है। इन मंदिरों में जाने पर इसका स्पष्ट प्रमाण मिलता है। जैन काल में सांगीतिक कलाओं से विभिन्न धर्मों और वर्गों के लोग जुड़ने लगे थे। दलित और पिछड़े वर्ग के लोग भी संगीत सीखने लगे थे। वे सामूहिक रुप से गायन, वादन और नृत्य की प्रस्तुतियां देते थे। मृदंग, भेरी और ढप के साथ–साथ कच्छपी, नकुली, महती, वल्लकी, परिवादिनी और विपंची आदि जैसी वीणायें भी प्रचलित थीं। जैन–धर्म के प्रचार–प्रसार के लिये उनके सिद्धांतों का सस्वर गायन किया जाता था।

मौर्यकाल में संगीत में मनोरंजन का स्थान काफी बढ़ गया था। इसलिये उसके नैतिक और मर्यादित रुप में कुछ–कुछ गिरावट आने लगी थी। धनाढ्य नागरिकों द्वारा मनोरंजन के लिये निजी संगीत गोष्ठियों का प्रचलन शुरु हो गया था। महिलाओं के लिये संगीत–नृत्य का

आरंभिक ज्ञान जरुरी माना जाने लगा था। संध्याकालीन मनोरंजन के लिये गणिकाओं के यहां जाने और उन्हें अपने यहां बुलाने का सिलसिला बढ़ने लगा था। इस काल में संगीत प्रशिक्षण केंद्र भी थे। सैल्यूकस की संगीतज्ञा पुत्री का विवाह चंदगुप्त मौर्य से हो जाने के कारण यूनानी संगीत पहली बार भारत आया तो भारतीय संगीत भी यूनान जा पहुंचा। सम्राट अशोक की पत्नी तिष्यरक्षिता की प्रमुख परिचारिका चारुमित्र प्रवीण वीणा वादिका थी। अशोक ने जब बौद्ध धर्म का विश्वव्यापी प्रचार–प्रसार आरंभ किया तो बौद्ध धर्म के साथ–साथ भारतीय संगीत का भी आदान–प्रदान तिब्बत, चीन, मिस्त्र, यूनान, जावा, सुमात्रा, कम्बोडिया, बर्मा और श्रीलंका आदि देशों के साथ शुरु हो गया था।

कनिष्क और गुप्तकाल में यूं तो संगीत के क्षेत्र में कोई उल्लेखनीय कार्य नहीं हुआ, किंतु दत्तिल मुनि का ग्रंथ 'दत्तिलम्' इसी काल की विशेष देन है। समुद्रगुप्त प्रवीण वीणा वादक थे। उस काल के सिक्कों पर उनका वीणा वादन करता हुआ चित्र अंकित है। राजा के संगीतानुरागी होने का स्वाभाविक लाभ संगीत को मिला और वह खूब फला–फूला।

समुद्रगुप्त के बाद उनके सुपुत्र चंद्रगुप्त द्वितीय सिंहासन पर बैठे जो बाद में विक्रमादित्य के नाम से विख्यात हुए, और जिनके दरबार के नौ रत्नों में महाकवि कालिदास जैसे अमूल्य रत्न भी थे। कालिदासकृत काव्य रचनाओं में संगीत का उल्लेख प्रचुर मात्रा में हुआ है। कुछ लोगों का मत है कि इस समय भारतीय संगीत का प्रचार–प्रसार रोम, फ्रांस, इंग्लैंड, आयरलैंड और हंगरी आदि देशों तक हो चुका था। हर्षवर्धन और उनकी बहन राजश्री ने भी संगीत के प्रचार–प्रसार में योगदान दिया था।

आज के शास्त्रीय और उपशास्त्रीय संगीत की अनेक धारायें भी लोक संगीत की कोख से ही जन्मी हैं। इसके अंतर्गत ध्रुवपद, धमार, खयाल, ठुमरी, दादरा और टप्पा आदि जैसी गान विधाओं को रखा जा सकता है। स्थान– भेद के कारण इनकी प्रस्तुतियों में अंतर भी दिखते रहे हैं। इसी अंतर के कारण ध्रुवपद की अलग–अलग वाणियां बनीं तो खयाल के अलग–अलग घरानें और ठुमरी के अलग–अलग अंग। वाद्य–यंत्रों में भी अलग–अलग बाज और घराने बने।

मार्गी संगीत का उल्लेख आचार्य भरत ने अपने ग्रंथ 'नाट्यशास्त्र' में किया है तो देशी संगीत का उल्लेख सर्वप्रथम 7वीं शताब्दी के मतंग मुनि ने किया था। 13वीं शताब्दी के आचार्य शारंगदेव के मतानुसार– मार्गी संगीत वह है जिसके कर्त्ता–अविष्कर्त्ता– ब्रह्मा, शंकर, आदि देवता हैं और जिसका स्वरुप पूर्णतः शास्त्रोक्त है। जबकि, देशी संगीत जन रुचि पर आधारित है। यही कारण है कि मार्गी संगीत कुछ ही लोगों– यानी विद्वत एवं धार्मिक श्रद्धालु वर्ग तक ही सीमित रहता है, जबकि देशी संगीत जन–जन को प्रिय होता है।

साहित्य में श्रृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, अद्भुत और शांत– ये नौ रस माने गये हैं। शांत रस को विद्वानों ने बाद में जोड़ा। इससे पहले 8 रस ही माने जाते थे। किंतु संगीत में श्रृंगार, वीर, करुण और शांत– इन चार रसों का ही मुख्यतः प्रयोग होता है। विद्वानों के मतानुसार, सा और रे– वीर, रौद्र तथा अद्भुत रसों के पोषक हैं। म और प से हास्य और श्रृंगार रसों की अनुभूति होती है। ग और नि से करुण रस की उत्पत्ति होती है, जबकि ध से वीभत्स रस की प्रस्तुति होती है। अतः सा और रे का स्थायी भाव उत्साह, विस्मय और क्रोध है। ग और नि का स्थायी भाव शोक है तथा मध्यम एवं पंचम का स्थायी भाव रति एवं हास है।

इंसान ने जब अपने कंठ से गाना शुरु किया तो उस गाने को अलंकृत करने के लिये वाद्यों के विषय में भी चिंतन–मनन करना शुरु किया। वाद्यों के आविष्कार के पूर्व गायक के साथ बैठे लोग अपने मुंह से हा हा, हू हू आदि जैसी ध्वनियों से लोगों को आनंदित करना आरंभ किया। बाद में लोगों ने अन्य प्रकार की ऐसी ही अन्य ध्वनियों के लिये सोचना और प्रयास करना आरंभ किया। परिणामस्वरुप विभिन्न प्रकार के हजारों वाद्य यंत्र संगीत की दुनिया से जुड़ते चले गये। वाद्य उन्हें कहते हैं, जिनका वादन किया जा सके, जिन्हें बजाया जा सके। वाद्य–वादन की परंपरा भारत में आरंभ से ही अत्यंत उन्नत अवस्था में रही है।

आदि कवि वाल्मीकि ने रामायण में तालयुक्त रामचरित गान को संस्कृत लक्षण संपन्न लिखा है। मार्कंडेय पुराण में ताल क्रिया विवेचन के साथ–साथ विभिन्न प्रकार के वाद्यों और उनके अन्य प्रकारों पर भी प्रकाश डाला गया है। छान्दोग्य उपनिषद् में गीत, वाद्यों एवं नृत्य तीनों

का वर्णन मिलता है। मौर्यकाल में भी वाद्य संगीत अत्यंन्त उन्नत अवस्था में था और गुप्तकाल में भी। सम्राट समुद्रगुप्त का वीणा वादन करते हुये चित्र सिक्कों पर अंकित होता था। कामसूत्र के रचयिता वात्स्यायन मुनि ने 64 कलाओं में वाद्य वादन को द्वितीय सोपान पर रखा था। वात्स्यायन के समय महिलायें पूरी स्वतंत्रता के साथ संगीत कला से जुड़ी हुई थीं। उन पर कोई रोक–टोक नहीं थी। महाकवि कालिदास के काल में मार्ग संगीत का प्रचलन कम होने लगा था और देशी संगीत निरंतर लोकप्रियता के सोपान पर चढ़ने लगा था। जातिराग एवं ग्राम रागों के अवशेष उस काल में मात्र वैदिक अनुष्ठान तक ही सिमट कर रहे गये थे, और देशी संगीत लोगों के गले का हार बन गया था।

प्रथम अवनद्ध वाद्य के रुप में 'भू–दुंदुभि' नामक वाद्य का उल्लेख प्राप्त होता है। जमीन पर फैले चमड़े की परतों पर वृक्षों से गिरते पत्तों और टहनियों के कारण एक विशेष प्रकार की ध्वनि ने मानव को एक वाद्य के निर्माण की प्रेरणा दी। अतः उसने जमीन में गड्ढ़ा खोदकर उसके मुख पर चर्म आच्छादित कर भू– दुंदुभि नामक वाद्य का निर्माण किया और उसे किसी मृत पशु की पूंछ या लकड़ी से बजाकर दूर–दूर तक बसे लोगों तक उसकी ध्वनि पहुंचाने लगा। बाद में मिट्टी के ढ़ांचे पर चर्म आच्छादित कर इंसान उसे भी बजाने लगा। इस वाद्य को दुंदुभि कहा गया। बाद में दुंदुभि का ढांचा लकड़ी का बनने लगा। अथर्ववेद में दुंदुभि के विषय में लिखा गया है– 'दुंदुभि का निर्माण काष्ठ से किया जाता था। उसका मुख परिपक्व चर्म से बनता था तथा इस मुख को चारो ओर से चर्म की वादियो से बद्ध किया जाता था। बद्धियों को मुलायम रखने के लिये उस पर तेल लगाया जाता था।'

उल्लेखनीय है कि तब अवनद्ध वाद्यों से एक ही तरह की ध्वनि निकलती थी और वे एक ही स्वर में बोलते थे। इस स्थिति में क्रांतिकारी परिवर्त्तन 'पुष्कर' नामक वाद्य के आविष्कार के बाद हुआ, जिसका वर्णन आचार्य भरतमुनि ने अपने ग्रंथ 'नाट्य शास्त्र' में किया है। पुष्कर– जो तीन वाद्यों का समूह होने के कारण त्रिपुष्कर और पुष्करत्रयी भी कहलाता था– वह प्रथम वाद्य था– जिसमें नदी किनारे की श्यामा मिट्टी लगाकर उसकी गूंज को कम और अधिक करने की व्यवस्था की गई। अंगुलियों से वादन के कारण जिसमें विभिन्न प्रकार के वर्णों का वादन संभव हो पाया था। भरत के अनुसार लगभग सौ प्रचलित अवनद्ध वाद्यों में से मात्र त्रिपुष्कर में ही स्वर, प्रहार, अक्षर व मार्जना संयोजन की व्यवस्था थी। इसलिये भरत ने त्रिपुष्कर को अंगवाद्य अर्थात् प्रमुख वाद्य लिखा। इसके दो भिन्न भाग थे। त्रिपुष्कर का एक भाग आंकिक आज मृदंग और पखावज के नाम से लोकप्रिय है, तो दूसरा भाग उर्ध्वक– जो सव्यक् और वामक नामक दो वाद्यों की जोड़ी थी जो आज तबला और बायां नाम से जाना जाता है। चूंकि तब ऐसे वाद्य मिट्टी के बनते थे, अतः उन्हें 'मृदंग' भी कहा जाता था। सव्यक और वामक को उर्ध्वक और उर्ध्वमुखी भी कहा गया। यही वाद्य आज तबला और बायां नाम से प्रचलित है।

ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी से ईसा की दूसरी शताब्दी के मध्य आचार्य भरतमुनि ने 'नाट्यशास्त्र' जैसी एक अनुपम ग्रंथ की रचना की, जो आज– लगभग दो हजार वर्षों बाद भी भारतीय नाट्य, गायन, वादन और नृत्य का आधार ग्रंथ माना जाता है। यद्यपि भरतमुनि ने नाट्य के संदर्भ में गायन, वादन और नृत्य की चर्चा की है, तथापि यह ग्रंथ आज भी अपनी प्रामाणिकता सिद्ध करते हुए लोगों का मार्गदर्शन कर रहा है।

मार्गी और देशी संगीत की चर्चा करते हुए मार्ग और देशी तालों पर भी एक दृष्टि डाल लेते हैं– भरत मुनि ने अपने ग्रंथ नाट्य शास्त्र में 5 मार्गी तालों का उल्लेख किया है– जिनसे मार्गी संगीत की संगति की जाती थी। इनके नाम हैं– 1, चच्चत्पुट, 2 चाचपुट, 3 षट्पितापुत्रक, 4 संपेक्वेष्टिका और 5 उद्घट। इन 5 तालों में चच्चत्पुट और चाचपुट तालों को प्रधान माना गया था, जिनमें चच्चत्पुट चतस्त्र जाति की, 4 मात्रा काल की, सम तालों की श्रेणी में आती है, जबकि चाचपुट त्रिस्त्र जाति की, तीन मात्रा काल की विषम श्रेणी की ताल है। शेष तालें इन्हीं दो तालों के संयोग से बनी हैं। षट्पितापुत्रक भी त्रिस्त्र जाति की ताल है जिसमें 6 अक्षर और 6 गुरु होते थे। संपेक्वेष्टिका का स्वरुप भी त्रिस्त्र था जिसमें कुल 6 गुरुओं का प्रयोग होता था। यह भी तीन गुरुओं वाली त्रिस्त्र जाति की ताल थी। इन सभी मार्गी तालों का प्रयोग नाट्यान्तर्गत गीत के साथ तथा नाट्य के पूर्वरंग में करने का विधान था। आज ये तालें न तो प्रचार में हैं और न तो इनका प्रयोग हो रहा है।

सातवीं शताब्दी में मतंग मुनि रचित 'बृहद्देशी' नामक एक महत्वपूर्ण ग्रंथ संगीत जगत को मिला। इसके बाद मंथर गति से संगीत की यात्रा आगे बढ़ती तो रही किंतु सोने की चिड़िया कहे जाने वाले इस शांति प्रिय देश की समृद्धि भी विदेशियों की आंखों में खटकती रही, अतः भारत पर विदेशियों के आक्रमणों का सिलसिला शुरु हो गया। महमूद गजनवी, मोहम्मद गोरी, अलाउद्दीन खिलजी, नादिर शाह और तैमूर लंग जैसे विदेशी आक्रांता भारत पर आक्रमण करते रहे। यहां की धन–सपंदा को लूटने के साथ–साथ यहां के महत्वपूर्ण ग्रंथों और शिक्षण–संस्थाओं को भी नुकसान पहुंचाते रहे।

तेरहवीं शताब्दी के महान् ग्रंथकार आचार्य शारंगदेव ने अपनी पुस्तक 'संगीत रत्नाकर' में 120 देशी तालों का विवरण दिया है। लेकिन, तेरहवीं शताब्दी से आज के 21वीं शताब्दी तक में– न केवल समय बहुत बदल गया है, बल्कि संगीत और संगीत शास्त्र में भी काफी बदलाव आ चुके हैं। शारंगदेव ने भारत भ्रमण कर अलग–अलग तरह के संगीत के साथ प्रचलित तालों का संग्रह कर अपनी पुस्तक में लिखा था।

तेरहवीं शताब्दी के महान् ग्रंथकार आचार्य शारंगदेव ने अपने ग्रंथ 'संगीत रत्नाकर' में वाद्यों का 4 भागों में वर्गीकरण इनकी वादन–विधि आदि को ध्यान में रखते हुए किया था जो इस प्रकार हैं–

(अ) तत अर्थात् तंत्री वाद्य– इस श्रेणी के वाद्य स्वर–प्रधान होते हैं। इनमें स्वरोत्पत्ति तांत अथवा तार के आंदोलन द्वारा होती हैं। इन वाद्यों में लगे तारों को अंगुली, मिजराब अथवा जवा आदि से आंदोलित करके भी स्वरोत्पत्ति की जाती है– जैसे वीणा के कई प्रकार, सुरबहार, सितार, सरोद, तानपूरा, गिटार, मैंडोलिन आदि तो कुछ को बजाने के लिये गज या छड़ी (BOW) का भी प्रयोग किया जाता है– जैसे सारंगी, इसराज, दिलरुबा, वायलिन, चेलो, तार शहनाई आदि। इन वाद्यों को धनुर्वाद्य भी कहते हैं।

(ब) सुषिर वाद्य– सुषिर वाद्य भी स्वर वाद्यों का ही एक प्रकार है किंतु इनमें वायु के आंदोलन द्वारा स्वरोत्पत्ति की जाती है। शंख, बांसुरी, शहनाई, हारमोनियम, क्लारनेट, नागस्वरम् आदि सुषिर वाद्यों के अंतर्गत आते हैं।

(स) घन वाद्य– घन वाद्य मूलतः लय–प्रधान होते हैं। इनका निर्माण कांस्य, तांबा, पीतल अथवा लौह आदि धातुओं द्वारा होता है। झांझ, मंजीरा, करताल, घंटे, घुंघरु आदि घन वाद्यों की ही श्रेणी में आते हैं, जिनके माध्यम से लय का निर्वहन किया जाता है, ताल का नहीं। किंतु प्राचीन काल में घन वाद्यों के माध्यम से ही संगीत की संगति की जाती थी।

(द) अवनद्ध वाद्य– अवनद्ध वाद्य मुख्यतः लय और ताल प्रधान होते हैं। इसमें किसी धातु, लकड़ी या मिट्टी से निर्मित ढांचे पर चर्म आच्छादित कर, किसी लकड़ी या हाथ से प्रहार कर आवाज उत्पन्न की जाती है। पखावज, मृदंगम् घंटम् तबला, ढोलक, नक्कारा, नाल, ढप, खोल, पुंग, ड्रम आदि अवनद्ध श्रेणी के ही वाद्य हैं।

भारतीय वाद्यों के वर्गीकरण की चर्चा करते समय हमें इस बात का भी ध्यान रखना होगा कि संगीत एक सर्जनात्मक कला है, अतः इसमें समय–समय पर परिवर्त्तन भी होते रहते हैं। आज हमारे संगीत में जलतरंग, नलतरंग, काष्ठ तरंग जैसे नवनिर्मित वाद्यों सहित संतूर भी शामिल हो गये हैं– जो हैं तो मूलतः स्वर वाद्य, लेकिन इनकी वादन विधि घन वाद्यों जैसी है। अतः उचित है कि वाद्यों के पांचवे प्रकार के विषय में भी गंभीरतापूर्वक विचार किया जाये। यहां इस बात का उल्लेख करना भी आवश्यक है कि पहले घन वाद्यों द्वारा ही संगीत की पूरी संगति की जाती थी, और अवनद्ध वाद्य सिर्फ लय और ताल का निर्वहन करते थे। जबकि, आज घन वाद्य सिर्फ ग्रामीण अंचल के लोक संगीत और भजन–कीर्त्तन तक सिमटकर रह गये हैं, और शास्त्रीय, उपशास्त्रीय तथा सुगम संगीत की संगति के लिये कलाकारों की पहली पसंद अवनद्ध वाद्य ही हो गये हैं।

तेरहवीं शताब्दी में संगीत के क्षेत्र में कई महत्वपूर्ण कार्य हुए। एक ओर तो आचार्य शारंगदेव ने 'संगीत रत्नाकर' जैसे अत्यन्त महत्वपूर्ण ग्रंथ की रचना की तो दूसरी ओर अलाउद्दीन खिलजी के दरबारी कवि और हजरत निज़ामुद्दीन औलिया के शिष्य हजरत अमीर खुसरो ने कव्वाली और तराना–जैसी गीत–शैली की शानदार शुरुआत की तो गोपाल नायक ने प्रबंध–गायन के क्षेत्र में अपनी दक्षता सिद्ध की।

आचार्य शारंगदेव ने अपने ग्रंथ में मार्गी संगीत

के साथ देशी संगीत के विषय में भी विस्तार से लिखा है। भरत मुनिकृत 'नाट्यशास्त्र' और शारंगदेवकृत 'संगीत रत्नाकर' ही दो ऐसे ग्रंथ हैं जो उत्तर और दक्षिण दोनों के ही संगीतकारों द्वारा आज भी सर्वाधिक प्रामाणिक माने जाते हैं। 'गीतम् वाद्यम् च नृत्यंम् त्रयम् संगीतमुच्यते' लिखकर संगीत को पारिभाषित करने वाले शारंगदेव ने अपने इस ग्रंथ के सात अध्यायों में– गुण–धर्म के आधार पर नाद के 5 प्रकारों पुष्ट, अपुष्ट, सूक्ष्म, अतिसूक्ष्म और कृत्रिम पर प्रकाश डाला है। आज पाश्चात्य संगीत में नाद के जो 5 प्रकार बास्स, टेनर, आल्टो, सोप्रेनो और फाल्सेटो बताये जाते हैं, उनका संपूर्ण विवरण शारंगदेव ने तेरहवीं शताब्दी में ही अपने ग्रंथ में दे दिया था। इसके अलावा सारणाचतुष्टयी, ग्राम, मूर्च्छना, तान निरुपण, वर्ण, अलंकार, शुद्ध और विकृत स्वरों का निरुपण इस ग्रंथ में किया गया है। उन्होंने 7 शुद्ध और 12 विकृत– यानी कुल 19 स्वरों को मान्यता दी थी। वादी, संवादी, अनुवादी और विवादी 4 प्रकार के स्वरों को मान्यता देकर 22 श्रुतियों और सारणाचतुष्टयी की भी व्याख्या की है। 264 रागों का उल्लेख करते हुए उन्होंने ग्राम राग, राग भाषांग, उपांग, अंतर भाषा, विभाषा के रुप में वर्गीकृत किया है। प्रबंध अध्याय में अनिबद्ध और निबद्ध गान, तथा 75 प्रकार के प्रबंधों का उल्लेख हुआ है। तालाध्याय में मार्गी और देशी तालों का विस्तृत विवरण है। वाद्य अध्याय में वाद्यों के 4 प्रकारों पर प्रकाश डाला गया है तो अंतिम अध्याय में नृत्त, नृत्य और नाट्य के विषय में विस्तार से लिखा गया है।

उत्तर भारतीय संगीत में प्रचलित तालों पर दृष्टि डालते हैं तो सबसे छोटी ताल के रुप में 6 मात्रे की दादरा और सबसे बड़ी ताल के रुप में 28 मात्रे की ब्रह्म ताल दृष्टिगत होती है। चूंकि उत्तर भारतीय संगीत में तालों पर काफी सूक्ष्म दृष्टि से और विस्तारपूर्वक काम हुआ है, इसीलिये इस संगीत शैली में अलग–अलग गीत प्रकारों के लिये भी, और अलग–अलग गतियों में बजाने के लिये भी तालों की रचना हुई है। अतः यहां समान मात्राओं की कई तालें भी प्रचलित हैं, जैसे 7 मात्रा में रुपक, तीव्रा और पश्तो। 10 मात्रा में झपताल और सूलताल, 12 मात्रे में एकताल और चारताल, 14 मात्रा में दीपचंदी, झूमरा, आड़ाचारताल और धमार तथा 16 मात्रे में त्रिताल, तिलवाड़ा, जत और अद्धा पंजाबी आदि। उत्तर भारतीय संगीत के विद्वानों ने तालों को एक बहुत बड़ी सौगात ठेके के रुप में दी है जो इसकी निजी विशेषता है। यही कारण है कि यहां के प्रचलित तालों के ठेकों में कश्मीर से कन्याकुमारी तक एकरुपता पाई जाती है, जबकि अन्यत्र, अन्य संगीत शैलियों में ऐसा नहीं है।

18 पुराणों में से वायु पुराण, मार्कंडेय पुराण और विष्णु पुराण में संगीत का प्रचुर उल्लेख मिलता है। विष्णु पुराण में ही भगवान विष्णु का यह मशहूर कथन है–

नाहं वसामि बैकुंठे योगिनां हृदये न च।
मद्भक्ता यत्र गायंति तत्र तिष्ठामि नारदः।

इन पुराणों में 'स्वर मडल' नामक एक शब्द का उल्लेख मिलता है, जिसका अभिप्राय सातों स्वर, षडज ग्राम, गांधार ग्राम और मध्यम ग्राम जैसे तीनों ग्राम और 49 तानों का समावेश होता था। निबद्ध, अनिबद्ध, अताल और सताल जैसे 4 प्रकार के पदों का उल्लेख मिलता है। तब वाद्यों को 'आतोद्य' कहा जाता था, और तत्, अवनद्ध, घन तथा सुषिर जैसे इनके 4 प्रकार प्रचलित थे। चतस्त्र, तिस्त्र, मिश्र और खंड जैसे 4 प्रकार के ताल और विलंबित, मध्य तथा द्रुत जैसे तीन प्रकार के लय मान्य थे। 14वीं शताब्दी तक संम्पूर्ण भारत में एक ही प्रकार का संगीत प्रचलित था।

किंतु 10वीं शताब्दी से उत्तर भारत में मुगलों के लगातार आक्रमण और उनके यहीं बस जाने के कारण उनके संगीत के प्रभाववश उत्तर भारतीय संगीत में भी शनैः–शनैः परिवर्तन होने लगा। परिणाम यह हुआ कि भारतीय शास्त्रीय संगीत उत्तर भारतीय हिन्दुस्तानी संगीत और दक्षिण भारतीय कर्णाटकीय संगीत जैसे दो भागों में विभाजित हो गया। तेरहवीं शताब्दी से भारत में मुगलों की सत्ता स्थापित होने लगी थी। उनके आक्रमणों का मुख्य केंद्र उत्तर भारत था। अतः उनके संपर्क में आने के कारण उत्तर भारतीय संगीत में परिवर्त्तनों का सिलसिला आरंभ हो गया था, जबकि दक्षिण भारतीय संगीत इससे अस्पर्षित रहा। अतः उत्तर भारतीय संगीत और दक्षिण भारतीय संगीत के बीच एक विभाजक रेखा खींचने लगी थी जिसे आज हम स्पष्ट तौर पर देख पा रहे हैं।

14वीं शताब्दी में भारत में प्रचलित लोक–शैली के गायन खयाल को अभिजात्य संगीत का स्पर्श देकर शास्त्रीय संगीत में ढालने का प्रयास जौनपुर के सुल्तान हुसैन शर्की ने जौनपुर (उत्तर प्रदेश) में शुरु किया था।

इन्हें ही जौनपुरी राग का सर्जक भी कहा जाता है। एक ओर यह हो रहा था, तो दूसरी ओर संपूर्ण भारत में वैष्णव धर्म के प्रचार–प्रसार के लिये संतों ने कमर कस ली थी। उत्तर भारत में आचार्य वल्लभाचार्य, असम में महापुरुष शंकर देव और पंश्चिम बंगाल में चैतन्य महाप्रभु आदि इसका नेतृत्व कर रहे थे। वल्लभाचार्य ने पूरे देश में वैष्णव धर्म के मंदिरों की स्थापना कर ब्रज–भाषा में अनुपम सांगीतिक पदों को रचा और जन–सामान्य के बीच प्रचारित किया, जिसे 'हवेली संगीत' कहा गया। लगभग इसी समय संत संगीतज्ञ स्वामी हरिदास प्रबंध और विष्णुपद के गायन के आधार पर ब्रजभाषा में रचित ध्रुवपद गायन की नींव डाल रहे थे, जिन्हें बाद में उनके सुशिष्य नायक बैजनाथ उर्फ बैजू बावरा ने ग्वालियर के राजा मानसिंह तोमर के संरक्षण में आगे बढ़ाया। मानसिंह तोमर के समय में संगीत का काफी विकास हुआ। ध्रुवपद–जैसी गायकी को शास्त्रीयता से सुसज्जित कर राज दरबारों में प्रतिष्ठित करने का प्रथम श्रेय इनके राज गायक नायक बैजनाथ उर्फ बैजू बाबरा को प्राप्त है। ग्वालियर में मानसिंह तोमर के संरक्षण में एक संगीत विद्यालय भी चलता था। उनकी गूर्जरी रानी मृगनैनी के नाम पर राग गूर्जरी तोड़ी का आविष्कार भी इसी समय हुआ, और इसी समय 'मानकुतूहल' जैसा महत्वपूर्ण सांगीतिक ग्रंथ भी लिखा गया। हम इस इतिहास को आगे क्रम से जान सकेंगे।

ok| lxhr dk fldMrk llkj

ik- luhjk dklyhoky 0;kl *

वाद्य संगीत के इतिहास में 19वीं एवं 20वीं शताब्दी का विशेष स्थान है। इस काल–खण्ड को वाद्य संगीत को समर्पित करें तो भी अतिशयोक्ति नहीं होगी। 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के और 20वीं शताब्दी में पूवार्द्ध में हिन्दुस्तानी संगीत में कई नए वाद्यों का आगमन हुआ। तानसेन के समय से चले आ रहे दो वाद्य '**:n oh.kk*** और '**jokc*** के साथ ही '**ljflxkj*] ^ljcgkj*] ^fofp= oh.kk*** का और फिर कालान्तर में '**flrkj**' व '**ljkn**' का विकास हुआ। सारंगी और सितार को जोड़कर एक मिश्रित वाद्य **^bljkt*** और '**fny#ck*** भी 20वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक विकसित हो चुके थे। आज़ादी के आने के साथ ही स्वतंत्र भारत में कुछ नए वाद्यों का विकास हुआ जिनमें '**ckljh*** और '**'kgukb*** प्रमुख हैं। इसी दौर में '**lkjxh*** एकल वाद्य की तरह उभरा। इसी समय कुछ पाश्चात्य वाद्य भी हमारे यहाँ आ गए जिनमें '**gkjekfu;e**' सबसे पहला था। 1930 के आसपास '**ok;fyu*** और लगभग इसी समय '**DyfjuV**' का पदार्पण हुआ। बाद में गिटार और अब चैलो का प्रादुर्भाव हुआ। **^lDlkQku*] ^e.Mkfyu*** का आगमन दक्षिण भारत में हुआ। इसी बीच हमारा एक प्राचीन वाद्य शततंत्री वीणा 'संतूर' के नाम से उभरा और देखते–देखते हमारे संगीत जगत पर छा गया। 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ही दिल्ली में उस्ताद मसीत खाँ हुए जिन्होंने वाद्य संगीत की नवीन वादन शैली का प्रादुर्भाव किया। नाम दिया गत शैली। और इस तरह वाद्य संगीत की गायन से स्वतंत्र एक नवीन वादन सामग्री का जन्म हुआ।

कहा जाता है कि अकबर के दरबार में प्रसिद्ध रूद्र वीणा वादक समोखन सिंह की कला से प्रेरित होकर मियाँ तानसेन ने लोकसंगीत में प्रचलित एक वाद्य में आवश्यक परिवर्तन एवं परिवर्धन कर एक नवीन वाद्य को जन्म दिया जिसे 'ध्रुपदी रवाब' कहा गया। तानसेन के पुत्र–वंश में रवाब वादन एवं पुत्री–वंश में रूद्र वीणा वाद्य के वादन की परम्परा चली और इन्हें रवाबी एवं बीनकार कहा गया।

इस तरह मध्यकाल में दो वाद्य रूद्र वीणा और रवाब सेनिया–परम्परा से जुड़े और राज दरबारों के सिरमौर बन गए। जो भी छोटी–से–छोटी रियासत थी वो इन दोनों वाद्यों के वादक कलाकारों को अपने दरबारी संगीतज्ञों में शामिल करना चाहती थी। ये दोनों ही वाद्य सेनिया–परम्परा से जुड़े थे और खानदानी कलाकारों द्वारा ही बजाये जाते थे। सेनी खानदान से जुड़े कलाकारों को अपने दरबार में रखना उस समय बहुत फख्र की बात समझी जाती थी। सेनी परम्परा के इसी वर्चस्व के चलते लगभग 300 वर्षों तक इन दोनों वाद्यों के अतिरिक्त आभिजात्य संगीत में किसी अन्य वाद्य का प्रवेश नहीं हो पाया। सेनियों में खून के रिश्ते के अतिरिक्त इन वाद्यों की तालीम किसी बाहरी व्यक्ति को नहीं दी जा सकती थी, इसके परिणाम स्वरूप ये वाद्य सेनी परम्परा में ही सिमट कर रह गए। चूँकि खून के रिश्ते के अतिरिक्त बाहर के व्यक्ति को **^:n oh.kk*** और **^jokc*** की तालीम नहीं दी जा सकती थी। अतः धीरे–धीरे इन वाद्यों के वादक कलाकार कम होते चले गए। दूसरी तरफ सेनी घराने के कलाकारों को जीवन–यापन के लिए घर से बाहर के शिष्यों को संगीत की शिक्षा देना एक जरूरत बन गई। पर कसम के कारण इस में समस्या होने लगी। ऐसे में सेनी घराने के संगीतकारों के हाथों कई नवीन वाद्यों का जन्म हुआ। सर्वप्रथम एक नवीन वाद्य का प्रादुर्भाव हुआ नाम था '**ljcgkj**'। सुरबहार का जन्म सेनी घराने के बीनकार उमराव ख़ाँ के हाथों लगभग सन् 1830 के आसपास लखनऊ में हुआ। इस नवीन वाद्य की विशेषता यह थी कि **^:n oh.kk*** का पूरा–का–पूरा अंग व तकनीक इस वाद्य पर बजाया जा सकता था। इसके कुछ समय बाद में बनारस में राजा उदित नारायण के दरबारी संगीतज्ञ जाफर खाँ के हाथों ध्रुपद रवाब के एक परिवर्धित रूप का जन्म हुआ, नाम था '**ljflxkj**'। इस तरह अब सेनी परम्परा के संगीतकार अपने परिवार में बाहर के शिष्यों को सुरबहार और सुरसिंगार की तालीम देने लगे। इन दोनों ही वाद्यों पर ध्रुपद अंग का नोम–तोम आलाप और सम्पूर्ण रागदारी का विस्तारपूर्वक निष्पादन किया जा सकता था। अलाउद्दीन खाँ को भी मु. वजीर खाँ ने सम्पूर्ण बीन अंग सुरसिंगार पर ही सिखलाया था। इसके साथ–साथ लगभग

*सीनियर प्रोफेसर (अवकाश प्राप्त), संगीत एवं ललित कला संकाय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

समानान्तर दो अन्य वाद्य सितार व सरोद भी लगातार विकसित हो रहे थे। सेनी घराने के कलाकारों ने इन दोनों वाद्यों की क्षमताओं को देखा–परखा और इन्हें भी अपने वाद्यों के परिवार में शामिल कर दिया। 20वीं शताब्दी के प्रारम्भ में '**fofp= oh.kk***' का प्रादुर्भाव हुआ। इसके जनक अब्दुल अज़ीज़ खाँ माने जाते हैं जिन्होंने पटियाला दरबार के संगीतज्ञ होते हुए वाद्य निर्माता रिक्खी राम के साथ मिलकर इस वाद्य का आकार–प्रकार निश्चित किया। गायन की संगत करने हेतु एक गज वाद्य सारंगी जो पहले लोक संगीत तक ही सीमित था, शनैः–शनैः विकसित हुआ और फिर अपनी सुन्दर आत्मीय मधुरतायुक्त ध्वनि के कारण आभिजात्य संगीत का निहायत ही जरूरी हिस्सा बन गया। लगभग इसी समय ताउस, सारंगी और सितार के संयोग से दो नवीन मिश्रित वाद्यों का जन्म हुआ। पहला 'इसराज' जो भारत के पूर्वी प्रदेश में जन्मा और दूसरा '**fny#ck***' जो भारत के उत्तर में जन्मा। '**bljkt***' का सम्बन्ध विशेषतः बिहार प्रान्त से है तो दिलरुबा का पंजाब के पटियाला रियासत से।

बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में यानि 1900 से 1935 तक भारत में कई पाश्चात्य वाद्यों का आगमन हुआ जिनमें **^gkjeksfu;e*** और '**ok;fyu**' प्रमुख वाद्य थे। ओरगन और क्लैरिनेट भी आए किन्तु इन्हें शास्त्रीय संगीत में इतनी लोकप्रियता नहीं मिली। संगीत के प्रान्तीय प्रकारों और फिल्म संगीत तक ही ये सीमित रहे।

इस समय यानि 20वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक **rkuijk** वाद्य का मानकीकरण हो चुका था और महाराष्ट्र का मिरज जिला तानपूरा निर्माण–केन्द्र के रूप में बड़ी तेजी से अपनी पहचान बना रहा था। शेष सभी तंत्री वाद्यों की निर्माण–स्थली कलकत्ता और उत्तर प्रदेश के लखनऊ व बनारस प्रसिद्ध थी। विद्वानों का मानना है कि मिरज जिले में बंदूकें बनाने वाले कारीगरों को तानपूरा निर्माण–क्षेत्र में लाने का श्रेय उ. अब्दुल करीम खॉ को दिया जाता है।

:n oh.kk] lqj cgkj और **lqj flxkj** के लिए जहाँ पखावज की संगत होती थी वहीं सितार, सरोद एवं अन्य वाद्यों के लिए तबला की संगति होती थी। स्वतंत्रता–प्रাপ्ति के आसपास देश में नव जागरण की लहर चली और संगीत जगत में तीन नए वाद्य उभरे **ckalqjh] 'kgukbZ** और **larwj**। जहॉं बाँसुरी का विकास उत्तर भारत और दक्षिण भारत दोनों जगह हुआ वहीं शहनाई वाद्य का विकास प्रमुखतः वाराणसी और उसके आसपास के क्षेत्र में हुआ। दक्षिण में एक डबल रीड वाद्य **ukxLoje** का विकास हुआ। वह भी शहनाई की तरह मंगल वाद्य ही है। इसका **^iapok|e*** में प्रमुख स्थान है।

'**larwj***' मूलतः कश्मीरी वाद्य है जिसका वादन पारम्परिक रूप से सूफियाना कलाम में होता रहा है। कई कलाकारों के अथक प्रयासों से संतूर का एक परिवर्तित मॉडल–हिन्दुस्तानी संगीत का हिस्सा बना। 1950 के बाद हिन्दुस्तानी संगीत में गिटार वाद्य का प्रवेश हुआ और इसी समय कर्नाटक संगीत में '**eaMksfyu***' और 'सैक्सोफोन' आकर जुड़े। 21वीं शताब्दी के प्रारम्भ में **^pSyks*** वाद्य का आगमन हुआ। जब ये सब वाद्य और इनके वादक संगीत जगत में तहलका मचा रहे थे कुछ अन्य वाद्य भी अपना करिश्मा दिखाते थे। उनमें 'जल तरंग' और 'नल तरंग' प्रमुख नाम हैं। जल तरंग रागदारी संगीत की प्रस्तुति के लिए पूर्णतः सक्षम था और आकाशवाणी के कई नामचीन कलाकार लगातार जल तरंग के कार्यक्रम प्रस्तुत करते थे।

1950 के आते–आते ध्रुपदी 'रवाब' वाद्य लगभग समाप्त प्रायः हो गया और '**:n oh.kk**' के वादक भी बहुत गिने चुने रह गये। इसी समय तक सितार व सरोद का इतना विकास हो गया कि सितार वाद्य पर बीन के समस्त अंगों का और सरोद पर रवाब व सुरसिंगार के सभी अंगों का संपूर्ण वादन संभव हो गया। अतः शनैः–शनैः रूद्रवीणा, सुरबहार, रवाब व सुरसिंगार वाद्य संगीत के दृश्य पटल से ओझल से होने लगे। 20वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक विचित्र–वीणा वाद्य भी समाप्ति के कगार तक पहुँच गया और नई पीढ़ी ने इसके स्थान पर '**LykbM fxVkj***' को अपना लिया। आज राष्ट्रीय स्तर का कोई विचित्र वीणा वादक हमारी जानकारी में नहीं है। लेखिका के पहले गुरू पं. लालमणि मिश्रा '**fofp= oh.kk**' के अंतर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त कलाकार एवं '**ty rjax***' के आकाशवाणी के नियमित कलाकार थे।

स्वतंत्रता–प्राप्ति की नवीन वेला में हिन्दुस्तानी संगीत के दृश्य पटल पर अनेकानेक प्रतिभाशाली वादक उभरे और पूरे भारत ही नहीं, वरन् विश्व के संगीत जगत में छा गये। सितार, सरोद, संतूर, सारंगी, इसराज, विचित्र वीणा के साथ फूंक वाले वाद्य, जैसे–शहनाई और बाँसुरी के होनहार प्रचंड प्रतिभा सम्पन्न कलाकारों ने उत्तर भारतीय संगीत को विश्व प्रसिद्ध बना दिया। इन्हीं वाद्यों के समानान्तर कई पाश्चात्य वाद्यों का भारतीयकरण करते हुए कई

कलाकारों ने संगीत की बुलंदियों को छुआ। भारत के हर छोटे–बड़े शहर में इन वाद्यों के वादकों की उपस्थिति थी और देश विदेश के हर बड़े से बड़े और छोटे से छोटे संगीत जलसे में इन वाद्यों की तूती बोलती थी। इन वाद्यों की झंकार से हर संगीत प्रेमी भारतीय का हृदय झंकृत होता था। इतनी बड़ी तादाद में वाद्यों और बड़े–बड़े वादकों की उपस्थिति से 20वीं शताब्दी को वाद्य संगीत की शताब्दी कहा जाने लगा। और गौर करें तो यह बात सत्य भी प्रतीत होती है। इसी शताब्दी में एक–से–बढ़कर एक वाद्य निर्माता भी हमारे समक्ष आये जिन्होंने वाद्यों की आवाज़ के साथ अनेकानेक प्रयोग किये और एक–से–बढ़–कर–एक वाद्यों में नए परिष्कार किये। कलाकारों के साथ मिलकर उनकी कल्पना के अनुरूप ध्वनि उत्पन्न कर सकने वाले वाद्य बनाए और उन वाद्यों के माध्यम से कलाकारों ने संगीत की नई–से–नई शैलियाँ बनाईं और वाद्य संगीत की बुलंदियों को छुआ। 20वीं शताब्दी से पूर्व किसी भी वाद्य का मानकीकरण (Standardization) नहीं हुआ था। अधिकांश वाद्य कलाकार की देहानुसार ही बनाए जाते थे। परन्तु अब वाद्यों का मानकीकरण हुआ। सितार, सरोद, सारंगी और तानपूरा वाद्यों की लम्बाई–चौड़ाई और उनके तुम्बों की लम्बाई इत्यादि तय की गई। सरोद व सारंगी जैसे वाद्यों में खुदाई कितनी की जाए यह भी प्रमाण तय किये गए। वाद्य–निर्माण कला का व्यवसाय एक उपयोगी उद्योग माना जाने लगा जिसमें पहली बार 'प्रोफेशनलिज़्म' की झलक मिलने लगी। वाद्य निर्माण में नए–नए प्रयोग किये जाने लगे और कई वाद्य–निर्माताओं ने अपने पेटेंट भी बनाए। कई वाद्य–निर्माता अपने वाद्य निर्माण की उन्नत तकनीक से देश ही नहीं, विदेशों में भी विख्यात हो गए। जैसे हिरेन रॉय और हेमेन सेन।

ये वो समय था जब रूद्र वीणा व रवाब के साथ सुरबहार और सुरसिंगार और सितार व सरोद भी महफिलों में सुनाई देते थे। सारंगी के साथ इसराज व दिलरुबा भी मंचासीन थे तो साथ ही नवीन प्रविष्ट साज '**lrj**' के साथ ही पश्चिमी वाद्य **^ok;fyu*** व **^fxVkj*** भी वरिष्ठ कलाकारों के हाथों में थे। शहनाई के जैसे '**ykmM**' वाद्य पर महीन और बारीक काम होने लगा था और कई मंजे हुए कलाकारों ने हिन्दुस्तान की संगीत महफिलों में इसे श्रोताओं का पसंदीदा साज़ बना दिया था। साथ ही, बाँसुरी–जैसे लोकवाद्य को भी शास्त्रीय संगीत के सभी रागों की प्रस्तुति के लिए उपयुक्त बनाते हुए कलाकारों ने इस वाद्य को नई ऊँचाइयों तक पहुँचा दिया। प्रत्येक संगीत महफिल में गायन की संगति के लिए तानपूरों की सुरीली झनकार और सुरमण्डल की खनकदार आवाज़ एक चिर परिचित पहचान थी। कोई भी छोटे–से–छोटा और बड़े–से–बड़ा संगीत जलसा अनेकानेक वाद्यों की गूँज से गूँजता रहता था। कई साधक वादक ऐसे थे कि रात में मंच पर आते थे तो सुबह भैरवी बजाकर ही कार्यक्रम का समापन करते थे।

धीरे–धीरे समय बदला और रूद्र वीणा और रवाब के साथ–साथ सुरबहार और सुरसिंगार भी संगीत–जलसों से गायब होते गये। सारंगी के गिने–चुने कलाकार रह गये और उसके स्थान पर विदेशी टैम्पर्ड स्केल के साज़ हारमोनियम का वर्चस्व बढ़ने लगा। विचित्र वीणा के दिग्गज़ कलाकार एक–एक कर विदा हो गए और नई पीढ़ी ने इस साज़ की जगह विदेशी साज़ गिटार को अपना लिया। रूद्र वीणा और रवाब के कलाकार नही रहे तो धीरे–धीरे इन साज़ों को बनाने वाले वाद्य–निर्माता भी खत्म होते चले गए। यही हाल सारंगी का भी हुआ। एक ज़माने में सारंगी निर्माण के लिए मशहूर शहर मेरठ में सारंगी बनाने वाले रह ही नहीं गए। एक नए वाद्य–निर्माता राजेश जी ने जिनका मूल काम सितार बनाना था, उन्होंने पिछले कई वर्शों की मेहनत से और पं. रामनारायण जी के मार्ग–दर्शन में मेरठ शहर में पुनः सारंगी बनाना शुरू किया है।

बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में 1970/71 में संगत–वाद्यों के क्षेत्र में एक ज़बर्दस्त क्रान्ति आई, इलेक्ट्रिक **^Loj iVh*** के आविष्कार के रूप में। प्रारम्भ में ये इलेक्ट्रिक यंत्र वादकों की सहायतार्थ मार्केट में आए किन्तु उपयोग करने में इनकी सुविधा और सरलता के चलते गायन और वादन सर्वत्र क्षेत्रों में इन उपकरणों ने अपना साम्राज्य जमा लिया। धीरे–धीरे ये वाद्य '**byfDVd**' से '**byDVkfud**' हुए और इन्होंने जल्द ही '**,dkfLVd**' तानपूरा की जगह ले ली। इसके साथ ही, इलैक्ट्रोनिक तबला और इलैक्ट्रोनिक लहरा देने वाले संगत करने वाले बिजली से चलने वाले यंत्र भी इस क्षेत्र में उभर कर आए और संगीत जगत पर छा गये। प्रारम्भ में ये इलैक्ट्रोनिक यंत्र कलाकारों के लिए घर में रियाज़ करने के लिए सहायक सिद्ध हुए। पर, जल्द ही इन उपकरणों ने प्रैक्टिस सैशन्स में तबला

संगतकार की जगह ले ली। उसी तरह कथक के विद्यार्थियों के लिए 'लहरा प्लेयर' भी उनके प्रैक्टिस में सहायक सिद्ध होने लगा। बीसवीं शताब्दी के अंत तक इलैक्ट्रोनिक तानपूरे के अनेक संस्करण बाज़ार में आए। सबसे अधिक क्रान्ति गायन के क्षेत्र में तब हुई जब इक्कीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में मोबाईल पर ऑपरेट किये जा सकने वाले अनेक '**,lyhd'kUl**' (एप) बाज़ार में आ गए जिनको इन्टरनेट की सहायता से कहीं भी आसानी से इस्तेमाल किया जा सकता था। फलस्वरूप अब ये 'मोबाईल एप' इलैक्ट्रोनिक सुरपेटी, इलैक्ट्रोनिक तानपूरे के साथ–साथ मंच पर दिखाई देने लगे। जैसे–जैसे इन एप्लीकेशन्स में तानपूरे की ध्वनि की हूबहू नकल करती हुई ध्वनि प्राप्त होने लगी । संगीत की महफिलों से तानपूरे ओझल होने लगे। संगीत की कक्षाओं से पहले ही दूरी बना चुके तानपूरे जब मंच पर भी दिखने बंद हो गए तो शनैः शनैः गायन के विद्यार्थियों के घरों में तानपूरे मिलना बंद हो गए। आज ये आलम है कि गायन के कई विद्यार्थी ऊँची डिग्री तो प्राप्त कर लेते हैं लेकिन 'एकॉस्टिक' तानपूरा या 'मैनुअल' तानपूरे को छू भी नहीं पाते। तानपूरा मिलाना और तानपूरे के साथ गाना, रियाज़ करना गाने वाले विद्यार्थी की ट्रेनिंग का एक अति आवश्यक हिस्सा होता है जो शनैः–शनैः संगीत के विद्यार्थियों से दूर होता जा रहा है। आज गायन के कई मंच–प्रदर्शन बिना एकॉस्टिक तानपूरे के 'इलैक्ट्रोनिक तानपूरे' या 'तानपूरा एप' के सहारे सम्पन्न हो जाते हैं। लेखिका ने कोलकाता के आई. टी.सी.एस.आर.ए. के प्रतिष्ठित मंच पर लगभग 10 वर्ष पूर्व प्रत्यक्ष इस स्थिति को देखा है जहाँ सभी कलाकार बिना एकॉस्टिक तानपूरा के अपनी प्रस्तुति दे रहे थे। और तानपूरे की जगह मोबाईल पर किसी एप की सहायता से तानपूरे– जैसी ध्वनि प्राप्त कर रहे थे। इसके लिए एकॉस्टिक तानपूरे की जवारी ठीक न होना, सही तानपूरे उपलब्ध न होना तथा साथ ही, तानपूरे मिलाने में समय अधिक नष्ट होता है, जैसी दलीलें दी जाती हैं। एकॉस्टिक या मैनुअल तानपूरों के प्रति नई पीढ़ी की इस उदासीनता का सीधा असर तानपूरा बनाने वाले उद्योग पर पड़ा है और बहुत सारे वाद्य निर्माता इस पुश्तैनी काम से विमुख हो रहे हैं। इसी प्रकार, आज स्कूल, कॉलेजों में वाद्य–संगीत के विद्यार्थियों की लगातार गिरती संख्या ने सितार की माँग में भी कमी कर दी है। धीरे–धीरे जयपुर, लखनऊ, बनारस जैसे शहरों में दिखने वाली वाद्यों की दुकानें बंद होने की कगार पर हैं। जब वाद्यों के वादकों की कमी है तो वाद्यों की दुकानों के साथ ही वाद्यों की साज संभार करने वाले कारीगरों की भी कमी हो गई है। आज कल मुम्बई और दिल्ली जैसे बड़े शहरों में भी सितार की जवारी करने वाले अच्छे कारीगरों की बहुत कमी हो गई है। रविशंकर स्टाईल में लरज–ख़रज के तारों की सही तरह जवारी करके उसकी आवाज़ को खोल सके, ऐसा कोई विरला ही कारीगर आज रह गया है। ऐसी समस्या रूद्र वीणा, रवाब, सुरबहार, सुरसिंगार और सरोद सभी तार वाद्यों के लिए एक समान है। इस दिशा में नई पीढ़ी के कारीगरों का कोई रुझान भी नहीं दिखाई देता।

बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में कश्मीर के प्रान्तीय संगीत से एक वाद्य उभरा और हमारे हिन्दुस्तानी संगीत का हिस्सा बन गया। नाम है '**lrj**'। '**gkil***' श्रेणी का यह वाद्य हमारे प्राचीन संगीत की **^'kr r=h*** वीणा का विकसित रूप है। आज यह वाद्य संगीत की नई पीढ़ी में बहुत लोकप्रिय हो रहा है। यह एक तरफ प्रसन्नता की बात है तो दूसरी तरफ एक प्रश्न यह उठता है कि इसकी वादन तकनीक 'स्ट्रक' है जिससे स्वरों पर प्रहार करके स्वर निष्पादन होता है। भारतीय संगीत की आत्मा मींड और गमक में निहित है। और बहुत राग हैं जिनका निष्पादन संतूर में अधूरा–सा लगता है। हालांकि सभी शीर्ष संतूर वादकों ने संतूर में मींड और गमक की कमी को भरने की भरपूर कोशिश की है और नवीन तकनीकों का ईज़ाद किया है। किन्तु संतूर में अभी भी ध्रुपद अंग की आलापचारी को प्रस्तुत कर सके, ऐसी तकनीक डेवेलप नहीं हुई है।

इक्कीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में एक नवीन वाद्य उत्तर भारतीय संगीत में आकर जुड़ा जिसका नाम है '**pyk**'। धीर गम्भीर ग़हरी ध्वनि निष्पादन के साथ इस वाद्य पर ध्रुपद अंग के आलाप जोड़ का सुन्दर निष्पादन होता है। परन्तु इस वाद्य के कलाकार अभी बहुत कम ही हैं। संयोग से अभी जो भी इस वाद्य की कलाकार हैं वो दोनों विदेशी हैं। भविष्य में इस वाद्य का क्या स्वरूप होगा, ये आने वाला समय ही बताएगा।

विदेशी 'टेम्पर्ड स्केल' युक्त होने और 'की बोर्ड' वाद्य होने के कारण हारमोनियम वाद्य ने उत्तर भारतीय संगीत में अपनी जगह बनाने के बावजूद बहुत से इल्ज़ाम झेले हैं। विविध हारमोनियम वादकों ने हारमोनियम निर्माताओं के साथ टीम वर्क में हारमोनियम के एक–से–बढ़कर–एक परिवर्धित

मॉडल तैयार किये हैं। उन्हें सफलता भी मिली है। इस सरलता और सहजता से बजने वाले '**ihV;UM dh ckM**' के चलते भारतीय संगीत की सच्ची और आत्मिक प्रस्तुति करने वाला वाद्य **lkjxh** सचमुच आज पिछड़ गया है। नाखून की जड़ से बजने वाले इस वाद्य की बोइंग और वादन–तकनीक बेहद कठिन है। इस वाद्य में तीन मुख्य वादन–तन्त्रियों के साथ–साथ छत्तीस सहायक तार होते हैं जिन्हें '**rjc d rkj**' और '**>kj d rkj**' कहते हैं। इतनी बड़ी संख्या में तरबों की उपस्थिति वादक के लिए मुश्किल उत्पन्न करती है। तरबों का ज़रा–सा बेसुरा होना पूरे सारंगी–वादन में बेसुरापन पैदा कर देता है क्योंकि ये एक बेपर्दा साज़ है। यदि सारंगीवादक इस क्षेत्र में विचार करें और कुछ तरबें कम करें तो शायद नए वादकों के लिए कुछ उत्साहवर्धक परिणाम होंगे। सारंगी का छोटा रूप और सारंगी और वॉयलिन का मिश्रण कर एक '**ok| cyk**' बहार, कुछ वर्ष पूर्व लेखिका ने देखा था और सराहा था, इसे बाबूलाल गंधर्व ने बनाया था। पर वह वाद्य कालांतर में कहीं खो गया।

संगीत के मंचों पर गायब होता एक अन्य वाद्य है **^lje.My**'। अभी कुछ ही वर्ष पूर्व तक प्रायः गायक मंचासीन होते थे तो एक सुन्दर–सा पंचकोणी वाद्य उनके हाथ में रहता था– सुरमण्डल। जैसा नाम से ही इंगित होता है ये वाद्य स्वरों का एक मण्डल–सा बना देता है जिससे गायक को प्रेरणा मिलती रहती है। उस्ताद बड़े गुलाम अली खाँ और विदुषी किशोरी अमोणकर के हाथों में ये वाद्य श्रोताओं ने अवश्य देखा होगा। दुख है कि आजकल यह वाद्य भी कलाकारों के हाथों से विदा हो गया है और इसका स्थान लिया है '**rcyk ik ,i**' ने जिसमें पीछे से सुरमण्डल की झंकार भी निकलती रहती है। किन्तु इस मैकेनिकल ध्वनि का मुकाबला आप कलाकार के हाथ वाले सुरमण्डल से नहीं कर सकते। कई बार कलाकार जिस स्वर पर गाते–गाते विश्राम करना चाहते हैं उसे पहले से ही सुरमण्डल पर झन्कृत कर देते हैं– जब सुरों की अनुगूंज होती है वो क्षण श्रोताओं के लिए कितना आल्हादकारी अनुभव होता है ये अनुभूति अब धीरे–धीरे इतिहास होती जा रही है। इस वाद्य का एक इलैक्ट्रोनिक वर्ज़न भी आ गया है जिसे प्रस्तुति के क्रमानुसार रागों में 'प्री–ट्यून' करके मंच पर बैठा जा सकता है। यदि रागों का क्रम बदल जाए तो ये इस्तेमाल नहीं किया जा सकेगा।

सारंगी के गज और उसके तुम्बे के साथ सितार के डॅांड और परदों को जोड़ कर एक नवीन वाद्य का आविष्कार किया गया जिसे '**bljkt**' नाम दिया गया। पुष्ट प्रमाणों के अभाव में यह नहीं कहा जा सकता कि इसकी परिकल्पना किसने की परन्तु यह सभी विद्वान पक्के तौर पर कहते हैं कि इसका सर्वप्रथम अस्तित्व **fcgkj d x;k fj;klr** में आया और वहीं से शनैः–शनैः यह पूरे बंगाल में फैल गया और विशेषतः रवीन्द्र संगीत का प्रमुख संगत वाद्य बना। अनेक इसराज वादकों ने इस वाद्य में परिवर्धन व परिवर्तन किये और वर्तमान में बंगाल के वादकों के हाथों में जो वाद्य है वो एक उन्नत वाद्य है जो न केवल शास्त्रीय संगीत की संगत कर सकता है वरन् एकल वाद्य के रूप में भी अपना एक उच्च स्थान बना चुका है। इतना होने पर भी केवलं शांतिनिकेतन में ही इस वाद्य को विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम में शामिल किया गया है, देश के अन्य किसी भी राष्ट्रीय स्तर के संगीत विभागों में इसका कोई स्थान नहीं है। मंच पर भी यह दुर्लभ ही दिखता है।

एक समय था जब उत्तर भारत के सभी नामचीन विश्वविद्यालयों के संगीत विभागों के गायन के साथ–साथ वाद्य संगीत की कक्षाएँ भी चलती थीं। इन विभागों में सितार वाद्य प्रमुख रूप से शामिल था। कुछ विद्यालयों में सरोद व वॉयलिन व अन्य वाद्य भी शामिल थे। बहुत ही दुख का विषय है कि अब अनेक विश्वविद्यालयों के वाद्य संगीत के विभाग धीरे–धीरे बंद होते जा रहे हैं। विद्यार्थियों की कमी के चलते नए स्टाफ/फैकल्टी की भर्ती नहीं हो रही है। यहाँ तक कि जो वाद्य संगीत के प्राध्यापक सेवानिवृत हो रहे हैं उनके स्थान पर नवीन रिक्रूटमेन्ट न कर उनकी पोस्ट पर दूसरे विषयों के प्राध्यापकों को भर्ती किया जा रहा है। यह एक कड़वी सच्चाई है जिसे हम सभी जान रहे हैं। ऐसी स्थिति में वाद्य–संगीत से विशेषज्ञता–प्राप्त नवीन पीढ़ी के लिए रोजगार के अवसर लगभग समाप्त होते जा रहे हैं। नवीन पीढ़ी भी इन सभी कारणों से वाद्य संगीत के प्रति आकर्षित नहीं हो रही है। विश्वविद्यालयों में बहुत बड़े स्तर पर वाद्यों की खपत होती थी जिसमें सैकड़ों कारीगरों की रोजी रोटी चलती थी। पिछले 50 वर्षों में इसमें बहुत गिरावट आई है और अगले 50 वर्षों में वाद्यों के निर्माण के इस लघु उद्योग की क्या स्थिति होगी, यह हम कल्पना कर सकते हैं।

वाद्य–निर्माण–कला देश की एक धरोहर है। देश में एक–से–एक बढ़–चढ़ कर वाद्य–निर्माता हुए जिनका नाम देश ही नहीं विदेशों में भी बड़े आदर से लिया जाता है। किन्तु कई श्रेष्ठ वाद्य–निर्माताओं की नई पीढ़ी ने परिवार

की इस विरासत से मुँह मोड़ लिया है। देश की नई पीढ़ी को वाद्य–निर्माण की कला में प्रवृत्त करने की उन्हें इन तकनीकी ज्ञान देने वाली कोई संस्था सरकारी या गैर सरकारी स्तर पर नहीं खोली गई है। केन्द्रीय संगीत नाटक अकादमी ने पिछले वर्षों में मास्टर क्राफ्ट्समैन के साथ कुछ ट्रेनिंग प्रोग्राम शुरू किये हैं किन्तु ये प्रयास भारत जैसे विशाल देश के लिए बहुत ही कम है। (एक अन्य इलैक्ट्रोनिक की बोर्ड सिन्थेसाइज़र की बात पर यहाँ विस्तृत टिप्पणी नहीं की जा रही है क्योंकि उसके लिए एक अलग लेख की आवश्यकता है।)

ये बातें जग जाहिर हैं कि भारतीय संगीत को पूरे विश्व में लोकप्रिय बनाने में और विश्व में भारतीय संगीत का परचम लहराने में भारतीय संगीत के वाद्यों और वादकों का बहुत बड़ा हाथ है। अगर यह कहा जाए कि वाद्य संगीत के कारण ही आज भारतीय संगीत पश्चिम जगत में अपनी जड़ें जमा पाया है तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। उत्तर भारतीय वाद्य सितार व तबला आज विश्व पटल पर विश्वस्तरीय वाद्यों में शामिल किये जा रहे हैं। यह हमारे लिए गर्व की बात है। किन्तु आज अपने ही देश में वाद्य संगीत का सिकुड़ता संसार एक चिन्ता जगाता है। एक समय में सितार, सरोद, सारंगी, विचित्र वीणा, रूद्र वीणा, रवाब, सुरबहार, सुरसिंगार जैसे वाद्यों और इनके निष्णात वादकों की भरपूर उपस्थिति से झंकृत मंच आज उदास हो चले हैं। दुख तो तब होता है जब तीन–तीन दिन या इससे भी अधिक समय तक चंलने वाले संगीत समारोह बिना किसी वाद्य की सहभागिता के ही सम्पन्न हो जाते हैं। देश के कई प्रतिभावान प्रतिष्ठित कलाकारों ने शास्त्रीय संगीत के गम्भीर और आत्मपरक संगीत की राह छोड़ '**vkdLVªk**' का रूख किया है या फिल्मों में पीसेज बजाने का मार्ग चुना है। भारतीय सभी शास्त्रीय कलाएॅं साधनापरक होती हैं और साधक को अपनी मंजिल तक पहुँचने के लिए अनेक परीक्षाओं से गुजरना पड़ता है। शास्त्रीय कलाओं के साधक दुनियावी चमक–दमक के पीछे इसकी मर्यादा को लांघते हैं तो शास्त्रीय संगीत की गरिमा भी खण्डित होती है। शास्त्रीय संगीत की शास्त्रीयता से समझौता किया जाना कहाँ तक उचित है?

इस निराशाजनक वातावरण में आशा की किरण की तरह यह समाचार है कि आजकल कई युवा कलाकारों ने लुप्तप्राय वाद्य '**l|jcgkj*** और '**l|jflxkj*** को पुनः जीवित करते हुए उसे अपनाया है और पिछले दिनों सुरबहार के कुछ नए युवा कलाकारों के नाम सामने आए हैं। इसी तरह '**l|jflxkj*** वाद्य को भी पुनर्जीवित करने में कुछ युवा कलाकार प्रयत्नरत हैं। सबसे अधिक प्रसन्नता तब होती है जब इसराज वाद्य के कई उभरते कलाकार अपनी उत्कृष्ट प्रस्तुति देते हुए दिखाई देते हैं। हालांकि इनकी सुन्दर और सुगठित प्रस्तुतियाँ अभी लेखिका ने सिर्फ यू ट्यूब पर ही सुनी हैं। परन्तु निश्चित ही इनकी साधना और मेहनत रंग लाएगी और इन्हें प्रतिष्ठित मंच मिलेंगे। इसके लिए आयोजकों को आगे आना चाहिए और निश्चित करना चाहिए कि वाद्य संगीत के इन युवा कलाकारों को मंच प्रदान किया जाए। 2015 में भोपाल में 'मधुकलि' संस्था द्वारा आयोजित एक विशेष कार्यक्रम में शांतिनिकेतन से सात 'इसराज' वादकों के दल ने और राजस्थान से सात 'रावणहत्था' के दल ने प्रस्तुति दी थी। रावणहत्था के दल का निर्देशन इस लेखिका ने किया था।

संसार में यह नियम है कि सभी शास्त्रीय कलाओं को निरन्तर बनाए रखने के लिए उन्हें जीवित रखने के लिए और उन्हें समृद्ध करने के लिए समाज के विशेष सहयोग की आवश्यकता होती है। केवल सरकारी प्रयासों से यह लक्ष्य प्राप्त नहीं किये जा सकते हैं। यह तो एक महायज्ञ है जिसमें समाज के प्रत्येक वर्ग को आहुति देनी ही होगी तभी सम्मिलित प्रयासों से हमारी शास्त्रीय कलाएँ संरक्षित रहेंगी और पल्लवित–पुष्पित होती रहेंगी।

अब समय आ गया है जब हम अपने पिछले जमाने की तरह छोटी–छोटी घरेलू बैठकों को पुनर्जीवित करें और साथ ही, हर छोटी–बड़ी संस्थाओं द्वारा संगीत को समझने की कार्यशालाएं आयोजित की जाएँ। इसके लिए सभी कलाकारों को आगे आकर अपना सहर्ष योगदान देना होगा तभी देश की भावी पीढ़ी शास्त्रीय संगीत से जुड़ पाएगी और इसके महत्व को समझ सकेगी। स्पिक–मैके ने इस क्षेत्र में सराहनीय कार्य किया है। परन्तु आवश्यकता है इस कार्य को एक आन्दोलन बनाने की ताकि शास्त्रीय संगीत का भविष्य सुरक्षित बने। परिवर्तन प्रकृति का नियम है और संगीत एक कला होने के कारण नित्य नवीना है। इस नाते हम सब नवीनता का स्वागत करते हैं, उसे अपनाते हैं किन्तु नवीनता के नाम पर भारतीयता को समाप्त नहीं किया जाना चाहिए। जो भी नवीन वाद्य आएं उनमें भारतीय संगीत की आत्मा सुरक्षित रहनी चाहिए और भारतीय संगीत की पहचान रागदारी की सच्ची और सुंदर प्रस्तुति होनी चाहिए।

Lokèkhu&Hkf=ldk ukf;dk,¡

ehuk cuthl*

एक समय भारत को पूरी दुनिया 'सोने की चिड़िया' के नाम से जानती थी। इसकी समृद्धि ने व्यापारियों को लालायित किया । इसकी सहिष्णु, मैत्रीपूर्ण जीवन–शैली, जिसे हिंदू धर्म कहा जाता है, ने पर्यटकों को प्रोत्साहित किया; इसकी उदार बहुरंगी संस्कृति ने विदेशियों को आकर्षित और आश्चर्यचकित किया; भारतीय द्रष्टाओं के ज्ञान ने दुनिया–भर के बुद्धिजीवियों में असीम श्रद्धा जगाई। यह वह युग था जब लोक कलाएँ इतनी विकसित हो चुकी थीं कि वे मंदिरों के गर्भगृह में पूजा–अर्चना के महत्वपूर्ण घटकों के रूप में प्रवेश कर सकती थीं। विकास की अनवरत प्रक्रिया इन कलाओं को 'सर्वोच्च साधना' की पवित्र ऊंचाइयों तक ले गई। अब उन्हें उचित संहिताकरण की आवश्यकता थी ताकि ये दिव्य कलाएँ आने वाली पीढ़ियों के लिए सुरक्षित रहें। भारतीय प्रदर्शन कला के व्याकरण की उस संहिताबद्ध संकलन, अर्थात् भरतमुनि के 'नाट्यशास्त्र' (200 ईसा पूर्व) को 'पंचम वेद' के रूप में मान्यता मिली।

नाट्यशास्त्र को संगीत, संगीतशास्त्र, शरीर के हर अंग की भाषा के साथ नृत्य और मंच कला से संबंधित सभी पहलुओं को संकलित करने में चार सौ साल लग गए। प्रत्येक घटक का सूक्ष्म विवरण अद्भुत है। पुराने कुतप (ऑर्केस्ट्रा) निर्माण में पुरुष और महिला संगीतकारों / नर्तकियों का होना अनिवार्य था, और वह भी समान संख्या में! यह प्राचीन भारत के सामाजिक परिवेश पर प्रकाश डालती है। यह इंगित करता है कि अपने सामाजिक ढांचे के भीतर महिलाओं को पुरुषों के समान दर्जा प्राप्त था और मंच पर व सार्वजनिक रूप से पुरुष कलाकार के साथ गाना और नृत्य करना उनके लिए एक सामान्य गतिविधि थी। पौराणिक रूप से, देवी सरस्वती ज्ञान और संगीत का प्रतिनिधित्व करती हैं, देवताओं के राजा इंद्र, रंभा, मेनका, उर्वशी जैसी कला–निष्णात अप्सराओं की संगति का न केवल आनंद लेते हैं, बल्कि अपने समुदाय को बचाने के लिए अपनी कई योजनाओं में मदद भी लेते हैं और यथायोग्य सम्मान देते हैं। वैशाली की आम्रपाली की तरह '**uxj&oèk***' (शाब्दिक अर्थः पूरे शहर की पत्नी) भी समाज की गरिमा हुआ करती थी। उत्कल (ओडिशा) के मंदिरों की '**egfj;k***' और दक्षिण भारतीय मंदिरों की '**nonkfl;k**' को उनकी कलात्मक गतिविधियों और भगवान के चरणों में उनके निस्वार्थ, पूर्ण समर्पण के लिए आदर मिला। आमूल परिवर्तन जब से सम्राट अशोक के शांतिदूत भारत ने विदेशी व्यापारियों या लुटेरों को अपने नागरिकों के रूप में मान लिया, सौंदर्य अभिव्यक्ति की यह स्वतंत्रता एक दूर की कौड़ी बन गई। ऐतिहासिक तथ्य यह है कि अशोक की मृत्यु और उसके बाद मौर्यों के पतन (185बीसी) के बाद भारत की उपेक्षित उत्तर–पश्चिमी सीमा आक्रमणकारियों द्वारा तबाह कर दी गई थी। इसके अलावा, कई हमलावरों ने यहीं बसने का फैसला किया। उनमें से मोहम्मद बिन कासिम पहला मुस्लिम था जो अपने सैनिकों के साथ सिंध में बस गया और अपनी मृत्यु (715) तक सिंध का शासक बना रहा। उनकी अरबी संस्कृति के मूल्यबोध भारतीयों की उदार और संयमित जीवन–शैली के बिल्कुल विपरीत थे। भारतवासी भोग (भौतिक सुखों का आनंद) और त्याग (सांसारिक सुखों का त्याग) को समान रूप से सभी का जन्मसिद्ध अधिकार मानते थे। लेकिन यह वो कालखंड था जब सामाजिक मूल्यों पर थोपे गए परिवर्तनों के कारण भारतीय महिलाएँ सबसे प्रभावित हुईं। उनके लिए शिक्षा का दीपक बुझ गया; परिवार और दोस्तों के साथ गाने और नृत्य करने का आनंद वर्जित हो गया और परिचितों के साथ मुक्त मेलजोल अकल्पनीय हो गया यहां तक कि असुरक्षा के कारण त्याग की अवधारणा को भी बड़े बदलाव से गुजरना पड़ा। मध्यकाल तक आते–आते उन्हें पर्दा–प्रथा अपनाने के लिए मजबूर कर दिया गया। उनमें से अधिकांश ने इस पिंजरे में बंद अस्तित्व के साथ तालमेल बिठा लिया पर जिनका कला के प्रति जुनून बना रहा और जिन्होंने पेशेवर कलाकार बनने का फैसला किया, उन्हें अपने ही लोगों और समाज द्वारा बहिष्कृत कर दिया गया। यह बात पुरुष कलाकारों के लिए लागू नहीं थी। बल्कि उन्हें शाही दरबारों का आभूषण माना जाता था। रामतनु मिश्र और अनारकली से जुड़े किस्से स्त्री–पुरुष के बीच इस अन्यायपूर्ण

*गायिका, लेखिका, संगीत समीक्षक, कोलकाता

विभाजन की पुष्टि करने के लिए काफी हैं। सम्राट अकबर के शाही दरबार के रत्नों में से एक के रूप में रामतनु ने '**rkulu**' की उपाधि हासिल की, जबकि **vukjdyh** को केवल '**jDdklk**' या एक तुच्छ नर्तकी के रूप में जाना जाता था। विडंबना यह है कि इन निपुण महिला कलाकारों को कला, संस्कृति और सुमार्जित व्यवहार का प्रतीक माना जाता था। समाज के ऊपरी वर्ग ने उन्हें गर्व के साथ संरक्षण दिया, अपनी संतानों को उच्चस्तरीय सामाजिक आचार–व्यवहार, सौंदर्यशास्त्र और शिष्टाचार की कला सीखने के लिए उनके पास भेजा। अपनी महफिलों की हरदिल अजीज व्यक्तित्व का दर्जा दिया, उनकी कला के लिए उन्हें मुंहमांगा ईनाम दिया। ये महिला कलाकार अपना जीवन अमीरों की तरह जीती थीं, भारी कर चुकाती थीं, जरूरतमंदों की मदद करती थीं, छोटे–छोटे बहानों से भव्य पार्टियाँ आयोजित करती थीं लेकिन फिर भी उन्हें अपने ग्राहकों के परिवार और दोस्तों के अंदर महल से दूर रखा जाता था। नतीजतन, अगर किसी महिला कलाकार को अपने किसी प्रशंसक से प्यार हो जाता, तो उन्हें अपने प्रिय की रखैल बनना स्वीकार करना पड़ता था। क्योंकि, हजरत महल और अख्तरी बाई जैसे कुछ अपवादों को छोड़कर, ज्यादातर नायिकाओं को समाज ने तवायफ का मोहर लगा कर सम्मानजनक विवाह से वंचित रखा। **rok;Q**, तवायफ का शाब्दिक अर्थ है 'घूमना'। एक प्रदर्शन के दौरान संगीत प्रस्तुत करते समय एक घेरे में बैठे लोगों के समूह का मनोरंजन होता था, कलाकार को प्रत्येक दर्शक का सामना करने के लिए एक तरफ से दूसरी तरफ जाना पड़ता था। महिला संगीतकारों के लिए इस उर्दू शब्द को चुनने का यही कारण रहा होगा। इस शब्द का दुनिया के सबसे पुराने पेशे से कोई लेना–देना नहीं था । समाज के हर वर्ग के लोगों से मिलने–जुलने के कारण इन कलाकारों को संगीत, साहित्य के साथ सामाजिक–राजनीतिक मुद्दों का भी ज्ञान हो जाता था। कला की प्रस्तुति की शैली के अनुसार इन्हें विभिन्न श्रेणियों में वर्गीकृत किया गया। वर्गीकरण तवायफों को बाईजी, जान, मिरासिन और वेश्या में वर्गीकृत किया गया और इन्हें समाज में अपने वर्ग के अनुसार सम्मान मिला। इनमें (1) बाईजी अत्यधिक सम्मानित गायिका होतीं थीं जिनके पास अपना निजी सभागार होता था जिसे कोठा के नाम से जाना जाता था। वह अपने गण्यमान्य प्रशंसकों का संगीत से मनोरंजन करने के लिए अपने व्यक्तिगत कोठे से बाहर नहीं निकलतीं थीं । आगंतुकों को उसके कोठे के प्रोटोकॉल का पालन करना होता था। कुछ जाने–माने ग्राहकों को उनके मुजरे का आनंद लेने के लिए उनके पास आने की अनुमति मिलती थी। वे नृत्य नहीं करती थीं। सुशिक्षित होने के कारण वह अक्सर अपने ग्राहकों की समस्याओं को अच्छी सलाह या मदद देकर हल करती थीं। एक किस्सा है कि एक सेठ को एक खास बाईजी के कोठे पर जाने का बहुत शौक था। अनिच्छुक बाईजी को उसके संगीतकार ने आश्वस्त किया कि सेठ धनी है और उसे संगीत पसंद है। एक उत्कृष्ट संगीतकार बाईजी इस प्रस्ताव से सहमत हो गईं और अपने गायन के लिए तैयार होने से पहले थोड़ा आराम करने के लिए अपने कमरे में चली गईं। शांत आरामगाह से उन्हें किसी के सीढ़ियाँ चढ़ते समय जूते की अजीब–सी आवाज सुनाई दी । परेशान बाई ने झुंझला कर कहा, 'जिसको जीनें चढ़ने का सलीका नहीं, वो क्या खाक मौसीकी समझेगा!' हजार मिन्नतों के बावजूद उन्होंने सेठ का मनोरंजन नहीं किया। वास्तव में ये मनमौजी नायिकाएँ थीं। (2) जान कहलाने वाली कलाकार संगीत के साथ–साथ नृत्य से भी मनोरंजन करती थीं। उनके लिए कोठा रखना अनिवार्य नहीं था, लेकिन उन्हें भी अपने प्रशंसकों का सम्मान प्राप्त था। निमंत्रण पर वे मुजरे के लिये अपने दर्शकों के द्वारा चुने स्थान पर पहुँचने को दूर–दूर तक यात्रा करती थीं । उन दिनों चूंकि मनोरंजन का कोई साधन नहीं था, इसलिए इनको हर उत्सव, पूजा या आनुष्ठानिक कार्यक्रम में ऐसे प्रदर्शन के लिए आमंत्रित किया जाता था। कलकत्ता में बंगालियों का भद्रलोक वर्ग अक्सर ऐसे आयोजन के लिये जाना जाता था। मैं एक ऐसे तथ्य को साझा करने से खुद को रोक नहीं पा रही जो काल्पनिक लगता है। कोलकाता के ब्रह्म समाज के अध्यक्ष केशव चंद्र सेन को उनके समुदाय के साथ–साथ गैर–ब्रह्म समाज में भी समान रूप से सम्मान प्राप्त था। वह अपने परिवार और दोस्तों के मनोरंजन के लिए कभी–कभी ऐसे कलाकारों को अपने निवास के जलसा घर में आमंत्रित करते थे। एकबार देर शाम जलसे का आयोजन हुआ। घर के बच्चों को जल्दी खाना खिलाकर सुला दिया गया, ताकि महिलाएँ बिना किसी रुकावट के कार्यक्रम का आनंद ले सकें। पुरुष जलसाघर के अंदर बैठे थे, महिलाएं चिक से बने परदे के पीछे थीं। केशवबाबू की पोती छोटी निलीना गहरी नींद में सो रही थी पर जब

उसने संगीत की धुन सुनी, जिज्ञासा ने उसे बिस्तर से बाहर खींच लिया। वो माँ के पास गई। माँ ने उसे अपनी गोद में लिटा लिया। निलीना को संगीत का आकर्षण सोने नहीं दे रहा था। यह संगीत उनके ब्रह्म–संगीत से बहुत अलग था, दिव्य रूप से मधुर था। इसने उसके छोटे से हृदय को मुग्ध कर दिया। वह इसे भूल नहीं सकीं और इस तरह का संगीत सीखने के लिए उत्सुक रहीं। कुछ साल बाद, कपूरथला के महाराजा रिपजीत सिंह जब निलीना–जैसी अपूर्व सुंदरी से मिले तो उन्होंने शादी का प्रस्ताव रखा और उनकी इच्छा पूरी भी हुई। खुशहाल शादीशुदा जोड़े के चार बच्चे थे। निलीना पूरी तरह से अपने परिवार के प्रति समर्पित थी और फिर भी उस रात का संगीत उन्हें भुलाये नहीं भूला। अचानक रिपजीत सिंह के साथ एक घातक दुर्घटना हुई जिसने निलीना के जीवन की दिशा बदल दी। उन्होंने अपने प्रिय पति को खो दिया, अपना महल छोड़ दिया, दिल्ली आ गईं और डीसीएम ग्रुप ऑफ कंपनीज के मालिक सर श्रीराम की बहू सुमित्रा चरणराम से मिलीं। सुमित्राजी ने उन्हें अपने ड्रीम प्रोजेक्ट श्रीराम भारतीय कला केंद्र में एक कार्यकर्ता के रूप में शामिल किया। यहीं पर उन्हें अपने गुरु उस्ताद मुश्ताक हुसैन खान (ख्याल) और रसूलन बाई (पूरब अंग गायकी) मिले। **egkjkuh uhfyuk fjithr flg** ने खुद को गायिका देवियों में शामिल करने के लिए **uuk noh** नाम चुना और आकाशवाणी व दूरदर्शन, दिल्ली से एक नई जिंदगी की शुरुआत की। (3) मिरासियों के पास भी बाईयों और जानों की तरह लोक और शास्त्रीय रचनाओं का खजाना था, जिन्होंने ये धन अपने सारंगी वादकों या प्रतिष्ठित गायकों से हासिल किया था। लेकिन मिरासिनों को एक बाईजी या जान के समान दर्जा प्राप्त नहीं था। वे हिंदू थे मगर धर्म–परिवर्तन कर मुसलमान बने और पश्चिमी उत्तर प्रदेश के छोटे इलाकों में बस गए। लोक कथाओं पर अपनी पकड़ के कारण वे छोटे शहरों और गांवों में लोकप्रिय थे। प्रख्यात गायक संगीत मार्तंड पंडित जसराज इसी वर्ग से थे। शुरुआत में वह एक उत्कृष्ट तबला वादक थे लेकिन बाद में उन्होंने ठुमरी और हवेली संगीत के साथ–साथ शास्त्रीय ख्याल गायन की ओर रुख किया। (4) वेश्या, या आधुनिक शब्दों में यौनकर्मी एक बिल्कुल अलग वर्ग से संबंधित थीं। वे प्राचीन काल से ही भारतीय समाज का एक अभिन्न अंग रहीं और उनके मौन बलिदान के लिए उनका सम्मान किया जाता था क्योंकि उन्होंने पुरुष के अहंकार को अवशोषित करने में समाज की मदद की और परिणामस्वरूप, काफी हद तक शांति बनाए रखी। पूर्वी भारत में बंगालियों द्वारा मनाए जाने वाले दुर्गापूजा में यह सम्मान अभी भी स्पष्ट है क्योंकि दुर्गाप्रतिमा बनाने के लिए आवश्यक माटी की पहली एक मुट्ठी मिट्टी किसी वेश्या के दरवाजे से ली जाती है। इसके बिना पूजा का नियम अधूरा रहता है। हालॉकि, वैश्या (या बोलचाल की भाषा में रंडी) एक से अधिक ग्राहकों के लिए गा–बजा कर मनोरंजन कर सकती है, लेकिन तवायफों से इनकी कोई तुलना ही नहीं। बहरहाल, मध्यम वर्ग की नैतिकता ने इन सभी को समाज से दूर रखा। खट्टा–मीठा रिश्ता ब्रिटिश शासन के दौरान इन **LokèkhuHkkf=dk** नायिकाओं से समाज का रिश्ता और भी खराब हो गया। उनके विक्टोरियन मूल्यबोध और दोगलेपन के मानकों ने इन विद्वान कलाकारों को 'नॉच गर्ल्स' के रूप में अपमानित भी किया और अपने मनोरंजना के लिये उनकी कला और मेधा का भरपूर आनंद भी लिया। 20वीं शताब्दी के शुरुआती दौर में, कलकत्ता के संगीत परिदृश्य में तवायफों का प्रभुत्व था। अंग्रेजों ने इनके गायन को रिकॉर्ड करके काफी पैसा कमाया। यह संगीत न केवल ब्रिटिश भारत में बल्कि विदेशों में भी काफी लोकप्रिय साबित हुआ।रेकार्ड के लिये गाने का यह साहसिक कदम 1902 में, प्री–इलेक्ट्रिक युग में, **xkgj tku** (1873–1930) द्वारा उठाया गया था, जो कलकत्ते की प्रसिद्ध महफिलों की सुर साम्राज्ञी थीं। उस समय कलकत्ता सबसे अधिक कर्म–व्यस्त नगरी और भारत की सांस्कृतिक राजधानी थी। एक ब्रिटिश ग्रामोफोन कंपनी द्वारा स्वीकृत किए जाने पर, उन्होंने कंपनी द्वारा निर्धारित तीन ईस्टर्न होटल के अंदर एक अस्थायी स्टूडियो में अपना पहला गाना सफलतापूर्वक रिकॉर्ड किया और ट्रेंडसेटर गायिका बन गईं। अपने प्रत्येक तीन मिनट के रिकॉर्ड के अंत में वह खुशी से घोषणा करती थी, ''**ejk uke xkgj tku** है!'' या ''**dydÙkokyh xkgj tku**''। कलकत्ते वाली के नाम से मशहूर होने के बावजूद उनका जन्म यूपी के आजमगढ़ में हुआ था। उनके अर्मेनियन ईसाई पिता ने उनका नाम आइलीन एंजेलिना येवार्ड रखा। बाद में उन्होंने इस्लाम धर्म अपना लिया, उनका पालन–पोषण बनारस में हुआ, फिर वे अपनी मां मलका जान के साथ कलकत्ते आईं। मलका जान लखनऊ के निष्कासित नवाब वाजिद अली शाह की कलकत्ते की महफिल में प्रसिद्ध गायिका–नर्तकी

थीं। नवाब ने हिन्दी हार्टलैंड के पूरे सांस्कृतिक परिदृश्य को वहां तक पहुंचाया। गौहर ने कम उम्र में ही फिल्मों में अभिनय करना शुरू कर दिया और देशभर में मशहूर हो गईं। उसे कलकत्ता बहुत पसंद था जहाँ उसे कलाकार रूप में कल्पनातीत सफलता मिली, नये–नये अवसर भी मिले। उसने अपने जीवन का भरपूर आनंद उठाया, भले ही इसके लिए ब्रिटिश राज के नियमों का उल्लंघन भी करना पड़ा। अपनी अद्‌भुत सुंदरता, बुद्धिमत्ता और बेहद मधुर संगीत से हर दिल पर राज किया। उन्होंने विभिन्न शैलियों के 600 गाने रिकॉर्ड किए थे जिनमें कुछ रवींद्र संगीत भी शामिल थे! लेकिन उन्होंने अपनी चुनी हुई टैगोर की कृतियों को अपने अंदाज में गाया। जीवन के अंतिम पड़ाव में किस्मत गौहर को मैसूर ले गई और उन्होंने अपने प्रिय शहर से दूर अंतिम सांस ली। देश के दूसरे हिस्से में **tkudh ckbZ**, जिन्हें '**NIiu Njh***' के नाम से भी जाना जाता है, कम शानदार गायिका नहीं थीं। फर्क सिर्फ इतना था कि गौहर कलकत्ते में रहती थीं जबकि जानकी इलाहाबाद की रहने वाली थीं। इसके बावजूद, ग्रामोफोन कंपनी ने उन्हें खोजा और गौहर जान के लगभग बराबर कीमत पर उनकी सैकड़ों प्रस्तुतियाँ रिकॉर्ड कीं। इन महिला कलाकारों की सफलता ने उस्तादों की मानसिकता ही बदल दी। उन्होंने भी अपने अहंकारी कवच को त्याग दिया और अपने संगीत के edited संक्षिप्त संस्करण के लिए खुद को तैयार किया। इस तरह हम भारतीयों ने अपनी समृद्ध विरासत को सुरक्षित रखने के बारे में सीखा और 20 वीं सदी की शुरुआत के प्रसिद्ध संगीतकारों, जैसे गायक अब्दुल करीम खान, फैयाज खान, सितार वादक इनायत खान और देश–भर के कई अन्य लोगों को सुनने में सक्षम हुए जिनमें दक्षिणी भारत के कर्नाटक संगीतकार भी शामिल हैं। संरक्षक अधिकांश तवायफों को कलात्मक व्यक्तित्व अपनी मां या अन्य पूर्वजों से विरासत में मिला या अपने सारंगी वादकों से, क्योंकि सारंगी पूरे भारत के कलाकारों को संगत प्रदान करती थी। परिणामस्वरूप सारंगी वादक हर घराने की बंदिशें जानते थे। बाईजी या जान को सिखाने पर उन्हें बंदिशों के अनुसार अतिरिक्त सम्मान और भुगतान मिलता था। कभी–कभी वे उस्तादों को इस शर्त के साथ नियुक्त करती थीं कि वह उस्ताद कभी किसी अन्य 'बाईजी' को नहीं सिखाएंगे। अतः ये उस्ताद जीवन की सभी सुख–सुविधाओं के साथ बंदी ही रहे। उदाहरण के लिए, गौरी शंकर मिश्र 'गौहर जान' पर तब तक निर्भर रहे जब तक वह बूढ़ी नहीं हो गईं और कलकत्ता से दूर नहीं चली गईं। उस समय गौरी शंकर ने एक और अनोखी गायिका **bnckyk** को सिखाना शुरू किया। इसके अलावा सभी जमींदारों और राजाओं की अपनी पसंदीदा 'तवायफ' होती थीं , जिन्हें वे प्रशिक्षक के रूप में उस्ताद की सेवाएं लेकर तैयार करते थे। यहां तक कि केसरबाई के पास सेठ धुलीचंद जैसा एक संरक्षक था, जो अल्लादिया खान की ट्यूशन फीस का भुगतान करता था। जबकि, जोदुमोनि (यदु मणि) को राजा शौरिन्द्रमोहन टैगोर ने ही तैयार किया था। सामाजिक जिम्मेदारी प्राचीन भारतीय गुरु–शिष्य–परंपरा गुरु के घर में पनपती थी, जिसमें शिष्यों से घर चलाने के लिए छोटे–मोटे काम करने की अपेक्षा की जाती थी, जबकि गुरु उनके खानपान और तालीम का दायित्व लेते थे। गुरु दक्षिणा कुछ मिले न मिले !मैं उस समय आश्चर्यचकित रह गयी जब एक दिन दिल्ली के एक प्रसिद्ध बाजार से गिरिजा देवी ने खूब खरीदारी की और वापस आते ही खुशी–खुशी अपनी चुनींदा चीजें दिखाते हुए बहुत ही सहजता से कहा कि सभी वस्तुएं अपने गुरुजी के पूरे परिवार के लिए उपहार के रूप में चुनी हैं। यह भी तथ्य सामने आया कि वे हर महीने बतौर प्रणामी एक अच्छी रकम भेजती रहीं क्योंकि अपने दिवंगत गुरु के परिवार की देखभाल करना अपना कर्तव्य मानती थीं। नवोदित कलाकारों को सहायता प्रवीण कलाकार नवीन पीढ़ी को अपने लिए एक जगह बनाने में मदद करेंगे, यह पिछले शतक में एक स्वाभाविक घटना मानी जाती थी। बेगम अख्तर अक्सर संगीत समारोहों के आमंत्रण पर या रिकॉर्डिंग के लिए कलकत्ता आती थीं। मेगाफोन कंपनी की सीढ़ियां चढ़ते वक्त, उन्होंने निर्माता के साथ एक विचार पर चर्चा करने का फैसला किया। रिकॉर्डिंग के बीच विराम के दौरान उन्होंने किसी एक गायक की रिकॉर्डिंग करवाने की इच्छा व्यक्त की। वह एक उत्कृष्ट सारंगी और हारमोनियम वादक भी थे। ऐसी प्रतिभाओं को संपर्क के अभाव में दम नहीं तोड़ना चाहिए। मेगाफोन अधिकारियों को बेगम साहिबा के अनुरोध को स्वीकारना पड़ा, लेकिन उनके रिकॉर्डिंग टेक्नॉलाजी की सीमित परिधि में उस प्रतिभाशाली युवा की दमदार,खुली आवाज की जवारी समा नहीं पाई।कई डिस्क बर्बाद करने के बाद कंपनी ने हाथ खड़े कर दिए। लेकिन बेगम हतोत्साहित नहीं थीं। वह उस लड़के को अपने गुरु

Hkh"eno pêkikè;k; के पास ले गईं जो उस समय मेगाफोन के निदेशक थे। विद्वान गुरु ने वॉयस–थ्रो और रिकॉर्डिंग तकनीक में थोड़ा बदलाव लाने की सलाह दी। समस्याएँ सुलझ गईं और एक मेगा–स्टार, उस्ताद **cM xyke vyh [kku** के रूप में संगीत जगत में नया दौर ले आये! ऐसी कितनी ही दिलदारी के प्रमाण इन नायिकाओं की राह पर बिखरे पड़े हैं। स्वतंत्रता सेनानियों को समर्थन; इनमें से कई ने ब्रिटिश विरोधी आंदोलनों में सक्रिय रूप से भाग लिया। उनके कोठे स्वतंत्रता सेनानियों के लिए गुप्त बैठक और छिपने के स्थान बने । आर्थिक रूप से संपन्न तवायफों ने आंदोलन को वित्तीय सहायता प्रदान की। **gLuk tku** (19वीं सदी के अंत से 20वीं सदी की शुरुआत), बनारस की एक प्रसिद्ध ख्याल, ठुमरी, टप्पा गायिका थीं, जिनके बारे में माना जाता है कि उन्होंने अपने प्रदर्शनों की सूची में देशभक्ति के गीतों को शामिल कर गायन–परंपरा को नई परिभाषा दी। यह विद्रोह अन्य गायिकाओं को भी ऐसा करने के लिये प्रेरित करने के लिए पर्याप्त रहा। परिणामों का सामना करने को तत्पर इन साहसी नायिकाओं को दुर्भाग्य से इस बात का अनुमान नहीं था कि स्वतंत्र भारत में उनके साथ क्या होने वाला है।

स्वतंत्रता के बाद भारत की रीढ़ तोड़ने की मैकाले की कुटिल योजना फलीभूत हुई क्योंकि देश की आत्मा और मानसिकता विक्टोरियन मूल्यबोध शासित पश्चिमी संस्कृति की गुलाम बनकर रह गई। अपने देश में विकसित संस्कृति को समाज के लिये अस्वास्थ्यकर माना। ऐसे में तवायफों को मॅरल पुलिस के क्रोध का सामना करना पड़ा। समाज के उच्च वर्ग में उनका सम्मान लगभग रातों रात खत्म हो गया क्योंकि अब ग्रामोफोन और ग्रैंड संगीत सम्मेलन जैसे मनोरंजन के नए साधन आसानी से उपलब्ध थे जिनको शिक्षित मध्यम वर्ग के बीच भारी लोकप्रियता मिली। इसके अलावा, अब तक उन्हें संरक्षण देने वाले राजघराने और जमींदार सामाजिक–आर्थिक उथल–पुथल के कारण दिशाहीन थे। आश्रय, नियमित आय और लोगों की सहानुभूति के अभाव में, उन्हें नहीं पता था कि जीविका के लिए कहाँ जाना है। रेडियो के आगमन से उनमें एक नई आशा जगी। रेडियो, सम्मेलन और फिल्में; भारत में पहली बार रेडियो क्लब ऑफ बॉम्बे का प्रसारण 1923 से शुरू हुआ। जल्द ही इसका कलकत्ता केंद्र अस्तित्व में आया और इसके बाद 1927 में इंडियन ब्रॉडकास्टिंग कंपनी IBC अस्तित्व में आई, लेकिन यह जारी नहीं रह पाई और 1936 तक **Hkkjrh; jkT; çlkj.k lok 'v,y bfM;k jfM;k*** बन गई। जब देश आजाद हुआ तब तक भारत में छह रेडियो स्टेशन थे। लेकिन दुर्भाग्य से स्वाधीनता की यह किरण तवायफों के लिए एक अंधकारमय कालखण्ड लेकर आई। विक्टोरियन मूल्यों से प्रेरित होकर, रेडियो में तवायफों के प्रवेश पर रोक लगा दी गई । लेकिन चूंकि संभ्रांत परिवार अभी भी अपनी बेटियों को खुलेआम अपनी प्रतिभा को सार्वजनिक रूप से प्रदर्शित करने देने को राजी नहीं थे, इसलिए रेडियो अधिकारियों को झुकना पड़ा– लेकिन इन पेशेवर गायिकाओं पर कुछ शर्तें लगाए बिना नहीं। उन्हें '**ckb**' और '**tku**' को अपने नाम से मिटा कर **noh** को अपनाने का निर्देश दिया गया। सिद्धेश्वरी बाई, अख्तरी बाई और उनकी जैसी गायिकाओं को सिद्धेश्वरी देवी, बेगम अख्तर के नाम से जाना जाने लगा– और अन्य गायिकाओं ने भी इसका पालन किया, जिनमें नैना देवी भी शामिल हो गईं– समाज के अभिजात वर्ग से आने के बावजूद! विडंबना यह है कि एक पेशेवर गायिका के रूप में सामने आने की इच्छा से उन्होंने तवायफों की इस उपाधि को स्वीकारा, जबकि तवायफ अपनी कलात्मकता के माध्यम से अपनी खोई हुई जमीन को पुनः प्राप्त करने का सपना देखती थीं। रेडियो ने उनकी प्रस्तुति प्रसारित करना शुरू कर दिया, भले ही अजीब ढंग से। राष्ट्रव्यापी बड़े सम्मेलनों के आयोजकों का रवैया भी ऐसा ही था। मुझे विश्व प्रसिद्ध गायिका, 'पद्मविभूषण' से सम्मानित, विदुषी किशोरी अमोनकर का साक्षात्कार करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। उन्होंने इस तथ्य को स्वीकार किया कि उनकी मां–गुरु मोघूबाई कुर्दीकर अपने समय की उच्चतम गायिकाओं में से एक थीं। उन्होंने ऐसे युग में गायन की प्रस्तुति दी थी जब समाज में पेशेवर महिला कलाकारों के लिए बहुत कम या कोई सम्मान नहीं था। जब मैंने पूछा, 'क्यों कई आयोजक आपके नखरे से डरते हैं?' उन्होंने कुछ क्षणों के लिए मुझे प्रश्न–भरी दृष्टि से देखा और जवाबी सवाल दागा, 'क्या आप जानती हैं कि मेरी मां को सिर्फ इसलिए क्या नहीं सहना पड़ा–क्योंकि वह एक पेशेवर गायिका थीं? मुझे यह प्रत्यक्ष अनुभव है क्योंकि मैं आई के साथ तानपूरा संगतकार के रूप में जाती थी। मेरी आई एकल माता–पिता थीं और चार सदस्यों वाले परिवार में एकमात्र कमाने वाली थीं। उनकी बेबसी ने सारा घटियापन सहने को मजबूर किया। लेकिन मैं अपनी शर्तों पर ही कोई असाइनमेंट स्वीकार

करती हूँ। जब भी मैं किसी अजीब रवैये वाले आयोजक और बेहूदे ढंग से बैठे श्रोताओं का सामना करती हूं, तो मेरे अंदर की आग भड़क उठती है। ऐसे मौकों पर मैं कठिन हो जाती हूँ , अजीब मांग करती हूँ और दोषियों को कठोर शब्दों से घायल करती हूँ' उन्होंने अपने खूबसूरत चेहरे पर झलकते एक व्यंग्यपूर्ण मुस्कान के साथ स्वीकारा।

लेकिन नवोदित **fQYe bMLVh** ने, मूक युग से लेकर बोलती फिल्मों तक, तवायफों से उभरी गायिकाओं और नर्तकियों का बिना किसी हिचकिचाहट के अभिनय जगत में खुले दिल से स्वागत किया। फिल्म–गीतों के माध्यम से **dkuuckyk**, (बंगाल स्थित बाईजी सम्प्रदाय से) और **,e , l lCcqy{eh** (दक्षिणी भारत के देवदासी संप्रदाय से) को अभिनेत्री–गायिका के रूप में बड़ी सफलता मिली और उनकी आवाज श्रोताओं के लिविंग रूम तक पहुंच गई। गिरिजा देवी और बेगम अख्तर जैसी गायिकाओं ने भी बाल कलाकार के रूप मे फिल्मों में अभिनय किया था। निलीना सेन उर्फ **uSuk noh** की बहन **lkèkuk ckl** पहली महिला थीं, जिन्होंने फिल्मों में आने के लिए अपना कुलीन परिवार छोड़ दिया।

कॉर्पोरेट्स की भूमिका एक स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में भारत को हर क्षेत्र में आर्थिक विकास की आवश्यकता थी और वह भी तीव्र गति से। नेहरू सरकार की नीतियों के अनुसार औद्योगीकरण ही एकमात्र समाधान था और इसके लिए सरकार ने आर्थिक मदद के लिए कॉर्पोरेट क्षेत्र की ओर देखा। इस शोर–शराबे में किसी ने हिंदुस्तानी शास्त्रीय संगीत जगत से धीरे–धीरे कम होती नायिकाओं पर ध्यान ही नहीं दिया। ये वो नायिकाएं थीं जिन्होंने अपनी प्रतिभा और लालित्य के दम पर भारतीय संस्कृति, संगीत, नृत्य और शिष्टाचार को अपनी बहुमूल्य संपत्ति के रूप सम्हाले रखा, हर कीमत पर। सौभाग्य से **lfe=k pjrjke] iqiqy t;dj] fueZyk tks'kh] 'khyk èkj] dfiyk okRL;k;u** और कुछ अन्य उद्यमशील महिलाओं ने इन अमूल्य रत्नों का मोल समझा और देश की सांस्कृतिक गतिविधियों की जिम्मेदारी सम्हाली। अपने ड्रीम प्रोजेक्ट **Jhjke Hkkjrh; dyk dsaæ** के लिए **lfe=k th** ने **fl)s'ojh noh** (पूरब अंग गायकी) को अन्य कई संगीत और नृत्य के महारथियों के समान ही सम्मान से गुरु के रूप में केंद्र में स्थापित किया। दो दशक बाद **vkbZVhlh fyfeVsM** ने अपनी तंबाकू विक्रेता की छवि को बदलने के लिये सांस्कृतिक रूप से जागरूक कॉरपोरेट्स में नाम लिखाया। उन्होंने आईटीसी संगीत सम्मेलन का आयोजन कर दिल्ली के प्रशासक महल में प्रवेश किया। उनके सम्मेलनों में केवल शीर्षस्थ स्टार संगीतकारों को शामिल किया गया और प्रधानमंत्री राहत–कोष में उदारतापूर्वक दान दिया गया। **fot; fdpyw** की मदद और योजना से उन्होंने एक बड़ी छलांग लगाई और एक आधुनिक गुरुकुल, **laxhr fjlpZ vdkneh** की स्थापना की। **,lvkj,** के **lLFkkid&funs'kd fdpyw]** पूरब अंग गायकी के बारे में जागरूकता फैलाने के लिए **ghjkckbZ cM+ksndj** को किराना घराने से संबंधित गुरु और **fxfjtk noh** को लेकर आए।मैंने कोलकाता में आयोजित अप्पाजी (गिरिजा देवी) के लगभग हर संगीत कार्यक्रम में भाग लिया। वह पहले चालीस मिनट ख्याल गायकी को देती थीं। एक बार मैंने उनसे पूछा, 'ठुमरी सत्र में ख्याल क्यों?' अप्पाजी ने तर्क दिया, 'मुझे सेनिया बनारस घराने की परंपरा में प्रशिक्षित किया गया था जिसमें ध्रुपद, ख्याल और ठुमरी शामिल थे। एक संगीत कार्यक्रम के दौरान मैं ख्याल और ठुमरी दोनों के चरित्रों को स्थापित करने का प्रयास करती हूं।' लेकिन जाहिर है, इसका कारण कुछ और था। **1950 ds n'kd rd Bqejh&xk;u lkèkkj.k rkSj ij lekt ls cfg"d`r rok;Qksa ls tqM+k Fkk]** हालांकि वे ध्रुपद और ख्याल की भी विद्वान कलाकार थीं। यही वह समय था जब कपूरथला की महारानी निलीना रिपजीत सिंह अपना राज सिंहासन छोड़ कर पूरब अंग गायकी को समर्पित एक साधारण गायिका **uSuk noh** बनीं। दूसरी ओर, इसी दौर ने अप्पाजी जैसी कलाकारों के यात्रा पथ में पेशेवर महिला गायिका को **^rok;Q^** से **^fonq"kh^** बनते देखा। अपनी पुरबिया गायकी को एक प्रतिष्ठित स्तर पर लाने के लिए, उन्होंने ख्यालों के अपने अनूठे ब्रांड के साथ पेश किया। **Jksrkvksa dk cnyrk utfj;k 1960 ds n'kd esa n'kZdksa dk cnyrk lkekftd ifj–'; dks vlkèkkj.k th dh iqu–fuZ"V usa igpkuk।** जिस समय वे प्रचलित नैतिकता के अनुरूप ठुमरी की अदायगी को फिर से परिभाषित करने का प्रयास कर रही थीं, तभी उनकी पहली शिष्या **eatw lqanje** उनके पास आईं। बहुत जल्द एमए (संस्कृत) की यह छात्रा अपने युवा गुरु की पहली योग्य, बहुभाषी, विद्वान शिष्या के रूप में उभरी। गुरु से जो कुछ भी प्राप्त हुआ उसे आत्मसात कर लिया। ऐसा इसलिए संभव हो सका क्योंकि दोनों की सौंदर्य चिंता में काफी मेल था।अप्पा और उनकी मंजू,

दोनों को स्पष्ट '**vfHkèkk**' के बजाय अनकही '**0;atuk**' पसंद थी। इस अनकही अभिव्यक्ति ने उन्हें एक विशाल कैनवास दिया जहां उन्होंने जी भर कर '**Hkfä**' के रंग भरे क्योंकि दोनों का मानना था कि कोई भी शारीरिक या मानसिक रिश्ता भक्ति के बिना पूरा नहीं होता, हालॉकि अधिकांश ठुमरी–प्रेमियों के अनुसार, ठुमरी और अध्यात्म का एक अजीब रिश्ता है। भ्रामक व्याख्या संग्रहीत रिकॉर्ड साबित करते हैं कि विद्वान **rok;Q** हिंदुस्तानी शास्त्रीय संगीत की सभी शैलियों को समान आसानी से गाती थीं। लेकिन किसी कारण तवायफ और पूरब अंग गायकी पर्यायवाची बन गए। **iqjkuh ih<+h vDlj lxhr ifj–'; ls rok;Q dh vuqifLFkfr ij dkoy blfy, 'kkd eukrh gS D;kafd ^os Bejh dh mfpr vnk;xh tkurh Fkh A'** वे वास्तव में ठुमरी गायिकाओं की सुंदर अंग भंगिमा और आंखों की भाषा की पुरानी यादों से पीड़ित हैं। वे शायद ही इस बात पर ध्यान देते हैं कि खयाल की तरह,

Bejh Hkh f'kf{kr ;qokvksa dh [kkstço.k] rkfdZd ekufldrk ds ,d u, okrkoj.k esa yxkrkj fodflr gks jgh gSA fxfjtk noh] 'kkHkk xqVZ] eatq lqnje] if.kek pkScjh] jhrk xkaxqyh vkSj muds tSls x#vksa ds ekxZn'kZu esa] iwjc vax xk;dh dh ubZ ih<+h lkoèkkuhiwoZd xhrksa dk p;u djrh g] ekèk;Z ls ljkcksj jpuk ds 'kCnksa vkSj okD;k'kksa ds lkFk l;kj ls [kyrh gS vkSj y;c)rk esa ckf)drk dk lapkj djrh gSA yfdu ;g lc lei.k dh ekax djrk gS D;kafd jkx vkSj y; ,d lf"V'khy tkMh cukrs gSA ,slk vur dky ls gksrk vk;k gSA vlikth ds vuqlkj] jkx&iqtk vrhr dh vkf[kjh [kkbZ gbZ dMh gS ftlus vkt Hkh gedks ,d v–'; Mksj ls ckèk j[kk gSA buesa iqjc vax xk;dh esa lfUufgr Hkfä cMh jlhyh gksrh gSA ;g jkLrk mu uk;dkvksa us n'kk;k gS ftuesa ls ,d us ckbZ th foe[k Lokeh foodkun ls dgus dk lkgl fd;k ^^len'kh çHkq uke frgkjk^^ vkSj viuk lxhr lquk;kA ,slh ukf;dk,a D;k vkt feyxh

Ustad Anwar Khan Manganiyar : The Humble Soul
(An Interview)

Manjari Sinha*

It was a chance meeting with the renowned Rajasthani folk singer Ustad Anwar Khan Manganyar at the concluding session of the 12th edition of the World Sacred Spirit Festival (WSSF), organised by the Mehrangarh Museum Trust at the Mehrangarh Fort, Jodhpur in 2019. The famous festival felt like a solemnly composed tapestry of chords and colours with passionate power and appeal. More than 150 artists from eleven countries performed at this three-day 'Festival of Sacred Music' proliferated over seven different venues in and outside the expansive fort, which created a perfect ambience and a positive aura for the specific genre being presented.

The WSSF had reached its tranquil climax with the mystic poetry and mesmerising music in the soul-stirring earthy voice of Sawan Khan Manganiyar and group, accompanied by an equally famous Ghevar Khan on Kamaicha, the string folk instrument of Rajasthan with a deeper tonality than a sonorous Sarangi. The majestic backdrop of the marble cenotaph of Maharaja Jaswant Singh II, added a sense of purity to the Sufi poetry of Baba Bulleh Shah, Shah Lateef and Kabir, performed passionately by Sawan Khan Manganiyar; as the first rays of the morning sun shone at the marble dome. This was the perfect destination for the three-day-long journey through the diverse dimensions of devotional and spiritual music. The foreign artists in the audience were awed by the spontaneous improvisations of these folk artists and wondered if music ran in their veins.

Yet another dimension of spirituality was revealed to me with the sudden awareness of the polarity between the musical values of these innocent musicians from the Thar desert and the city-dwelling musicians. The contrast disclosed itself when I spotted the famous Anwar Khan Manganiyar, totally absorbed in music, sitting rapt on the grass far away from the elegant seating arrangements of mattresses covered with Chaandani (white sheets) and the rows of comfortable chairs. When I reached this unassuming artist who had recently been honoured with the prestigious Sangeet Natak Akademi Award, for an interview; he politely declined with a request to keep the conversation for later and just listen to the beautiful music and the elevating poetry for now.

Anwar Khan informed me that Sawan Khan had learnt Sindhi Sufi Gayaki under Ustad Theeke Khan, now in Pakistan and that not only the vocalist but also Ghevar Khan, the Kamaicha player was a very talented artiste. While relishing their music he also kept sharing the story of 'Umar Marvi' (like Heer-Ranjha) being sung by Sawan Khan and the meaning of the other Sindhi Sufi poetry being sung, interspersing it with repeated 'Waahs' for the performing artists. This was the most unexpected eye-opener and a heartening surprise for one who is used to the mutual jealousy and backbiting of each other in the urban musical scenario.

Later when asked about himself, he tells me that he is a Manganiyar artist, born in Baiya

*Author, Acclaimed Music & Dance Critic, Gurgaon (Hariyana)

village of Jaisalmer. Presently he lives in the Indira colony in Barmer. "I can't remember since when I started singing. It is my Rozi-Roti (bread and butter). So far there has not been a single day when I skipped singing", he added.

He has been felicitated by the President of India with the Sangeet Natak Akademi Award in 2017. Attributing the recognition gained to the folk music of Western Rajasthan and the Langas and Manganiyars, he says "The Award is an honour for the folk music of Western Rajasthan. This is also a recognition of the Langa-Manganiyars who are selflessly singing and keeping the folk music of Rajasthan alive."

He further shares that he has given his voice to a few Hindi films including 'Rang-Rasiya' where he sang with playback singer Kailash Kher. Having travelled to more than fifty countries for his musical performances Khan adds "such recognitions certainly benefit folk music and the art. I have received many awards from other countries like Russia and Scotland but this kind of award for a folk artist in his own country also inspires the next generation of Langas and Manganiyars, to work harder and keep practising their music. He further stressed his desire for the community to ensure that the next generation of musicians receive proper education to excel.

"I am not educated. I have no other knowledge except for my musical craft. If the next generation of our musicians study well, they can do better to earn fame and glory". Khan has only one regret in life "Angrezi awani chahije" (one should know English, it helps.). Khan wishes that the next generation of folk musicians of Western Rajasthan should also get a proper education to excel in life.

On January 26th 2020, he was decorated with Padmshri, the prestigious Padma Award by the government of India. (Maharaja) Gaj Singh belonging to the erstwhile royal family of Jodhpur was the first to congratulate him amongst hundreds of people, including some Grammy awardees, who congratulated him on this occasion. He was felicitated at the Republic Day function in Jaisalmer and Barmer. He felt humbled while receiving congratulatory messages and phone calls. " Sab phone kar riya hain. Sangeet ra Premi saa! (Everyone is calling me up. They are all music lovers!)

My recent meeting with Ud. Anwar Khan Manganiyar was another surprise when I saw him performing along with the Gundecha Brothers in Washington DC. Indian classical music is supposed to have come from folk music, which has umpteen variety. One such folk variant is the Rajasthani folk of the Langa and Manganiar community singers from Rajasthan. These versatile singers and the instrumentalists accompanying them on Kamaicha (a string instrument like the Sarbangi), and purcussion like the Dholak and Khadtaal, have also popularised Indian folk music likewise in foreign countries. Music flows in their family from father to son. Even small children take to folk singing or playing folk instruments from a tender age. But Indian classical and folk genres have always remained as separate streams.

It, therefore, came as a pleasant surprise when one saw the Gundecha Brothers, the famous Dhrupadiyas of Dagar Gharana, perform with Ud. Anwar Khan Manganiyar and group in Washington DC. Gundecha Brothers were trained under Ustad Ziya Mohiuddin Dagar and Ustad Ziya Fariduddin Dagar at the Dhrupad Kendra Bharat Bhavan, Bhopal. Apart from singing the traditional Dhrupads, they have also sung the poetry of Hindi poets from Kabir to Nirala. This time they conceived the idea of experimenting with an amalgamation of classical and folk, ie a unique concert of Dhrupad & Rajasthani Folk. They talked about it with Ud. Anwar Khan Manganiyar and the result was a mesmerising duet of Dhrupad and the Rajasthani

folk, just after their separate performances respectively.

The program was initiated with Dhrupad when Pt. Umakant Gundecha and Anant Gundecha, accompanied by Pt. Akhilesh Gundecha on Pakhawaj and Dhani Gundecha on Tanpura, opened with the detailed Dhrupad Aalapchari in raga Jog, erecting the imposing architecture of the raga from slow (Vilambit) to medium (Madhya) and the fast tempo (Drut Laya), before presenting a traditional composition of the legendary Tansen set to Rudra Taal of 11 beats time cycle. The lyrics "Pratham Naad Saraswati, Ganapati Buddhidata…." came as the invocation to Saraswati the Goddess of learning and Ganesha the auspicious God of wisdom.

The second session showcased the folk music of Rajasthan by Anwar Khan Manganiyar and his group, comprising Ghevar Khan on Kamaicha, Manzoor Khan on Dholak and Gazi Khan on Khartaal. The vibrant voice of Anwar Khan, the earthy sound of the Kamaicha, the rhythmic cadences of the Dholak, and the measured metrical delectation of Gazi Khan on Khartal created a festive contrast after the contemplative Dhrupad. Since the program was in Duga Temple they opened with a Durga Stuti in a folk Ragini that resembled the Hindustani Madhmad Sarang.

The enchanting Maand "Kesariya Balam Aavo na Padharo Mhare Des", brought alive the warmth of their loving invitation. 'Ram Ratan Dhan Payo' was a soothing contrast with the Komal Swaras of raga Gunkali. There was a 'Sawal-Jawab' soiree between the percussions Dholak and Khartala in between the stanzas of the Meerabai Pada. Then came the concluding Ghoomar, which inspired the women in the audience to dance to the irresistible music.

The climax was a unique amalgamation of Dhrupad and Folk music coming together. The stage was set with Gundechas and the Manganiyars sitting alongside their specific accompanists playing Pakhawaj and Tanpura for the Dhrupad and the Kamaicha, Dholak and the Khartaal for the folk music. Gundechas opened with a short Aalap in raga Adana followed by the Dhrupad composition "Shiva Shiva Shiva" set to Drut Sooltala. Anwar Khan followed it with a Shiva Stuti contrasted by the lilting gait of the Kaherwa Theka on the Dholak sailing smoothly through the ten-beat cycle of the Sooltala in Dhrupd to the folk flavour of the eight-beats Kaherwa. There was no compromise with the purity of the contrasting forms. Dhrupad remained the rich, contemplative Dhrupad and the folk music of the Manganiyars maintained its original vibrancy. And yet together, each enhanced the beauty of the whole musical experience.

When complimented backstage, the humility of Anwar Khan was just the same "Sab jan yaan bhi Sangeet ra Premi sa"!

fp=dyk d: Ng vx

mn;u oktis;h*

1-

वात्स्यायन के कामसूत्र में चौसठ कलाओं का ज़िक्र है। इन सभी कलाओं को जानना अपने आप में बेहद रोचक है। हम अपने इस निबन्ध में इन कलाओं की व्याख्या करने की ओर नहीं जायेंगे। हम अपने को चित्रकला पर ही एकाग्र करेंगे। यह इसलिए कि सभी चौसठ कलाओं की व्याख्या करने का उपक्रम इस निबन्ध को किताब की शक्ल दे सकता है और मुझे अलग से पता है कि पत्रिकाओं में पूरी–की–पूरी किताबें छापने का चलन नहीं है। साथ ही, यह जानने में किसकी दिलचस्पी होगी कि पानी पर इस तरह हथेली मारना कि उससे पखावज के जैसी आवाज़ निकले, भी चौसठ कलाओं में एक है।

2-

भारतीय ज्ञान परम्परा में विचारों को कुछ–कुछ यूनानी ज्ञान परम्परा की तरह ही सूत्रों में लिखने का प्रचलन है। सूत्रों में लिखने के पीछे यह आशय है कि उनकी अन्यान्य पाठक अपनी–अपनी तरह से व्याख्या कर लेंगे। इस अर्थ में ये सारे सूत्र जिनमें भारतीय और यूनानी ज्ञान परम्परा में विचार व्यक्त होते हैं, उन्हें अपने पाठकों से अपनी व्याख्या की प्रत्याशा होती है। इन परम्पराओं में कोई भी विचार बनी–बनायी वस्तु या निर्देश की तरह पाठक को उपलब्ध नहीं होता। हर सूत्र में विचार की सम्भावना होती है, उसे चरितार्थ करने का काम पाठक को ही करना होता है। पाठक या श्रोता को। इन प्राचीन ज्ञान परम्पराओं में सूत्र बीज का काम करते हैं और पाठक का मानस उर्वर ज़मीन का। पाठक की उर्वर ज़मीन पर जब सूत्र–रूपी ज्ञान का बीज पड़ता है, उसके स्वभाव के अनुकूल वह सूत्र रूपी ज्ञान नये विचार के रूप में पुष्पित और पल्लवित हो जाता है। यह बिल्कुल सम्भव है कि किसी एक सूत्र की दो या तीन आपस में नितान्त अलग व्याख्याएँ हो जायें, ऐसा हुआ भी है। नाट्यशास्त्र में आये रस के सूत्र की कम–से–कम पाँच आपस में भिन्न व्याख्याएँ सहज रूप से मिलती हैं। यही कारण है कि हिन्दी के प्रकाण्ड विद्वान वागीश शुक्ल ने अपने एक निबन्ध में लिखा था, भारत में सर्वस्वीकृत केवल यह है कि यहाँ सर्वस्वीकृत कुछ भी नहीं है। भारतीय ज्ञान परम्परा के उत्तरोत्तर समृद्ध होने का कारण यहाँ का 'मतैक्य' नहीं, बल्कि 'मत वैभिन्न' है। यह अलग बात है कि मतैक्य के अभिलाषियों के प्रभुतासम्पन्न होने के कारण इस परम्परा की समृद्धि–यात्रा थम गयी है।

3-

रूपभेदाः प्रमाणानि भावलावण्ययोजनम्।
सादृश्यं वर्णिकाभंग इति चित्रं षडंगकम्।।

–कामसूत्र

कामसूत्र में चित्रकला के छह अंग बताये गये हैं। इन छहों अंगों को अलग–अलग तरह से देखा जा सकता है। यह बिल्कुल आवश्यक नहीं कि इन छह अंगों की सभी की व्याख्या एक–सी हो। कामसूत्र में इस श्लोक का आशय यह है कि कामसूत्र के लेखक वात्स्यायन के अनुसार चित्रकला में ये छह अंग होना चाहिए। इसका यह आशय कतई नहीं है कि हर चित्र में इन छहों अंगों का होना अनिवार्य हो। जैसा कि हम लिख ही चुके हैं कि कामसूत्र जैसे ग्रन्थ पाठक की भागीदारी से अपना रूप ग्रहण करते हैं, वे निर्देशात्मक नहीं होते। वात्स्यायन का श्लोक को लिखने का आशय यह नहीं है कि वे हर चित्र में इन छहों अंगों के होने का निर्देश कर रहे हों। वे दरअसल यह कह रहे हैं कि उन्होंने अपने समय में जितनी भी चित्रकृतियाँ देखी हैं, उनमें उन्होंने इन छह अंगों की उपस्थिति को लक्ष्य किया है–

4-

:iHkn

'रूपभेद' चित्रकला के अंगों में पहला बताया गया है, कामसूत्र में बताया गया है। रूपभेद का आशय है, रूप के प्रकार। चित्रकला के आकाश में अक्सर तरह–तरह के रूप चित्रित किये जाते हैं। हालाँकि ऐसे कई चित्रकार हैं, जग प्रसिद्ध चित्रकार हैं जिनके चित्रों में रूपभेद अनुपस्थित है। उनका पूरा चित्राकाश एक ही रूप से घिरा हुआ होता है। बल्कि यह कहना ज़्यादा सही होगा कि उनके चित्रों में एक ही रंग की कई रंगतें होती हैं कि रूपभेद का सवाल ही नहीं उठ पाता। ऐसे एक चित्रकार हैं, लेत्विया (और बाद में अमरीका) के मार्क रोथ्को। इनके

*कवि, लेखक, विचारक, अनेक पत्र–पत्रिकाओं के सम्पादक, भोपाल

अनेक चित्रों में पूरे कैनवस पर कोई एक ही रंग लगा होता है, पर आप उस एक रंग में उसी रंग की अनेक रंगतों को देख सकते हैं, महसूस कर सकते हैं। यह राग संगीत में स्वर और श्रुतियों के सम्बन्ध–जैसा कुछ है। संगीत में कुल सात स्वर होते हैं लेकिन श्रुतियाँ कुल बाईस कही गयी हैं। वैसे बाईस भी महज कहने का ढंग भर है, वे अनन्त होती हैं। इसी तरह रोथ्को के चित्रों में 'वर्ण–श्रुतियाँ' हैं। किसी एक कैनवस पर एक ही रंग की कितनी रंग–श्रुतियाँ रोथ्को बनाते हैं, इसकी गिनती करना मुश्किल है। इससे अलग मक़बूल फ़िदा हुसैन या राम कुमार या पॉल क्ले के चित्रों में कई रूपाकार दिखायी देते हैं। हुसैन के प्रसिद्ध चित्र 'मकड़ी और चिराग़ के बीच' में तीन अलग ग्रामीण स्त्रियाँ, एक चिराग़, एक मकड़ी अपने रूप भेद के कारण चित्र को एक ऐसे सक्रिय आकाश में रूपान्तरित कर देते हैं कि उसका कोई भी एक अर्थ स्थिर करना सम्भव नहीं हो पाता।

रूपभेद का आशय यह नहीं कि चित्र में जानी–पहचानी आकृतियाँ ही हों। रूपभेद स्वयं प्रतिष्ठ अमूर्त चित्रों में भी होगा। उदाहरण के लिए सैयद हैदर रज़ा के चित्रों में भले ही कोई मानव या अन्य जानी–पहचानी आकृति न हों, लेकिन उनके चित्रों, मसलन उन चित्रों में, जहाँ उन्होंने शून्य को चित्रित किया है, वहाँ कैनवस पर जो अनेक आकृतियाँ होती हैं, वे जानी–पहचानी न होते हुए भी अपनी अलग इयत्ता रखती हैं : यह भी रूपभेद हैं।

5-

i:ek.k

प्रमाण से आशय है 'अनुपात'। यह उन चित्रों के लिए हैं जिनमें एक–दूसरे से सम्बद्ध अनेक आकृतियाँ चित्रित की जाती हैं। मसलन, उस पहाड़ी लघु चित्र में जहाँ एक पेड़ के नीचे शिव–पार्वती, गणेश और कार्तिकेय बैठे हैं, जहाँ पावर्ती शिव को भाँग छानने में मदद कर रही हैं, पेड़ के अनुपात में शिव–पार्वती और उनके बेटों की लम्बाई कम है। शिव की आकृति की तुलना में पार्वती की आकृति कुछ छोटी है। चित्रकार चाहे तो इस अनुपातिकता को उल्टा–पुल्टा भी कर सकता है। लेकिन तब भी उसे विभिन्न आकृतियों को चित्रित करते समय उनके बीच किसी तरह के अनुपात का खयाल रखना ही होता है। यहाँ यह एक बात दोहराने में हर्ज नहीं कि कामसूत्र के ये चित्र–सम्बन्धी छह अंग किसी भी तरह का आरोपण नहीं है। ये छहों अंग चित्रकला को समझने या उसे पढ़ने के रास्ते हैं। अतियथार्थवादी चित्रकारों ने चित्र में अनुपात को उलट–पुलट करके भी अनेक महत्वपूर्ण चित्र बनाये हैं। चित्र में अनुपात हो, ये कहने का आशय यह नहीं कि चित्र में विभिन्न आकृतियों के आपस में वही अनुपात हो जो वास्तविक संसार में पाये जाते हैं। चित्रकार अपनी अन्तर्दृष्टि के अनुरूप चित्र में अनुपात को जैसा चाहे व्याख्यायित कर सकता है।

6-

Hkko

इस सूत्र में 'भाव' के दो आशय हो सकते हैं : पहला उपस्थिति और दूसरा भावना। उपस्थिति का मेरी दृष्टि में आशय यह है कि चित्रों में कई तरह की आकृतियों की उपस्थिति होती है। आवश्यक नहीं कि वह उपस्थिति जानी–पहचानी आकृतियों की ही हो। कैसी भी आकृति या केवल रंगों की उपस्थिति के बगैर चित्रकला सम्भव नहीं है। यह बात अलग है कि ऐसा भी चित्र बना है जिसमें कोई भी आकृति या रंग नहीं था। कैनवस को खाली छोड़ दिया गया था। लेकिन इस चित्र में भी कैनवस पर अनुस्थिति की उपस्थिति थी, अभाव का भाव था। भाव का दूसरा आशय भावना है। शायद यही आशय अधिक महत्वपूर्ण है। यहाँ भाव से आशय स्थायी भाव से हो सकता है। स्थायी भाव रस–निष्पत्ति के लिए आवश्यक हैं। लगभग असंख्य भावों को नौ स्थायी भावों में बाँटा गया है। ये सभी स्थायी भाव दर्शक के अपने भाव हुआ करते हैं। लेकिन जब वह किसी ऐसे चित्र को देखता है मसलन जिसे देखकर उसके भीतर करुणा का संचार हो जाये तो उसके अपने शोक का (स्थायी) भाव, भाव मात्र में अन्तरित हो जाता है। अब तक जो उसे केवल अपना शोक लग रहा था, किसी विशेष चित्र को देख उसे अपना वह शोक हर मनुष्य में उपस्थित शोक मात्र की तरह अनुभव होने लगता है। यह उसके अपने शोक के करुण रस में अन्तरण का होना कहा जाता है। कामसूत्र यह कहने की कोशिश कर रहा है कि चित्र ऐसा हो जिससे दर्शक के मन में उपस्थित स्थाई भाव का किसी रस में भावान्तरण हो सके।

7-

yko.;

लावण्य का सीधा–सीधा कोशीय अर्थ 'नमकीन' है। जाहिर है यह अर्थ कामसूत्र के षडंग को अभीष्ठ नहीं है। यहाँ लावण्य का कुछ और अर्थ है। वह अर्थ क्या है? यह जानने हमें आनन्दवर्धन के 'ध्वन्यालोक' में जाना पड़ेगा। वहाँ आचार्य आनन्दवर्धन लावण्य की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि अगर किसी स्त्री के चेहरे पर सभी

प्रसिद्ध अंग हों, तब भी आवश्यक नहीं कि वह सुन्दर लगे। प्रसिद्ध अंग से आशय है कि अंगों का वैसा होना, जैसा शास्त्रों में उनके सुन्दर होने के लिए आवश्यक बताया गया है। मसलन, गर्दन सुराहीदार हो, आँखें हिरण की तरह चंचल या मछली के पेट की आकार की हों, नाक सुतवाँ हो, माथा एक तरह का हो आदि। आनन्दवर्धन यह कह रहे हैं कि चेहरे की सुन्दरता का आधार इन तमाम शास्त्रोक्त आकार के नाक, आँख आदि का होना भर नहीं है। इसी तरह किसी भी कविता में अगर कवि ने ढेरों अलंकारों का उपयोग किया हो तब भी आवश्यक नहीं कि उसकी कविता में सुन्दरता या आकर्षण उत्पन्न हो। कविता में तभी आकर्षण उत्पन्न होता है, चेहरे पर तभी आकर्षण होता है जब उनके तमाम अंग–प्रत्यंगों के बीच एक बिल्कुल अनूठा अन्तर्सम्बन्ध हो। वही चित्रकला आकर्षक होगी जिसमें आये विभिन्न तत्त्वों का आपस में एक बिल्कुल नया और अनूठा सम्बन्ध दिखायी दे रहा हो। केवल हाथ की कुशलता से श्रेष्ठ चित्रकृति नहीं बनायी जा सकती। चित्रकार की अन्तर्दृष्टि और कल्पना ही उसके चित्र के विभिन्न अवयवों के बीच एक नितान्त नया अन्तर्सम्बन्ध उत्पन्न कर सकते हैं जिसके फलस्वरूप चित्रकृति में आकर्षण पैदा हो जायेगा। आकर्षण यानि 'लावण्य'। यहाँ कुछ वाक्य आकर्षण पर भी लिखना चाहिए। चित्रकृति में आकर्षण का अर्थ है चित्र को देखते समय दर्शक का चित्र में ध्यान लग जाना। यह ध्यान जितना भी गहरा होगा, चित्रकृति उतनी ही श्रेष्ठ होगी। तमाम कलाओं का अलिखित प्रयोजन किसी तरह का सन्देश देना नहीं होता। वह अपने दर्शक या श्रोता (सहृदय) में एक ऐसा ध्यान पैदा कर देती है जिससे वह दर्शक अपने भीतर उस गहरायी तक पहुँच जाता है, जहाँ उसे खुद अपने व्यापक स्वरूप का अनुभव होने लगता है। यह कोई रहस्यमय बात नहीं है, इसे हर वह दर्शक जानता है जिसने किसी भी एक चित्रकृति को पर्याप्त समय तक देखा है।

8-

lkn`';

किसी आकृति के किसी और आकृति की तरह दिखने को 'सादृश्य' कहते हैं। चित्रकार एक ऐसा पेड़ बना सकता है जो उसके आस–पास लगे पेड़ जैसा हो। वह एक ऐसा गुस्से में तमतमाया चेहरा बना सकता है जो गुस्से में तमतमाये व्यक्ति के चेहरे जैसा हो। यह सादृश्य की सबसे सादी व्याख्या है। चित्र में सादृश्य तत्त्व को तब भी उपस्थित माना जायेगा, जब चित्र में गिरजे में सामने की ओर देखते लोग दुख में डूबे दिखायी दे रहे हों। यहाँ सादृश्य का आशय उनके दुखी चेहरे से उत्पन्न लेकिन चित्र में न बनायी गयी, ईसा मसीह की छवि है। कोई चित्र ऐसा भी हो सकता है जिसमें एक पंख को चित्रित किया गया हो। इस एक पंख से उस पक्षी की कल्पना की जा सकती है जिसका वह पंख हो सकता होगा। यहाँ भी सादृश्य देखा जा सकेगा। ये सिर्फ कुछ उदाहरण हैं, यह बताने के लिए कि सादृश्य को हम अनेक तरह से व्याख्यायित कर सकते हैं।

of.kZdkHkax

वर्ण से आशय है 'रंग', और भंग का अर्थ है 'भंगिमा'। इन दोनों को जोड़ दिया जाये तो वर्णिकाभंग का आशय– निकलेगा रंगों की भंगिमा। मेरी दृष्टि में चित्रकला के सभी छह अंगों में कम–से–कम आधुनिक चित्रकला के लिए सबसे केन्द्रीय अंग है वर्णिकाभंग। वर्णिकाभंग को हम चित्र में लगे रंगों के बीच के संवाद की तरह समझ सकते हैं। यह इसलिए है क्योंकि हम तरह–तरह की भंगिमाएँ, तरह–तरह के अर्थों को दूसरे को सम्प्रेषित करने के लिए इस्तेमाल करते हैं। भंगिमा इस तरह शब्दहीन संवाद ही है। हर चित्र में रंग आपस में संवाद करते हैं। चित्र में कितने भी रंग क्यों न लगे हों, वे कितने ही रंगतों के क्यों न हों, अगर उनके बीच संवाद नहीं हो पा रहा है तो ऐसा होना चित्र को कमज़ोर बनायेगा। दरअसल, हम चित्र देखते समय रंगों के बीच के संवाद को ही प्रमुखतः देखते हैं, उसी कारण हमारा चित्र पर ध्यान एकाग्र होता है। वहीं से हमारे भीतर के भाव रस में भावान्तरित होते हैं। हर चित्रकार को स्वतः स्फूर्त ढंग से यह पता होता है कि उसे कौन–से रंग को किस रंग के साथ या किन रंगों के साथ लगाना है। इसकी शिक्षा नहीं दी जा सकती। वर्णिकाभंग को चित्रों में जीवन्त करने का कोई बँधा–बँधाया रास्ता नहीं है। हर चित्रकार को अपने चित्रों में नयी–नयी वर्णिकाभंग की खोज करनी पड़ती है। उसे यह खोजना पड़ता है कि कौन–सा रंग किस रंग से, कैसी रौशनी में बात कर सकता है। उसके एक तरह के रंगों को पास लाने से एक तरह की भाव सम्पदा दर्शक में जागृत की जा सकेगी। किन वर्ण–संवादों से कौन–से भाव उत्पन्न होंगे यह भी हमेशा रहस्य ही रहता है। इस रहस्य को खोलने का कोई रास्ता सचेत मनुष्य को प्राप्त नहीं है। यह रहस्य उसे जीवन भर बार–बार खोलना पड़ता है। चित्रकार को भी और दर्शक को भी। न चित्रकार को बिना कड़े परिश्रम और अन्तर्दृष्टि के अपने चित्रों में षडंग के किन्हीं भी अंगों की प्राप्ति होती है, न दर्शक को।

dyk d: lokxh.k fodkl e: lxg.k dh Hkfedk

nok'kh"k n*

मानवता के विकास में उसके कलात्मक संवेगों की उन्नति की महती भूमिका होती है । हमारे जीवन में सौंदर्य की अभिव्यक्ति, अनुभूति विभिन्न कलाओं के माध्यम से होती है । कला ही रस–सिद्धि का कारक बनते हुए हमारे भीतर रस और आनंद का संचार करता है और अंततः 'सत्यम् शिवम् सुन्दरम्' की वृहत्तर अवधारणा की ओर प्रवृत्त करता है ।

वस्तुतः मानवता के विकास–यात्रा की गाथा उसके कलात्मक पक्ष के उत्तरोत्तर उन्नति के माध्यम से ही लिखी जाती है । सरल शब्दों में कहें तो कला की विरासत किसी समाज के लिए उसकी समग्र प्रगति का मानक बनती है अर्थात् किसी समाज की उन्नति और प्रगतिशीलता का निर्धारण, उसके कलात्मक विकास से ही किया जाना चाहिए । जब कोई समाज कलात्मक रूप से अधिक विकसित होता है तो हम सहज ही उसे उन्नत, प्रगतिशील और विकसित मान लेते हैं जबकि आधुनिक युग में विज्ञान व तकनीक की उन्नति एवं आर्थिक उन्नति को ही विकास का आधार मान लिया जाता है, जो सर्वस्वीकार्य नहीं है ।

अब हम बात करेंगे किस प्रकार से कला की विरासत को सहेजा जाए कि उसमें आगे की उन्नति का मार्ग प्रशस्त होता रहे। जब भी विरासत की बात होती है तो संग्रहण, संरक्षण और संवर्धन– इन तीनों बिंदुओं पर हम अपना विचार केंद्रित करते है। संग्रहण की प्रक्रिया में हम अपनी पिछली पीढ़ियों के द्वारा किए गए प्रचेष्टाओं एवं उपलब्धियों का ठीक ढंग से लेखा जोखा रखने का कार्य करते हैं । ये संग्रह पीढ़ी–दर–पीढ़ी बिना नष्ट हुए किस प्रकार हस्तांतरित किए जाएँ, इसके लिए संरक्षण के विभिन्न उपाय खोजते हैं। इसी क्रम में हम अगली पीढ़ी को शिक्षित करते हैं जिससे कि वह पुरानी पीढ़ियों के द्वारा किये गये प्रयासों के संग्रहण का महत्व जान सकें, वर्तमान पीढ़ी के द्वारा संरक्षित करने के लिए किए गये प्रयासों से वाकिफ हो सकें और संरक्षण के साथ–साथ संवर्धन के लिए अपने प्रयासों को मूर्त रूप दे सकें। यदि उसे अपने पिछले पीढ़ियों के उत्कर्ष का सम्पूर्ण ज्ञान न हो तो पुनः वो प्राथमिक रूप से उस विकास की प्रक्रिया को प्राप्त करने का प्रयास करेगा और लगभग उन्हीं बातों को अनजाने में दोहराएगा जिनको पहले ही किया जा चुका है।

उदाहरण– के तौर पर समझिए कि एक व्यक्ति ने एक मकान बनाया जिसकी उसके पुत्र ने ठीक ढंग से देखभाल नहीं की और वह विनष्ट हो गया। फिर नये सिरे से नया मकान बनाया जिसे तीसरी पीढ़ी ने भी ध्यान नहीं दिया और पुनः नया बनाने में जुट गया तो वास्तव में देखा जाये तो यहाँ कोई उन्नति हुई ही नहीं। तो दूसरी ओर दादा जी ने जमीन पर नींव खोद कर एक मकान की एक मंजिल का ढांचा तैयार किया। फिर पिताजी ने उसको प्लास्टर आदि करते हुए उसको सुसज्जित किया । तत्पश्चात उनके पुत्र ने उसपर अगली मंजिल तैयार की और पूरा मकान सुन्दर ढंग से तैयार हो गया । दादाजी ने एक छोटे से पौधे को रोपा था जो उनके जीवन–काल में थोड़ा ही बड़ा हो पाया था जिसे पिताजी ने खाद, पानी डालकर सिंचित किया और फिर उनके पुत्र तक आते–आते वह पेड़ पर्याप्त विकसित हो चुका था और फलों और फूलों से लदने लगा । इस विकास क्रम में अगर एक भी कड़ी ने अपना दायित्व ठीक ढंग से निर्वहन न किया होता तो विकास गाथा अधूरी रह जाती। ये तो मात्र एक छोटा–सा उदाहरण था । कला की विकास–यात्रा तो अत्यंत ही जटिल और लंबी प्रक्रिया है, जिसमें सदियों लग जाते हैं। हमारा भारतीय शास्त्रीय संगीत इसका श्रेष्ठतम उदाहरण है, जो भरत के 'नाट्यशास्त्र' से होते हुए, शारंगदेव के 'संगीत रत्नाकर' के पड़ाव को पार करते हुए आधुनिक काल में एक अतिविकसित कला के रूप में संपूर्ण विश्व को आलोकित कर रहा है, आश्चर्यचकित कर रहा है। निःसंदेह ही यह अटूट विकास–यात्रा का एक सुन्दर निदर्शन है जो आज अपने विकास के बलबूते सम्पूर्ण विश्व में एक अति विकसित कला–विधा के रूप मे अपने को पूर्णतः स्थापित कर चुका है।

*शास्त्रीय गायक, लेखक, संस्थापक (शिल्पायन), वाराणसी

ऐसी विकास–यात्रा में संग्रहण की एक बहुत ही महत्वपूर्ण भूमिका होती है। जब संग्रहण के आधुनिक संसाधन मौजूद नहीं थे उसी समय हमारे मनीषियों ने विभिन्न सूत्रों के माध्यम से तत्कालीन संगीत–सिद्धांतों को इस प्रकार निरूपित किया कि मौखिक या वाचिक–परम्परा के द्वारा उन सिद्धांतों को ठीक–ठीक संरक्षित किया जा सके। यही कारण है कि हमें पूर्ण रूप से तो नहीं, पर अधिकाधिक रूप से तत्कालीन संगीत परिदृश्य को भली–भांति समझने में मदद मिली । उन्हीं सिद्धांतों को समय–समय पर नए जमाने के अनुसार पुनः परिभाषित करते हुए नवीन सिद्धांतों का प्रतिपादन किया गया। इसमें संग्रहण की भूमिका विशेष रूप से लक्षणीय है। भरत के 'नाट्यशास्त्र' में वर्णित संगीत सिद्धांतों की पुनर्व्याख्या से ही शारंगदेव ने अपने काल के अनुसार संगीत–सिद्धांतों का नवीन प्रकार से संयोजन किया,जो तत्कालीन संगीत को सुपरिभाषित करने में पूर्ण समर्थ था। यही प्रचेष्टा आगे के ग्रंथकारों में भी स्पष्ट दिखाई पड़ती है, जिसमें संग्रहण की महती भूमिका है। संग्रहण की यह प्रक्रिया मुख्य रूप से लिखित ग्रंथों एवं उनकी वाचिक परंपरा पर आधारित थी । ध्वन्यांकन के आधुनिक साधन उस समय तक मानवता को उपलब्ध नहीं हुए थे। आज हमारे पास पिछली कई पीढ़ियों की संगीत प्रस्तुतियों के ध्वनि–रूपांतरणों का संग्रहण विभिन्न माध्यमों एवं साधनों के माध्यम से उपलब्ध है। आधुनिक राग–संगीत की व्याख्या के लिए अब हमें मात्र स्वरलिपि और वर्णन पर निर्भर नहीं रहना पड़ता। हम अपने कानों से सुनकर काफी कुछ समझ लेते हैं। संगीत–श्रवण की यह प्रक्रिया हमारी समझ को काफी बेहतर ढंग से पुष्ट करने में सक्षम है। उदाहरण के तौर पर अगर हमें राग भैरव के स्वरुप और उसके रागात्मक प्रभाव को जानने की इच्छा हो और साथ ही हमें उसके क्रमबद्ध विकास के बारे में समझने की उत्सुकता हो तो हम विभिन्न संगीतज्ञों की प्रस्तुतियों का लाभ उठा सकते हैं। मेरी एक पसंदीदा ठुमरी है, जिसके बोल हैं 'पपिहरा पी की बोली ना बोल' (राग पीलू) जिसके लिए मुझे सौ साल पहले गायी गई उस्ताद मौजुद्दीन खान की रिकॉर्डिंग व लगभग 50 साल पहले गाई हुई पंडित महादेव प्रसाद मिश्र की रिकॉर्डिंग सुनने को मिली जिसमें मैंने अलग–अलग काल–खंडों की ठुमरी के मूलभूत सिद्धांतों के क्रमिक विकास, प्रस्तुतियों की गायन–शैली जो थी, इसमें अपनी समझ को मुझे विकसित करने में बहुत मदद मिली। साथ ही, ठुमरी की विकास–यात्रा को भी जानने का अवसर भी प्राप्त हुआ। ये ध्वन्यांकन ठीक ढंग से संग्रह करते हुए संरक्षित किए गए थे जिसका लाभ मुझे मिला। इस पर मैंने विचार किया कि आखिर ये पुराने संग्रह मुझ तक कैसे पहुँचा? उस जमाने की रिकॉर्डिंग कंपनी, (सम्भवतः एच. एम.वी) ने उस्ताद मौजुद्दीन खान के तमाम ठुमरियों का रिकॉर्डिंग किया और उन्हें व्यावसायिक रूप से संगीत समाज को उपलब्ध कराया, जो छोटे–छोटे काले रंग के बेकेलाइट डिस्क के रूप में थे। भले ही उनकी अवधि मात्र तीन–साढ़े तीन मिनट की थी। बाद में उनकी अवधि में विस्तार हुआ और हमारे बचपन में आते–आते ये L.P. तक जा पहुंचा जिसमें लगभग 22 मिनट की रिकॉर्डिंग एक साइड में हो जाती थी। दूसरी ओर, स्पूल रिकॉर्डिंग का भी विकास हुआ, जिसमें मैग्नेटिक टेप के द्वारा ध्वनि की बेहतर रिकॉर्डिंग सम्भव हुई। इस माध्यम का आकाशवाणी और फिल्म–उद्योग ने बड़े पैमाने पर उपयोग किया। इसी स्पूल का छोटा स्वरूप–कैसेट जब मार्केट में आया तो वह सर्व–साधारण को पूरी तरह से सुलभ हो गया। उस समय की म्यूजिक कंपनियों ने जितनी भी 3 ,साढ़े 3 मिनट के रिकॉर्डिंग्स थीं या 20 मिनट के, उसको कैसेट फॉर्म के रूप मे रूपांतरित कर व्यावसायिक रूप से खूब वितरित किया । संगीत–समाज को इसका इतना अधिक फायदा मिला कि लोग धड़ल्ले से कैसेट अपने संग्रह में रखने लगे। मैं ऐसे तमाम व्यक्तियों को जानता हूँ जिनके पास कैसेट के अपार संग्रह हुआ करते थे। न केवल व्यावसायिक रूप से बल्कि रिकॉर्डिंग की सुविधा मिनी कैसेट प्लेयर में उपलब्ध होते ही लोगों ने कार्यक्रमों की रिकॉर्डिंग कर अपने संग्रह को खूब बढ़ाया। किसी–किसी के पास सैकड़ों ही नहीं, बल्कि हजारों की संख्या में कैसेट हुआ करते थे। बड़े गर्व के साथ लोग अपने संग्रह को दिखाया व बताया करते थे। बाद में यह प्रक्रिया भी ठी–ठाक रूप से कई तकनीकों के विकास के रूप में सामने आयी, जैसे– सी. डी, डी.वी.डी, एम.पी.3 आदि। मुझे याद है कि मेरे गुरु जी की कुछ रिकॉर्डिंग कैसेट के रूप में जब मुझे प्राप्त हुए तो मैंने उन्हें रिकार्डिंग स्टूडियो में डिजिटल रूप से रूपान्तरित कर उन्हें परिष्कृत करवाया और MP3 के रूप मे गुरुभाई–बहनों और अपने संगीत–प्रेमी इष्ट मित्रों में वितरित किया जिससे उनकी रिकॉर्डिंग्स, जो सहजता से लोगों को उपलब्ध नहीं थे, उनको संगीत जगत के समक्ष लाया जा सका। ऐसे तो व्यावसायिक रूप से भी मेरे गायन के

कैसेट व सी. डी. निकले लेकिन मैंने अपने स्वप्रयास से अपने कुछ कार्यक्रमों की कैसेट में की गई लाइव रिकॉर्डिंग संरक्षित करने के प्रयास के रूप में उनको MP3 के फार्मेट में विद्यार्थियों एवं मित्रों के श्रवणार्थ प्रस्तुत भी किया।

यहाँ पर यह लाक्षणीय है कि इन सभी प्रयासों के पीछे संग्रहण एक बड़ा कारक था । हम पुरानी पीढ़ियों के संग्रह से लाभान्वित भी होते हैं, सीखते भी हैं और उन्हीं को आधार मानकर आगे विकास की चेष्टा भी करते हैं। अगर हम वर्तमान परिदृश्य पर नजर डालें तो भारतीय समाज में व्यक्तिगत संग्रहण की प्रक्रिया लगभग समाप्तप्राय है । व्यक्तिगत रूप से नई पीढ़ी के गंभीर विद्यार्थियों के पास LP जैसा, कैसेट जैसा, स्पूल जैसा, सी.डी. जैसा, डी.वी.डी. जैसा कोई संग्रह होता ही नहीं है। वे आश्रित हैं तो सिर्फ और सिर्फ यू–ट्यूब एवं अन्य इंटरनेट के प्लेटफॉर्म पर। ठीक जैसे सार्वजनिक पुस्तकालयों का भी लोप हो रहा है । कॉलेजों, विद्यालयों में भले ही कुछ किताबों का संग्रह दिख जाता है पर जिस प्रकार पुरानी पीढ़ी के पास एवं हमारी पीढ़ी के पास खरीदी हुई पुस्तकों का एक अच्छा–खासा संग्रह हुआ करता था, वह अब नहीं दिखता। सिर्फ व्यक्तिगत ही नहीं, संस्थागत रूप से भी हमने कई संग्रहों को करीब से देखा है। उदाहरण के तौर पर हमारे शहर काशी की संगीत की एक अत्यंत पुरानी, लगभग एक सौ बीस वर्ष से चली आ रही, संगीत संस्था का मै जिक्र करना चाहूंगा जिसका नाम है, 'काशी संगीत समाज' । इस संस्था की स्थापना पं० विष्णु दिगम्बर पलुस्कर जी की प्रेरणा से एवं राजा मुंशी माधव लाल जी के सहयोग एवं संरक्षण से हमारे गुरु जी के दादाजी पं० मुकुंद दामोदर काल्विण्ट जी ने स्थापित किया था। जिसमें बाद में श्री कृष्ण रस्तोगी जी ने इस 'धरोहर' संग्रहालय का खूब संरक्षण किया। पुरानी पीढ़ी के तमाम प्रतिष्ठित कलाकारों के वाद्य–यंत्रों व चित्रों से सुसज्जित उन्हें कक्षों में पुराने जमाने के लगभग सभी कलाकारों के दुर्लभ रिकॉर्डिंग आज भी मौजूद हैं। जब मोम के, लोहे के तवों पर रिकॉर्डिंग की जाती थी तबसे ये संग्रह भली–भांति पूर्ण देख–रेख के साथ संरक्षित की गयी। L.P. स्पूल के युग से लेकर कैसेट, सी. डी., डी.वी.डी. और कंप्यूटर, पेन–ड्राइव के जमाने तक ये अपार संग्रह बड़े यत्न के साथ किए गए। आज इस संग्रह का कोई हाल लेने वाला नहीं है। यह स्थिति दुर्भाग्यजनक ही नहीं, भयावह भी है। क्योंकि इससे परम्परा की एक कड़ी टूटती है। दूसरी ओर लगभग इतनी ही पुरानी संस्था ''संगीत परिषद'' भी है, जिसने एक समय मे बहुत बड़े–बड़े संगीत समारोहों का लगातार आयोजन किया और उन सबके लाइव रिकॉर्डिंग के संग्रह किए। ये सभी स्पूल के रूप में बड़ी ही सावधानी व जतन से संभालकर आज भी रखी हुई है, परंतु स्पूल प्लेयर की अनुपलब्धता और नई पीढ़ी की उदासीनता के कारण इसका कोई हाल पूछने वाला नहीं है । इस बात को बताते हुए संस्था के वर्तमान सचिव श्री विनोद अग्निहोत्री निराश हो जाते हैं क्योंकि ये संग्रह भी शीघ्र ही समाप्त होने के सीमा में पहुँच चुके हैं। भारत के विभिन्न स्थलों पर ऐसे हजारों व्यक्तिगत वा संस्थागत संग्रह हैं जो दुर्लभ भी हैं और बड़े काम के भी हैं। काफी संख्या में लोगों ने यूट्यूब पर उन्हें डाल रखा है, पर बात वहीं आकर रुक जाती है कि यह संग्रह व्यक्तिगत यत्नशीलता से वंचित है, यूट्यूब के एल्गोरिदम की मेहरबानी और कृपा से महरूम हो कर अपने समाप्त होने का इंतजार कर रहे हैं। अनेक दुर्लभ रिकॉर्डिंग्स को बिल्कुल नहीं के बराबर श्रोता या दर्शक मिलते हैं क्योंकि बिना पूर्व जानकारी के इनको ढूँढ़ निकालना असंभव ही है । मेरे पास भी एक छोटा–सा व्यक्तिगत संग्रह है जिसमें लगभग 500 कैसेट और 300 सी डी, डी वी डी हैं। कंप्यूटर के हार्ड ड्राइव में भी लगभग 4000 घंटों का संगीत सुरक्षित है, परंतु नयी पीढ़ी को व्यक्तिगत संग्रह की ओर प्रेरित न कर पाने के कारण उन्हें इनके महत्व के बारे मे पता भी नहीं होता है। वे इसके महत्व को समझते भी नहीं हैं। जब हम खुद संग्रह करते हैं उन्हें खुद संरक्षित करने के बारे मे सोचते हैं, अपने संग्रह के आकार को वृहद बनाने की ओर सचेष्ट होते हैं, तभी इसकी महत्ता और इसके पीछे किए गए प्रयत्नों के बारे में हम संवेदनशील होते हैं, जिसका पूर्ण अभाव हमारे भारतीय जनमानस में और विशेष रूप से नयी पीढ़ी में देखने को मिल रहा है। ये हमारी पीढ़ी की अक्षमता है कि हम उन्हें इस दिशा में प्रवृत्त नहीं कर सके। न तो पुस्तकों के संग्रह में, न हि संगीत प्रस्तुतियों के संग्रह में। यही हाल हमारी कलाकृतियों का भी है, पुरातत्व का भी है या कुल मिलाकर ये कहें कि हमारी सम्पूर्ण धरोहर का कमोबेश यही हाल है। इस बारे में हमे गंभीरता से तुरंत सोचना होगा। एक छोटा–सा उदाहरण देता हूँ– नयी पीढ़ी में 'याद पिया की आए' यह गीत अत्यंत लोकप्रिय हो चला है। जब मैं उनसे पूछता हूँ कि क्या तुमने इसका ओरिजिनल वर्जन सुना है तो वे उस्ताद राशिद खां का नाम ले लेते

हैं लेकिन उन्हें इस गीत के वास्तविक रचनाकार उस्ताद बड़े गुलाम अली खां साहब के बारे मे ंरत्ती–भर भी पता नहीं होता। ठीक उसी प्रकार, ''हमरी अटरिया पे'', जो अचानक से इस पीढी में खूब लोकप्रिय हो गया और सब की जुबान पर चढ़ गया तो उन्हें फिल्म 'डेढ़ इश्कियां' की गायिका रेखा भारद्वाज का तो पता होता है पर बेगम अख्तर के नाम का भी पता नहीं होता।

पिछले माह मैं अपनी जापान–यात्रा से लौटा। वह देश जिसने पूरी दुनिया को कंप्यूटर दिया, आधुनिक तकनीक की इबारत लिखी, विकास के नये–नये मापदंड गढ़े, पर मुझे घोर आश्चर्य हुआ, वहाँ लोग अभी भी सी. डी. खरीदते हैं। सी. डी. की दुकानें अभी भी चल रही हैं। लोग लाइव कार्यक्रम के बाद सी. डी. की तलाश करते हैं । पैसे देकर खरीदते हैं, फिर उस कलाकार को ढूंढते हैं ऑटोग्राफ लेने के लिए। ये प्रत्यक्षतः मैंने अपनी आंखों से देखा और व्यक्तिगत संग्रहशीलता से भारतीय संगीत–समाज की जरूरत को शिद्दत के साथ महसूस किया। काफी अफसोस भी हुआ कि क्या हमारी पीढ़ी ने यह बहुत बड़ी भूल तो नहीं कर दी। SP, EP के विकल्प के रूप में L.P. स्पूल आए । इनके विकल्प के रूप में कैसेट खूब बिके। बाद में, उनका स्थान सी डी, डी वी डी ने लिया, पेन ड्राइव भी चला किन्तु इसका कोई विकल्प आज हमारे पास मौजूद नहीं है। यूट्यूब तथा अन्य म्यूजिक प्लेटफॉर्म को इसके विकल्प के रूप में देखना हमारी पीढ़ी की भारी भूल है। ये कदापि उचित नही है।

अस्तु।

Age of 'Natyashastra' and 'Amarakosha' of AMARA SIMHA -A Retrospection

Dr. T. V. Manikandan*

Abstract

Documentation is the most inevitable exercise in the evolution of any area of studies as this keeps track of augmentation as landmarks for future references and assimilations. In the study of Indian music; the texts like Vedas, Puranas, and Upanishads and Epics are equally important as the Lakshana Granthas like Natyashastra, Brihaddeshi etc. In many a case, some historical documents and travelogues as well as literary works may also provide valuable information, which endow with ample references in assimilating the theories for the posterity. Namalinganusasanam which is otherwise known as Amarakosha, basically a Sanskrit lexicon, authored by Amarasimha, contains valid information's about not only it's age but points towards the age of several historical personalities and Lakshana Granthas like Natyashastra which is considered very important in music.

Keywords: *Amarakosha, Navaratnas, Jyotirvidhabharana, Namalinganushasana, Amoghavrutti, Swargadi Khanta, Bhoovargadi Khanta, Samanyadi Khanta, Vyoma Varga, Dig Varga, Dhee Varga, Kaala Varga, Shabdadi Varga, Patala Bhogi Varga, Vari Varga*

Indian Classical Music, which is believed to have instigated in the form of kernel along with the progression of Vedic chants during the Vedic period and gradually corroborated and established with the Musical brilliance; was appended periodically by subsequent musicologists, and ultimately influenced the music of South Asia and other neighbouring parts of the world. Though the contributions of luminaries like *BHARATA, DATTILA, MATANGA, NARADA* and others helped in the preservation of music of '*BHAARATA VARSHA*' to the exalted domain in the world of music and discussed loud and clear, unfortunately, the contribution of several other musicologists went unheard. In fact, these inputs have their own importance in documenting the facts related to Indian Music along the historical evidences through ages. At several instances, we get ample evidences from epigraphs and the travelogues, which can be assimilated to disprove several mis-conceptions, essential for the healthy development of subject of music.

AMARA SIMHA; an eminent scholar and author of the celebrated work, "*AMARAKOSHA*"- a text of Lexicon in Sanskrit, is considered as one among the *NAVARATNAS* in the court of *Chandragupta-II*, of GUPTA dynasty who is also popularly known as *VIKRAMADITYA* (380-415 CE.). Though, there are some qualms regarding the names of NAVARATNAS and their age, the "*JYOTIRVIDHA BHARANA*", a treatise on Astrology by *KALIDASA* mentions the NAVARATNAS in the court of Chandra Gupta-II as (1) *KALIDASA (2) AMARASIMHA (3) DHANWANTARI (4) GHATAKARAPARA (5) KSHAPANAKA (6) SHANKU (7) VARAHA MIHIRA (8) VARARUCHI (9) VETALA BHATTA*

About the age :

Though, there are some controversies about the names that figure out in the

*Professor, Department of Music, University of Delhi

NAVARATNAS; the travelogue written by ***Fa-Hien (Fa-Xian)*** – *Foguoji* confirms the above information of "***NAVARATNA"-*** nine gems in the court of Chandragupta – II. Some historians are even in the opinion that the ***NAVARATNAS*** and the patron *VIKRAMADITYA* belonged to the eighth Century, in *UJJAIN*. Perhaps, the reason why they argue so may be because, for the first time it was mentioned in the *AMOGHAVRITTI*, an anthology of ballad authored by *SHAKATAYANA* during the reign of *AMOGHAVARSHA*, a monarch in Deccan during 814-867 CE. A close study of ***AMARAKOSHA*** may give many leads about its age and other details, considering the fact that it precedes the period of illustrious *BHARATA*, who formatted the classical foundation for Indian Dance and Music along with information related to histrionics through his celebrated work - *NATYASASTRA*.

About the work :

Etymologically, the word "*AMARAKOSHA*" can be defined as the "Eternal treasure" or "dictionary of A*MARA SIMHA*" or "immortal collection" and so on. But the original name of this celebrated work - "*NAMALINGANUSHASANAM*" (*Nâmali Egânuúâsanam*), significantly gives some clues about its content. Basically, it deals with instructions about the 'nouns and 'gender' of the words in Sanskrit literature. Though it is not an authoritative text on Music, its relevance in the elementary education of Sanskrit, even today makes it more vibrant. An odyssey through the entire work may give an idea about the development of several branches of study and culture related concepts, prevalent in ancient Indian subcontinent during the early Christian era.

AMARAKOSHA is divided into three *KHANDAS* or sections, in which the initial, SW*ARGADI KHANDA* has words connected to Heaven and gods. The second, *BHUVARGADI KHANDA* deals with words pertain to earth, towns, animals and humans. The last, *SAMANYADI KHANDA* has words that are related to grammar and other miscellaneous words. *SWARGADI KHANDA*, the first part of the *AMARAKOSHA*, is divided in to several bisections like ***Vyoma Varga-*** words connected to atmosphere, ***Dig Varga-*** words connected to all directions, ***Kaala Varga-*** words pertaining to seasons and time, ***Dhee varga-*** connected to the intellect, ***Shabdadi Varga-*** pertaining to Sound and Voice, ***Natya Varga-*** related to music, dance and drama, ***Patala Bhogi Varga-*** connected to subterranean, and ***Vaari Varga-*** which is connected to ocean etc.

The second part of *AMARAKOSHA* - *BHUVARGADI KHANDA*, is divided into ten Vargas like ***Bhuvarga-*** Earth, ***Puravarga-*** *Places*, ***Shailavarga-*** Mountains, ***Vanoushadhivarga-*** Forests and medicines, ***Mrugadivarga-*** *A*nimals, ***Manushyavarga-*** Mankind, ***Bramhavarga-*** Brahman, ***Kshatriyavarga-*** Kshatriya, ***Vaisyavarga-*** Vaisya and ***Sudravarga-*** Sudras; the four-caste system that prevailed during that period.

The third section, *SAMANYADI KHANDA* contains adjectives, verbs, words related to prayer and business etc. It has been divided in to the vargas like ***Viseshya nighna Varga, Sankirna Varga, Nanartha Varga, Avyaya Varga, Lingadi Samgraha Varga*** inclusive of **Stri linga- Pullinga – Napumsaka Linga** etc.

AMARASIMHA speaks about the terms related to music and dance in the first chapter assign to *SWARGA*- heaven, which indicates the realm, where music and other art forms were obtained in the society. In *KAALA VARGA*; section connected to time, he mentions about the time structures like ***Nimesha*** or ***Matra***, 18 Matra is equal to ***Kashta***, 30 Kashta is equal to

one ***Kshana***, and 12 Kshana together is equal to one ***Muhurtha***. Natyashastra also discuss about the same but without ***Kshana*** and ***Muhurtha***

In *SABDADI VARGA*, he talks about the basic concepts of music like ***Dhwani,*** Human Voice, ***Nada, Shruti, Pranava, Geetam, Gaanam*** and three types of ***Swaras*** such as ***Udatta, Anudatta*** and ***Swarita*** etc.

शिक्षेत्यादि श्रुते रंगमोंकार प्रणवौसमौ
इतिहासः पुरावृत्तमुदात्ताद्यास्त्रयः स्वराः

In page no:78-79 He mentions about Swara – interpretation as Udaadtta, Anudaatta and Swarita and mentions about Omkara and Pranava

वीणायोः क्वणिते प्रक्वाणः प्रक्वणादयः
कोलाहलः कलकलस्तिरश्चां वाशितंरुतं
स्त्री प्रतिश्रुती प्रतिध्वाने गीतं गानमिमेसमे

In page no: 88 He says "Nikwana:, Nikwaana:, Kwaana:, Kwana: are the name of Sound emanate from Vina" and that Prakwaana:, is the name of Sound emanating from Vina.

In *NATYA VARGA*, as in this period music was considered only a part of dance; he continues with the words of music like ***Sapta swara*** and its variants, ***Stayi, Tala*** etc.

काकलीतु कलेसूक्षमे ध्वानौतु मधुरास्फुटैः
कलोमन्द्रस्तु गंभीरे तारोत्युच्छैस्त्रय स्त्रिषु

Further he mentions about different types of sound (Perhaps the Variety of Sruti)

Kaakali, ***Kala*** - are the Sweet Feeble Sound which is very clear

Mandra - reverberating and majestic Sound

Tara - is the loud variety of Sruti.

समन्वितलयस्त्वेकतालो वीणातु वल्लकी
विपञ्जी सातु तन्त्रीभिस्सप्तभिः परिवादिनी

In page no. 89, he mentions about seven swaras such as *Shadja, Rishabha, Gandhara, Madhyama, Panchama, Dhaivata* and *Nishada* that emanate from **Seven strings of Vina** and human throat. It is to be noted that **during that period Vina might have Seven strings**.

Here, one thing to be notified is that there was no any mention of *Raga, Grama, Moorchana* and *Jaati*. Hence, it can be assumed that *Grama-Moorchna-Jati* system came only after 3rd century.

ततं वीणादिकंवाद्यमानद्धम् मुरजादिकम्
वंशादिकम् तु सुषिरम् कांस्यम् तालादिकम् घनम्

In page no. 90, he mentions about the ancient classification of musical instruments in to *Tatam – Avanadham – Sushiram – Ghanam* such as *Vina – Muraja/ Mizhavu – Vamsi*/Flute and Gong bell respectively. It is very clear that four types of classification for instruments were prevalent during those periods.

चतुर्विधमिदं वाद्यं वादित्रातोद्य नामकम्
मृदंगामुरजा भेदास्त्वं क्यालिंग्योर्द्ध्वकास्त्रयः

Vaadyam, Vaaditram, Atodyam are the variety of those four types of Instruments. *Mridanga* and *Muraja* are the name for same percussive instrument. *Aankyam*, (played by keeping in the lap) *Aalingyam* (played by chaining it along with the body) and Oordhwaka (played over the head with stick or bear hand) are the three types of percussive instruments.

There after he mention about different types of ***Vina*** and percussion instruments like ***Mridanga, Muraja, Pataha, Bheri*** etc. along with terms related to dance and histrionics. It is very curious to be noted here that, when he mentioned about the basic credentials of Indian music, he never mentioned the terms – ***RAGA***, ***Grama-Moorchana-Jati*** *etc.;* from which we have to assume that, there was no any term like *RAGA* during the period of *AMARAKOSHA* or

that it was authored either before or during the period of *NATYASHASTRA*. The term *RAGA* was introduced only from the time of *MATANGA'S BRIHADDESI*, which falls on somewhere in the middle of 8th century.

वीणादण्ङः प्रवालः स्याल ककुभस्तु
कोलाम्बकस्तु कायः स्यादुपनाहो निबन्धनः

Pravala is another name for the stem of Vina. Kakubhah: and *Prasevakah:* are the names of the Gourd of Veena. *Kolambakah:* is the body of Vina without strings and *Upanaaha:* and *Nibandhanah:* are both the string tying portion in a Veena.

स्यादृशः पटहोढक्का भेरीस्त्री दुन्दुभी पुमाम्
आनकः पटहो स्त्रीस्याल कोणो वीणादिवादनम्

Yasha:, *Pataha (Aanakah:* is the other name of *Patahah:)*, and *Dhakka* are played to spread the fame of any person or country; while *Bheri* and *Dundubhi:* are the instruments used for passing information and official orders; and *Konah:* is the wooden block used to play a typical Vina.

वाद्यप्रभोद ङमरु मङ्ङु ङिण्डिम झरझरः
मरद्दलः पणवोन्ये च नरतकी लासिके समे

Damaru (*Katundudi*) is the smaller - and *Duddu* (*Netundudi*) is the bigger size of the same instrument. *Dindima* (*Para*) is another percussion instrument used to play for any declaration and *Jharjhara* (*Perum Para*) is the bigger one of the same instruments used in the war site. *Marddala* and *Panava* are the instruments used on the performing stage. *Gomukha* and *Panchamukha Vaadya* were the other instruments used for theatre. *Nartakee* and *Lasika* were the names used to define dancers.

We can find mentions about *Tala* and dance related quotes in this Natya Varga. He mentions about one tala which is inclusive of all *Laya* i.e. *Eka tala*;

विलंबितम् द्रुतम् मध्यम् तत्वमोघो घनम् क्रमाल्
तालः कालक्रिया मानम् लयस्साम्यमथा सत्रियां
ताण्डवम् नटनम् नाट्यम् लास्यम् नृत्तम् नर्तने
तौर्यत्रिकम् नृत्तगीतवाद्यम् नाट्यमिदम् त्रयम्

Vilambitam- Drutam- Madhyam are the three degrees of speed of dance forms such as *Tatwam – Ogho* and *Ghanam* respectively. From this the speed of each dance form can be analysed. *Tala* is the method of calculating the speed of Song and Dance and *Laya* is the speed assessing scale of Dance.

Taandavam which is the *Natanam* and *Laasyam* which is *Naatyam*, are the two styles of dance – *Nartanam* mentioned in the text. ***Touryatrikam*** is the combination of *Geetam – Vaadyam – Nrityam.*

Similarly, in the chapter – *NATYA VARGA*, which speaks about the words connected to expressions in dance and acting, *AMARA SIMHA* enumerates about only eight *RASA* (expressions) of acting, instead of nine *RASA*, the latter being more popular in today's times.

श्रृंगार वीरकरुणाद्भुत हास्य भयानकाः
बीभत्सरौद्रचरसा श्रृंगारः शुचिरुज्वलः

He illustrates about ***Shringara (Love)***, ***Veera (Valor)***, ***Karuna (Compassion)***, ***Adbhuta (Wonder)***, ***Hasya (Laughter)***, ***Bhayanaka (Frightening)***, ***Bheebhatsa (disgust)*** *and* ***Roudra (Anger)*** only. Surprisingly the sentiment ***Shanta Rasa*** (Tranquility) was not mentioned anywhere in *AMARAKOSHA*. Interestingly, ***Shanta Rasa*** was introduced by *ANANDA VARDHANA* (820- 890 CE) in his work called *DHWANYA LOKA.*

Conclusion :

From the above-mentioned points, we can very well come to the inference that *AMARASIMHA* was one among the

NAVARATNA in the court of Chandra Gupta-II (375 – 415 CE) and Amara Kosha was authored during the same century. This brings us to another conclusion that Natyashastra must have authored only after fourth or specifically in the last part of fifth century.

References :

1. Amarakosa by Amarasimha, translated by K.K.Balakrishna Panikkar, H &C Kunnankulam-1983.
2. Vardhana, Ananda, Dhwanya Loka
3. Dani, Ahmad Hasan, History of Civilizations of Central Asia, B.A. Litvinsky, UNESCO.
4. Gupta dynasty: Empire in 4th cent. Archived, March 2010 at the Britannica Online Encyclopaedia.
5. Ancient Indian History and Civilization by Sailendra Nath Se

वसंत, व्रज और वंशीधर श्रीकृष्ण

डॉ. राजेन्द्र कृष्ण अग्रवाल 'राजक'*

माघ मास का आगमन ऐसे समय होता है जब न तो अधिक सर्दी होती है और न अधिक गर्मी। मौसम शीतोष्ण रहता है। सर्दी का प्रकोप लगभग शांत–सा हो चुका होता है। यह प्रकृति के शयन से जागरण का समय होता है। यही कारण है कि षट् ऋतुओं में सर्वाधिक मनभावन वसंत ऋतु को ही ऋतुराज की संज्ञा प्रदान की गई है। भगवान् श्रीकृष्ण तो 'ऋतूनाम कुसुमाकरः' (श्रीमद्भगवद्गीता 10–35) 'ऋतुओं में मैं वसंत ऋतु हूं' कहते हुए वसंत ऋतु को सभी ऋतुओं में सर्वाधिक महत्ता प्रदान करते हैं। माघ शुक्ल पंचमी, जिसे वसंत पंचमी अथवा श्री पंचमी भी कहते हैं, को शीत ऋतु को भावभीनी विदाई दे वसंत धरती पर उतरता है, एक नई उमंग लेकर। कामदेव के घर पुत्र–जन्म के कारण भी हर ओर राग और रंग बरसता दिखता है। शब्दों के चितेरे कवियों और सुरों से शब्दों में रंग भर देने वाले संगीतज्ञों को तो यह ऋतु अत्यंत ही प्रिय है। संगीत में 'वसंत' या 'बसंत' नामक एक अत्यंत प्रिय राग भी होता है, जो वसंत ऋतु में तो हर समय मंदिरों और देवालयों सहित व्रज के संगीत–रसिकों के घर–घर में सुनाई पड़ जाता है। रंगों में भी बसंती रंग का अपना अलग ही महत्त्व है। प्रकृति में भी चहुं ओर वासंती छटा छाई दिखाई पड़ती है। उत्साह से भरपूर यह रंग हमारे जवानों तक में ऐसा वीरत्त्व–भाव जगा देता है कि वे भी अपने चोले को बसंती रंग में रंगने को लालायित हो उठते हैं। वसंत ऋतु आते ही चहुं ओर खेतों में सरसों ऐसे लहलहाती दिखती है मानों उसने धरा को अपने धानी आंचल से ढंक लिया हो। धरा का ऐसा अनुपम सौंदर्य निहार भोले–भाले ब्रजवासी भी बरबस ही गा उठते हैं–

''सरसों फूली रे खेतन में,
छाई आज बसंत बहार।।''

शास्त्रीय संगीतज्ञों के द्वारा भी कुछ ऐसे ही खयाल वातावरण में इस प्रकार गुंजायमान होने लग जाते हैं। यथा–

''आई आई ऋतु वसंत,
सुषमा बिखरी अनंत।
अति सुगंध बहत पवन,
जन–मन सुखदाई।।

कुंज–कुंज कोयलिया,
कुहुक–कुहुक रस घोले।
कुसुम–कुसुम पर भंवरा,
गुन–गुन–गुन बोले।।''

अथवा

''कोयल बोले अमुवा की डार।
पंचम सुर से बार–बार।।

वन–वन विकसित, कलियन–कलियन।
कुसुम–कुसुम पर, मत्त मधुपगन।
ऋतु वसन्त की, छाई बहार।।''

इस प्रकार, वसंत के आगमन की यह उमंग जन–मानस के साथ–साथ पशु–पक्षियों तथा कीट–पतंगों तक को मदोन्मत्त कर देती है।

वसंत पंचमी के दिन साहित्य, संगीत और कला की अधिष्ठात्री मां सरस्वती की पूजा के साथ–साथ भगवान् लक्ष्मीनारायण और कामदेव की पूजा भी की जाती है। भले ही, इस दिन ऋतु–पूजा, रति–पूजा, प्रकृति–पूजा, देव–पूजा और वेद–पूजा का भी विशेष महत्त्व है; किंतु समूचा व्रज–मंडल तो अपने परमाराध्य श्रीकृष्ण की भक्ति में ही अधिक डूबा दिखलाई पड़ता है। कारण, व्रज–संस्कृति बिना कृष्ण के अधूरी ही है। यहां के कण–कण में श्रीकृष्ण का वास है; अतः हर ब्रजवासी इन पर लुट जाना चाहता है। वह अपना तन–मन–धन और जीवन तक वारने को लालायित हो उठता है। इस दिन अपने आराध्य को सरसों और आम्र–पुष्प समर्पित कर अपने को धन्य मानता है हर ब्रजवासी। सभी कृष्ण–मंदिर बसंती और पीले पुष्पों

*संगीतज्ञ / कवि / लेखक / संपादक–संगीत पत्रिका, हाथरस
संस्थापक, डॉ. राजेन्द्र कृष्ण संगीत महाविद्यालय एवं शोध–संस्थान, मथुरा

से तथा ठाकुर जी के श्री विग्रह बसंती रंग की पोशाकों से सुसज्जित किए जाते हैं। यत्र–तत्र–सर्वत्र बसंती एवं पीत–वर्ण ही दिखलाई देता है और इस वासंती छटा को निहार ब्रजवासी गा उठते हैं –

''श्यामाश्याम सलौनी सूरत कौ श्रृंगार बसन्ती है।
श्रृंगार बसंती है, अरे! श्रृंगार बसंती है।।''

वसंत के बाद ठाकुर जी को सादे श्वेत वस्त्र धारण कराए जाते हैं। कारण, इसी दिन से होली का त्यौहार भी प्रारंभ हो जाता है। यदि वस्त्र रंगीन होंगे तो फिर होली के रंगों की सतरंगी छटा कैसे बिखरेगी! व्रज में होली का डांढ़ा भी वसंत पंचमी के दिन ही गाड़ दिया जाता है। इस दिन बसंती मीठा या नमकीन चावल, केसर हलवा, खीर, तिल की रेबड़ी और बेर आदि का भोग भगवान् के सम्मुख पधराया जाता है। मथुरा में यमुना पर दुर्वासा ऋषि का बहुत बड़ा मेला लगता है। श्री कृष्ण जन्मस्थान में भी बसंती कमरा सजाया जाता है। श्री द्वारकाधीश मंदिर में वसंत पंचमी के दिन अबीर–गुलाल और चंदन से भगवान् को होली खिलाई जाती है। इस दिन वृंदावन के शाह जी के मंदिर का विश्व प्रसिद्ध बसंती कमरा भी दर्शनार्थियों के लिए खोल दिया जाता है जिसकी अद्भुत छटा देखते ही बनती है। विश्व प्रसिद्ध श्री बांके बिहारी जी के मंदिर में भी वसंत पंचमी से ही होली की धूम मचने लग जाती है। श्री राधा वल्लभ, राधा दामोदर, सेवाकुंज और यशोदानंदन आदि मंदिरों में वसंत पंचमी के दिन से ही फागोत्सव प्रारंभ हो जाता है। मंदिरों और देवालयों में गाई जाने वाली समाजों में वसंत और होली की धमारों की धमक यहाँ के वातावरण को रसमय बना देती है। नंदगांव के नंद बाबा मंदिर और बरसाना के लाड़ली जी के मंदिरों में समाज–गायन हेतु समाजें बैठ जाती हैं। गोवर्धन और जतीपुरा के मंदिरों में भी वसंत पंचमी की छटा दर्शनीय होती है अर्थात् समस्त व्रज–मंडल ही कृष्ण–भक्ति के साथ बसंती रँग में रँगने लग जाता है।

ब्रजवासी अपने परम आराध्य श्रीकृष्ण के प्रति यूं ही आकृष्ट नहीं हैं, वह तो हैं ही ऐसे कि जो एक बार उनको भूल से भी दृष्टि भरकर देख ले तो वह उसके हृदय में समा जाते हैं और फिर त्रिभंगी (तीन स्थानों से टेढ़े) हो जाते हैं । चाहकर भी कोई उन्हें हृदय से बाहर नहीं निकाल सकता।

अद्वैतवादी आचार्य भक्तप्रवर श्री मधुसूदन सरस्वती जी जैसे महा ज्ञानी कृष्ण–रंग में रंगकर अपनी ऐसी दशा कर लेते हैं कि उन्हें फिर कोई दूसरा तत्त्व सूझता ही नहीं और कह उठते हैं कि–

वंशी विभूषित करान्नवनीरदाभात्,
पीतांबरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात्।
पूर्णेन्दु सुन्दर मुखादरविंद नेत्रात्,
कृष्णात्परंकिमपि तत्त्वमहं न जाने।।

फिर साधारण भक्त–जन की तो बात ही क्या कहें!

ब्रज–रस–रसिक भक्तप्रवर ललितकिशोरी जी भी तो उस छलिया चितचोर के लिए ऐसा ही कुछ कहते हैं। यथा–

देखो री, यह नंद का छोरा,
बरछी मारे जाता है।
बरछी–सी तिरछी चितवन की,
पैनी छुरी चलाता है।।
हमको घायल देख बेदरदी,
मंद–मंद मुसकाता है।
'ललितकिसोरी' जखम जिगर पे,
नौनपुरी बुरकाता है।।

व्रज में वसंत के आते ही जो स्वर–लहरियां वातावरण में गुंजायमान होती हैं, उनका आनंद तो ब्रजवासी ही ले सकते हैं। वैसे संगीत के रसज्ञों के लिए तो सम्पूर्ण भारतवर्ष ही व्रज हो जाता है। हर कंठ से केवल और केवल उल्लास के स्वर ही फूटते सुनाई पड़ते हैं। सूरदास जी के शब्दों में गोप–वधुएँ वसन्त आते ही नन्द के द्वार पहुँच गा उठती हैं–

''आईं हम नंद के द्वारे।
खेलत फाग वसंत पंचमी, सुख–समाज विचारे।।

कोउ लै अबीर, कुमकुमा, केसर,
काहू के मुख पर डारे।
कोऊ अबीर–गुलाल उड़ावे,
आनंद तन न सम्हारे।।

मोहन कों गोपी निरखत सब,
नीके वदन निहारे।
चितवन में सब ही बस कीन्हीं,
नागर नंद दुलारे।।

ताल, मृदंग, मुरली, ढप बाजे,
झांझन की झंकारे।
'सूरदास' प्रभु रीझ मगन भए,
गोप–वधू तन वारे।।''

किंतु जिसका प्रियतम (श्रीकृष्ण) वसंत के आगमन तक भी घर नहीं लौट सका है, उसके कंठ से तो उल्लास के स्वर नहीं, बल्कि विरह के स्वर ही फूटेंगे। ऐसी नायिका (गोपिका) को तो धमार का आनन्द भी फीका लगना स्वाभाविक ही है। यथा–

''कैसौ फाग ब्रज में आज।
जब नहिं श्याम ही सँग आलि।।

गवन कीन्हों श्याम मथुरा।
विरह–व्याकुल गोपि–ग्वालन।
छांड़ गए ब्रजराज।।''

श्रीकृष्ण के प्रेम में डूबी संत मीराबाई के भी एक पद में वसंत के आगमन तक भी कंत के न आने की पीड़ा दृष्टव्य है। यहां मीरा अपने कन्त बेनी माधव के विरह में गा उठती हैं–

''होली पिया बिन लागे खारी।
सुनो री सखी मेरी प्यारी।।

बाजत ताल, मृदंग, मुरलिया।
बाज रही एकतारी।
आयौ वसंत कन्त घर नाहीं,
तन में जरनवा भारी।
श्याम मन कहा बिचारी।।''

ठुमरी आदि विधाओं में भी वसंत और होली के वर्णन प्रचुर मात्रा में सुने जा सकते हैं। जहां तक वसंत या होली गीतों की बात है, उनमें भक्ति या श्रृंगार प्रधान गीतों का ही प्राधान्य अधिक रहता है। श्रृंगार में भी संयोग श्रृंगार की प्रधानता अधिक रहती है। वियोग या विप्रलम्भ श्रृंगार की रचनाएं भूले–बिसरे ही मिलती हैं अथवा कम मिलती हैं।

ब्रज के लोक–संगीत में भी वसंत और होली के असंख्य गीत जन–जन के कंठ में समाए हुए हैं। इन गीतों में एक ओर प्रकृति की मनोरम झांकियां दिखाई पड़ती हैं तो दूसरी ओर वासंती रंग में रंगे कृष्ण–भक्ति के विविध रूप।

वसंत, ब्रज और श्रीकृष्ण की बात बिना पारासौली की चर्चा अधूरी ही मानी जाएगी क्योंकि तात्त्विक दृष्टि से वसंत, ब्रज और श्रीकृष्ण को एकसाथ यदि कहीं खोजा जा सकता है तो यही एकमात्र दिव्य स्थान है किंतु आम–जन की दृष्टि से यह अभी ओझल ही है।

गोवर्धन से लगभग 3 किलोमीटर दूर सौंख रोड पर अग्नि कोण में परासौली या पारासौली ग्राम स्थित है जहां भगवान् श्रीकृष्ण ने इसी वसंत ऋतु में पूर्णिमा की रात्रि श्रीराधे रानी एवं गोपियों के साथ जो महारास रचाया था, उसे 'वासन्ती महारास' के नाम से जाना जाता है। कहते हैं कि यह महारास ब्रह्माजी की एक रात्रि जितनी दीर्घ अवधि तक चला था और चंद्र देव भी इतने लंबे समय तक आकाश में स्थिर हो स्वयं उसे अपलक निहारते रहे और यह लंबी रात्रि भी साधारण रात्रि जैसी छोटी ही बनी रही। यह प्रसन्नता की बात है कि जिस ऐतिहासिक, सांस्कृतिक और पौराणिक महत्त्व के ग्राम को मुगल काल में महमदपुर या मुहम्मदपुर नाम दे दिया गया था उसका उत्तर प्रदेश की वर्तमान सरकार ने जनता की पुरानी मांग को स्वीकारते हुए प्राचीन नाम पुनः 'परासौली' ही कर दिया है। श्रीकृष्ण लीला से जुड़ा यह बड़ा ही पावन स्थल है। इसी गांव में जन्मे और 'ब्रज विभव' जैसे वृहद् ग्रंथ के संपादक श्री गोपाल प्रसाद व्यास जैसे विद्वान् तो इसी गांव को आदि वृंदावन मानते हैं। बहुत से विद्वानों के मतानुसार ऋषि पाराशर, कृष्ण द्वैपायन वेद व्यास जी और महाकवि सूरदास जी की साधना–भूमि है यह परासौली। वे मानते हैं कि यहीं पर विष्णु पुराण, श्रीमद्भागवत महापुराण एवं सूर सागर की रचना हुई थी। यहां स्थित 'सूर कुटी' पर महाकवि सूरदास जी ने लगभग 70 वर्षों तक कृष्ण–भक्ति में आपादमस्तक डूबकर 'सूरसागर' के अधिसंख्य पदों की रचना की थी। पौराणिक, आध्यात्मिक और सांस्कृतिक दृष्टि से अति महत्त्वपूर्ण, किंतु अब तक सरकारी उपेक्षा के शिकार रहे इस ग्राम में मुझे स्वयं भी लगभग 15 वर्षों तक ब्रज कला केंद्र के राष्ट्रीय सचिव पद पर रहते हुए 'सूर जयंती' पर अनेक बार संगीत एवं

काव्य–गोष्ठियां जैसे आयोजन करने का सौभाग्य प्राप्त हो चुका है। चंद्रमा की शीतल और धवल चांदनी में महारास होने से यहां स्थित सरोवर को भी 'चंद्र सरोवर' के नाम से ही जाना जाता है। कृष्ण–भक्ति में अपना सर्वस्व निछावर कर देने वाले पुष्टिमार्गीय अष्टछापी आठों कवियों के बुर्जियों पर रखे जीर्ण–शीर्ण विग्रह भी इसकी उपेक्षा की कहानी कहते दिख जाएंगे। सूर–कुटी के पास ही उस समय का प्राचीन 'पीलू' का वृक्ष है जो अत्यंत जीर्ण–शीर्ण हो धराशायी भी हो चुका है।

सूर सरोवर के नैऋत्य कोण में ही श्रृंगार मंदिर है जहां श्रीकृष्ण द्वारा अपनी प्रियतमा रासेश्वरी श्रीराधा जू का श्रृंगार किया गया था। यहीं पर सूर–समाधि और महाप्रभु वल्लभाचार्य जी की बैठक जैसे महत्त्वपूर्ण स्थल भी हैं। यद्यपि ब्रज तीर्थ विकास परिषद् द्वारा तेजी से इस स्थान का सौंदर्यीकरण का कार्य चल रहा है किंतु सूर कुटी की स्थिति जस–की–तस ही बनी हुई है।

सरकार को चाहिए कि इस तीर्थस्थल पर वसंत आगमन से ऋतु पर्यंत रास आदि के आयोजन वृहद् स्तर पर आयोजित करे ताकि ब्रज, वसंत और श्रीकृष्ण से जुड़े इस पावन स्थल से आम जन परिचित हो सके।

हमें यह कदापि नहीं भूलना चाहिए कि रास कोई साधारण नाट्य–रूप नहीं है और ना ही वह कोई संगीत– रूपक है; उसमें तो सभी रस स्वतः समाहित हैं, इसलिए वह रास है। रास की नायिकाएं गोपिकाएं हैं जो अपने प्रियतम श्रीकृष्ण को अपने भीतर छिपाकर उसकी रक्षा करती हैं। गोपिकाएं नाड़ियां हैं और श्रीकृष्ण उनके भीतर छिपी नाड़ी। विज्ञान की भाषा में यदि समझें तो श्रीकृष्ण यदि नाभि हैं तो उनके चारों ओर नृत्यरत गोपिकाएं न्यूट्रोंस और इलेक्ट्रॉन्स आदि। इसे इस अर्थ में भी समझा जा सकता है कि गोपिकाएं श्रुतिरूपा हैं जो श्रीकृष्ण के 'तत्त्वमसि' अर्थ का अनुसंधान करती हैं।

f'ko % Lo:i vkSj laxhr

lk- ekèkoh je'k ukuy*

श्रीशिवशंकर सभी के कल्याणकारी देवता! विभिन्न अंगों से, विभिन्न रूपों में प्रकट होने वाले ये देवता बहुत सारे कुलों के कुलदेवता हैं। योगशास्त्र, आयुर्वेद, धनुर्विद्या, चौसठ कलाओं के प्रणेता– इन रूपों में महादेव को देखा जाता है। सभी को अपने साथ ले चलने वाले, फिर भी स्वयं एकान्तप्रिय, बहुत बडी संख्या में सभी ओर पाए जाने वाला बड़ा ही जाग्रत देवता। विभिन्न प्रकार की उपासनाओं का, भक्तिमार्ग का आरम्भ उन्हीं से तथा उन्हीं की प्रेरणा से, ज्ञान से होता है, ऐसी हम सभी भारतीयों की श्रद्धा है।

'ऊँ नमः शिवाय' इस मंत्र से शिव–आख्यान की ओर देखा, तो श्रीमहादेव के हाथों बहुत ही बड़ा काम हुआ दिखाई देता है। हिंद धर्म में ब्रह्मा–विष्णु–महेश इस त्रिमूर्ति की आराधना उपासना, पूजन, मानसपूजा, व्रतपालन, स्तोत्र, पुराणकथाएँ आदि के माध्यम से करने की परिपाटी है। संगीत यह मेरा विषय है। संगीत को लेकर, इस त्रिमूर्ति का महान कार्य जो हुआ है, वह कैसे हुआ, इसका पुनर्विलोकन करने का यहाँ प्रयास किया है। वैसे तो देवी–देवताओं का वाद्यवृंद स्वर्ग में भी देखा जा सकता है। देवी सरस्वति वीणावादन करती, ब्रह्मदेव तालवाद्य पर संगत करते तथा विष्णु एवं गणपति पखवाज (मृदंग) बजाया करते, चंद्र–सूर्य बाँसुरीवादन करते, नंदी बाँसुरी, नंदी डमरू, भृंग मादल बजाया करते तो अप्सराएँ और किन्नरियाँ श्रुतियों का ध्यान किया करतीं और नारद इन सभी के साथ गायन किया करते।

शिव माने कल्याणकर्ता। उसे सृष्टि का लयध्कर्ता माना जाता है। लय के फलस्वरूप जीवन सुरीला बनता है, साथ ही संगीत के अंतर्गत, लय बहुत ही महत्त्वपूर्ण होती है। स्वर–ताल–लय इस त्रिसूत्री में ही संगीत खिलता है, उसमें बहार आती है।

हिंदू दर्शन ने सभी ध्वनि–तरंगों का आरम्भ एक ही शब्द से किया है। उस एक शब्द को 'नाददब्रह्म', 'ऊँ' अथवा 'प्रणव' कहा जाता है। ऊँ ही ध्वनि का आदि विस्फोट, उसी के फलस्वरूप वेणू (कृष्ण), वीणा (सरस्वती) एवं डमरू (शिव) इन वाद्यों को दैवी संकेत प्राप्त हुए। साथ ही, शंख यह रणवाद्य तथा अभिषेक पात्र के रूप में देवताओं से– धर्म से जुड़े रहे। उसमें आज भी तीर्थ रखा जाता है। उसी कारण कुल मिलाकर अपना संगीत देवी–देवताओं से जुड़ा रहा है। आज भी हर एक भारतीय प्रतिदिन तथा उत्सवों के अवसर पर संगीत की आराधना करते पूजा–पाठ करता है।

प्राचीन काल से ही अगर देखा जाए तो यज्ञयाग आदि उपक्रमों के दौरान, माने भगवान को प्रसन्न कराने संगीत का प्रयोग किया जाता था। उस अवसर पर 'मनरंजन', यह उद्देश्य हरगिज नहीं था। भारतीय संस्कृति ने संगीत कला को आध्यात्मिक महत्ता प्रदान की है। ईश्वर–उपासना के साधन के रूप में उसे माना जाता है। बहुत ही भक्तिपूर्ण रूप में उसे प्रस्तुत करना होता है। उपासना के रूप में उसकी ओर देखा, तो फलप्राप्ति होती है, फिर भी उसका अगर पेशा बनाया तो साध्यप्राप्ति होती नहीं, ऐसा माना जाता है।

संगीत में श्री महादेव का जो कार्य है, उसके पूर्व कोई–न–कोई घटना घटी है। इन सभी घटनाओं की जानकारी मिल सकती है, ऐसा तो नहीं, फिर भी जब कहीं कुछ बोलना/लिखना हो, तो कुछ संदर्भ उपलब्ध होना महत्त्वपूर्ण होता है। संगीत के अंतर्गत मूल **N% jkxk d fuek.kdrk] Me: d fuek.kdrk** तथा **uR;dyk d mikL;** देवता के रूप में श्रीशंकर की महिमा बताई जाती है।

भैरव, मालकंस, श्री, बसंत, नटनारायण और मेघ ये छह राग श्री महादेव से निर्मित हुए, ऐसा माना जाता है। वाद्यों के संबंध में डमरू (नादतत्त्व) का निर्माण उन्हीं का है। नृत्यकला के संदर्भ में तो नृत्य का निर्माण श्रीशंकर का ही जो है। थे प्रतिदिन नृत्य किया करते ही थे, किन्तु संगीत में नृत्यकला का अंतर्भाव कैसे हुआ, उसकी कथा इस प्रकार की कही जाती है :

सत्युग के उपरान्त त्रेतायुग के आरम्भ में इंद्र तथा और कुछ देवों ने ब्रह्मदेव से प्रार्थना की, कि दृश्य एवं श्रव्य मनोरंजन पर कुछ निर्मिति की जाए। उसके अनुसार

*शास्त्रीय गायिका, लेखिका, मुम्बई

ब्रह्मदेव ने ऋग्वेद से पाठ्य, सामवेद से गीत–संगीत, यजुर्वेद से अभिनय तथा अथर्ववेद से रस लेकर नाट्यवेद का निर्माण किया। महामुनि भरत को नाट्यवेद का प्रशिक्षण देकर पारंगत बनाया। भरतमुनि ने इसका मार्गदर्शन अपने पुत्र–कन्याओं को किया और अपने शिष्यगण को वाद्य–वादन में प्रवीण बनाया, तो नारद और गंधर्वों को गायन में प्रवीण बनाया।

ब्रह्मदेव ने भगवान शंकर को इस संबंध में बहुत कुछ बताया। श्री शंकर ने प्रसन्न होकर कहा, 'प्रतिदिन संध्या समय में नृत्य करता हूँ, जो विभिन्न प्रकार के हावभावों से विभूषित है।' ब्रह्मदेव की अनुमति मिलने पर तंडू को बुलाकर विभिन्न अभिनय ब्रह्मदेव के समक्ष प्रस्तुत किए गए। उसी समय श्रीशंकर के निर्देश पर पार्वती देवी ने लास्य का प्रदर्शन कराया। उसके पश्चात् नाट्य में स्वतंत्र रूप में गायन–वादन होने लगा। अब संक्षेप में यही, कि प्रागैतिहासिक युग में गायन–वादन–नृत्य स्वतंत्र रूप में विकसित हुए। उसी अवधि में विभिन्न प्रकार की वीणाएँ, डमरू, ढक्का, मृदंग निर्माण हुए। उनमें से डमरू और वीणा का निर्माण श्रीमहादेव ने किया है।

संक्षेप में यही, कि श्रीशंकर एवं देवी पार्वती को नृत्य के देवता माना जाता है।

तांडव तथा लास्य ये नृत्य के दो विशेष अंग हैं। तांडव का निर्माण श्रीमहादेव का तो लास्य का देवी पार्वती का। इस संदर्भ में ऐसी कथा सुनाई जाती है :

नृत्य करते समय श्रीमहादेव ने जिन–जिन मुद्राओं का आविष्कार किया, उनका संकलन करने का काम तण्डुमुनि (नन्दिकेश्वर) ने किया और उन मुद्राओं को लय–ताल में बाँधने का काम वे करने लगे। ब्रह्मदेव की आज्ञानुसार भरतमुनि ने अपने शिष्यगण के साथ कैलाश पर्वत पर जाकर श्रीशंकर के समक्ष त्रिपुरदाह यह नाटक प्रस्तुत किया, उसी समय उन्होंने नृत्य–योजना करना सुझाया था। (पिछले विवरण में हमने यह देखा है।) श्रीशंकर के निर्देश पर तण्डू जब भरतमुनि को नृत्य सिखा रहे थे, वही तण्डू का सिखाया ताण्डव नृत्य! शिव का रूप धारण करते बड़े ही जोर–शोर से पैरों को पटकते, क्रोध, संहार दिखाते भाव–प्रदर्शन करना, माने ताण्डव ऐसा माना जाता है, लेकिन वह पूर्णतया गलत है। वास्तव में वीरता, रौद्र, अद्भुत रसयुक्त नृत्य पुरुषों के योग्य, इसीलिए उसे तांडवनृत्य कहा जाता है। पुरुषों के लिए होने वाले इन नृत्य में चपलता एवं सिद्धता महत्त्वपूर्ण होता है। पद–संचालन बहुत ही द्रुत लय में तथा उसके अनुसार होने वाला अभिनय जोश–भरा होता है। उस अवसर पर प्रयुक्त किए जाने वाले बोलों में धडन्न, तडन्न, थुंगा, धेत्ता, धुमकिट आदि जोश–भरे शब्दों का प्रयोग किया जाता है। कत्थक नृत्य के दौरान पखावज के बोलों में तांडव अंग का नृत्य किया जाता है।

इसी प्रकार शृंगार, कोमल रसों से युक्त होने वाला अभिनय एवं लालित्यपूर्ण ढंग से अंग–संचालन करते हुए विशेष रूप से स्त्रियों के लिए उचित होने वाला 'लास्य नृत्य देवी पार्वती ने निर्माण किया। इसका संगीत भी सुमधुर होता है।

प्राचीन ग्रंथों में तांडव के सात प्रकार बताए गए है : आनंद, संध्या, उमा, गौरी, कालिका, त्रिपुर और संहार तांडव। लास्य के तीन प्रकार हैं : विषम, विकट, लघु। भारत की हर एक शास्त्रीय नृत्य–शैली में तांडव तथा लास्य, ये अलग–अलग रूप में दिखाई देते हैं।

uVjkt

शिव के अलग–अलग जो रूप हैं, उनमें से नर्तक के रूप में अथवा नृत्तमूर्ति के रूप में होने वाले शिव को नटराज' कहा जाता है। नट माने नृत्य करना इस संस्कृत धातु से 'नट–नर्तक' शब्द बना है तथा नटराज माने नटों का–नर्तकों का राजा! वह विभिन्न रूपों में नृत्य के साथ जुड़ा हुआ होने से उसका यह नाम सार्थक है। उसे नटेश, नटेश्वर, 'नटशिखामणी तथा नर्तेश्वर ऐसा भी कहा जाता है। शिव के अर्धनारी नटेश्वर इस नाम में नटेश्वर यह शब्द है। नटराज के दाएँ कान में पुरुष का, तो बाँएँ कान में स्त्री का कर्णभूषण होता है।

नटराज यह आद्य नर्तक, नृत्य का अधिष्ठाता देवता, नृत्यकला का प्रवर्तक, आद्य नृत्याचार्य और अपने नृत्य का दर्शक भी होता है। ब्रह्माण्ड ही उसकी नृत्यशाला होती है।

नृत्य प्रिय होने वाला शिव बाणासुर जैसे भक्तों के नृत्यों से संतुष्ट होता है और स्वयं भी सात्विक नृत्य से लेकर तामसी श्मशान नृत्य तक विभिन्न नृत्य करता है। शैवागम से प्राप्त जानकारी के अनुसार उसने १०८ प्रकार के नृत्य किए थे। चिदम्बरम् के नटराज मन्दिर के एक गोपुर के दोनों ओर, एक स्त्री नृत्य कर रही है । इस स्थिति में नृत्य के ये १०८ प्रकार शिल्पबद्ध किए हुए हैं। इन शिल्पों का निरीक्षण करने तथा उस नर्तिका की अवस्थाओं का अध्ययन करने नृत्य के अभ्यासक छात्र आज भी जाया करते हैं।

शिव के सात प्रकार के तांडव नृत्य भी सुविख्यात हैं। मूल शिल्पों से इन नृत्यों की अवस्थाएँ हम देख सकते हैं। नटराज विख्यात हैं, वह उसके नादान्त नृत्य को लेकर। कुछ रसिकों के अनुसार, नृत्यशास्त्र की परिभाषा में यह भुजंगत्रसित (पाँव के पास साँप के आने की कल्पना से झट से पाँव उठाने की नृत्यावस्था) प्रकार है। चिदम्बरम् की नटराज की मूर्ति इसी नृत्य की मुद्रा में है। यहाँ का नटराज मन्दिर बड़ा ही विख्यात होकर चोलराजा परान्तक ने दसवीं सदी में उसका निर्माण किया था।

नटराज की मूर्ति में दिखाया जाता है, उसके अनुसार बँधी हुई जटाएँ, नरमुंड, गंगा, चंद्रकोर, नाग आदि शिव के अन्य रूपों में भी पाई जाती हैं। इस मूर्ति की रचना में से अन्य विशेषताएँ तथा नृत्य की पृष्ठभूमि के प्रतीक भिन्न–भिन्न रूपों में प्रकट की जाती हैं।

नटराज का दायाँ पैर विश्व–निर्माण हो, इसलिए जीवों को माया के बन्धन में डालता है, तो उठाया हुआ पैर भक्तों को मोक्ष प्रदान करता है। विश्व–निर्माण के समय पहले शब्द बनता है, जिससे (नाद) डमरू निर्माण का प्रतीक, तो अग्नि प्रलयंकारी तत्त्व होने से नाश का प्रतीक है। इस प्रकार, पैरों की अवस्थाओं से बंध एवं मोक्ष; तथा हाथों की अवस्थाओं में निर्माण एवं नाश इन मूलभूत अवस्थाओं के बीच संतुलन साध्य किया है। प्रभामंडल प्रकृति के नृत्य का प्रतीक है। इस नृत्य के माध्यम से विश्व की सजीव क्रियाशीलता सूचित होती है।

समग्र मूर्ति ॐ रूप सत्य का प्रतीक है, ऐसा भी माना जाता है। नृत्यमूर्ति और ॐ अक्षर इनकी रचना में भी साम्य दर्शाया जाता है। नमः शिवाय इन पाँच अक्षरों के साथ भी इस नृत्य का गहन संबंध जोड़ा जाता है। उदाहरणतया पाँव में न, नाभि में म, कंधे में शि, चेहरे में वा तथा मस्तक में य अक्षर है, ऐसा भी विद्वान् कहा करते हैं।

इस नृत्य के पीछे की मूल संकल्पना ऐसी है, कि नटराज का नृत्य यह ईश्वर की आदिशक्ति का लयबद्ध आविष्कार है तथा विश्व में होने वाली नियमबद्ध हलचलों का प्रतीक है। नृत्य की समाप्ति पर शिव ने चौदह बार डमरू बजाया और उनमें से संस्कृत भाषा के वर्णाक्षरों के पाणिनी के बताये हुए चौदह माहेश्वर सूत्र निर्माण हुए, ऐसा कहा जाता है।

दक्षिण के शिव मन्दिरों में आम तौर पर सभी ओर नटराज की मूर्तियाँ पाई जाती हैं। शिव के साथ संबंध जोड़े जाने से नृत्य–कला को एक विशेष पवित्रता एवं प्रतिष्ठा प्राप्त हुई है। इसके अतिरिक्त नटराज की प्रतिकात्मकता से नृत्य, शिल्प, नाट्य, साहित्य तथा मूर्तिकला अनुप्राणित हुए हैं। नटराज के इस प्रतीक में विज्ञान दर्शन तत्त्वज्ञान, धर्म एवं कला इनका अनोखा संगम हुआ है और सभी युगों में तथा देशों में दार्शनिक, भक्त, कलाकार और रसिक इन सभी से आवाहन करने का सामर्थ्य उसमें है।

नटराज की मूर्ति का स्वरूप इस प्रकार होता है :

एक पद्मपीठ पर अपस्मार नामक बौना पुरुष औंधा गिरा हुआ होता है। चतुर्भुज नटराज अपना दायाँ पैर उसकी पीठ पर रखे स्मितहास्य करते हुए खड़ा है। नटराज की मूर्ति को घेरा हुआ एक लंब वर्तुळाकार प्रभामंडल पद्मयपीठ पर होता है। उस प्रभामंडल पर बाहर की ओर ज्वालाओं के बहुत से अंकुर हुआ करते हैं। नटराज ने बायाँ पाँव उठाकर दाहिनी ओर पकड़ा हुआ होता है। पिछली ओर के दाएँ हाथ में एक डमरू और बाएँ हाथ में अग्नि होता है। आगे की ओर दायाँ हाथ अभयमुद्रा में, तो बायाँ हाथ दंडहस्त या गजहस्त मुद्रा में उठाए हुए पैर की ओर निर्देश करते हुए नीचे झुका हुआ होता है। जटाएँ मस्तक पर बँधी हुई होती हैं। उनपर नाग, नरमुड, गंगा, चंद्रकोर, पत्रमाला आदि होते हैं। खुली हुई कुछ जटाएँ लहराती रहती हैं। पिछले दोनों हाथ और मस्तक का ऊपरी हिस्सा, ये आम तौर पर प्रभामंडल को स्पर्श करने वाले होते हैं। नयन तीन या शायद दो होते हैं। माला, बाहुभूषण, रत्नचरित मेखला, पायलिया, कंकण और हाथों–पाँवों की अंगुलियों में अँगूठियाँ होती हैं। कटिवस्त्र, बदन पर व्याघ्रचर्म एवं यज्ञोपवीत धारण किया हुआ होता है। ऐसा नृत्य करने वाले नटराज के प्रारंभिक शिल्प ईसा की लगभग छठी सदी के होंगे, ऐसा अनुमान किया जाता है।

uknksikluk %

बिन्दु को सृष्टि की उत्पत्ति का स्थान माने जाने से इस बिन्दु को संगीतज्ञ 'नादसाधना' कहते हैं। समूचे विश्व में यही नाद स्फुरित होता है। इसी नाद में से भाषा के स्वर निर्माण हुए हैं। इसी नाद की महिमा स्तोत्रों में, उनका गायन करते तथा उनके उच्चारण से प्रतीत होती हैं। स्तोत्रों के साथ ही मंत्र भी उतने ही महत्त्वपूर्ण हैं। उनका अशुद्ध उच्चारण उचित नहीं माना जाता और अगर वे शुद्धोच्चारित हों, तो ही उनके परिणाम दिखाई देते हैं– ॐ नमः शिवाय– इस षडाक्षरी मंत्र का प्रयोग भगवान

महादेव की आराधना के लिए किया जाता है। शिव यह शब्द कल्याण वाचक होकर 'शि' का अर्थ पापनाशक तथा 'व' का अर्थ मुक्तिकारक है। इसके माने यही कि शिव शब्द का अर्थ पापोन्मुक्ति अर्थात् पाप से मुक्ति दिलाने वाला है। मंगलदाता, मंगलकर्ता, कल्याणकारक ऐसे भी शिव' शब्द के अर्थ हैं।

lJLorh dh oh.kk d: lnHkZ e%

संगीत का निर्माण ब्रह्मदेव ने किया। ब्रह्मा ने यह कला शंकर को सौंपी और शंकर से वह सरस्वती को प्राप्त हुई। सरस्वती के हाथों में होने वाली वीणा यह एक बहुत ही बड़ी निर्मिति शंकर से हुई है। उसके संदर्भ में ऐसी कथा है, कि पार्वती एक बार पुष्प–शय्या पर सोई थीं, उनकी मोहक निद्रावस्था को देख महादेव मोहित हुए और वीणा की कल्पना उनके मन में उभरी! 'वीणा' शंकर की निर्मित संगीत में एक महान कल्पना है। हमारे यहाँ वीणा–वादन को अत्यंत पवित्र माना जाता है। वीणा का दर्शन एवं उसका स्पर्श स्वर्ग और मोक्ष दिलाने वाला होकर, पाप से पतित होने वाले मानव को पवित्र बनाता है।

वीणा के निर्माण के पीछे शंकर का सूत्र प्रचंड है। वीणा के प्रत्येक भाग को पवित्र माना गया है और देवत्व भी दिया गया है। उसके सभी अंग देवतामय हैं। 'वीणा' सर्वश्रेष्ठ तंतुवाद्य है, उसे वाण निर्देश किया गया है। वीणा का दंड अर्थात् साक्षात् शिव, तार अर्थात् भगवती उमा, कुम्हडे से जुड़ा बीच का डंडा (वीणा का प्रत्यक्ष वादन होता है, वह हिस्सा) अर्थात् विष्णु, घोड़ी माने लक्ष्मी, कुम्हड़ा माने ब्रह्मा, नाभि माने सरस्वती, तानदान अर्थात् वासुकी, जीवा चंद्र तथा बीच के परदे अर्थात् सूर्य। इसी वीणा को 'रुद्रवीणा' कहा जाता है। आजकल उत्तर भारत में जो वीणा बजाई जाती है, उसे 'रुद्र वीणा', तो दक्षिण भारत में जो वीणा बजाई जाती है, उसे 'सरस्वती वीणा' कहा जाता है। शंकर द्वारा निर्माण की हुई वीणा का वादक कैसा हो? तो उसे लेकर 'संगीत रत्नाकर' में निर्देश पाया जाता है, कि वीणावादक श्रुति और जाति जानने वाला, शरीर सौष्ठव से युक्त, आसन स्थिर करने वाला, दोनों हाथों के कष्टों पर विजय प्राप्त किया, इंद्रियों को जिसने जीता है, प्रौढ़ बुद्धि का अच्छा–सा शरीर प्राप्त किया हुआ, सावध मन का हो!

शिव के स्तोत्र, मंत्र संगीत की रागदारी पर गाये जाते हैं। मूलतः उनके अपने छंद होने से उसकी स्वररचनाएँ भी तुरन्त और समुचित बन जाती हैं, तथा उनका गायन करने के लिए पसंद आती हैं। वे झट कंठस्थ भी होती हैं, उनमें केवल उच्चारण पर ध्यान देना जरूरी होता है। उसके अनुसार गाये हुए स्तोत्रों के मानव समाज पर बड़े अच्छे परिणाम होते हैं, ऐसा बहुत से विद्वानों का कहना है। भारत में कश्मीर में सबसे ज्यादा स्तोत्र पाए जाते हैं। जप–जाप एवं स्मरण–साधना बनाने 'शिवगायत्री' मंत्र अधिक प्रचलित है। उपासना के क्रम में रुद्र को अधिक प्रधानता दी जाती है।

ऐसा लगता है कि अब आगे शास्त्रीय गायन के संदर्भ में, रागदारी में, शंकर भगवान से संबंधित बंदिशें रची गईं हैं, उनके बारे में बात करूँ। पहले जो जानकारी ली वह अलग थी। अब एक संगीत साधक के रूप में अध्ययन करते हुए या अध्ययन में यह विषय स्पष्ट करने के लिए इस महत्त्वपूर्ण देवता के बारे में, उनकी गुणवत्ता के बारे में जानकारी लेनी चाहिए। कर्नाटक और हिन्दुस्तानी कुल अपने भारतीय संगीत में सारे देवी–देवता संगीत का विषय बन बैठे हैं। उन्हीं के बारे में थोड़ा अलग ढंग से यह मुद्दा आगे बढ़ाएँगे।

शास्त्रीय संगीत में, विशेषकर रागदारी में राग–प्रस्तुति करने के लिए शब्दों का सहारा लेना पड़ता है। वे बन्दिशों के रूप में आते हैं। नादतत्त्व का और नृत्य कला के निर्माता शंकर भगवान सारे देवताओं में एक महत्त्वपूर्ण देवता हैं। बंदिशों में उनके अलग–अलग गुणों का, शक्तियों का एक–एक पहलू लेकर हर बार एक स्वतंत्र विषय एकाध कहानी या कथानक जैसा बन्दिश में आता है। कम–से–कम शब्दों में बन्दिश की संरचना करना, साथ–साथ उसमें बड़ा आशय व्यक्त हो, ऐसी पद्धति से उसका लेखन, स्वर–संयोजन तथा गायन करना बड़ा चुनौती पूर्ण ही होता है। परंतु अनेक सालों से इसका उत्कृष्ट भान रखते हुए अलग–अलग तालों में, छदों में, रागों में, संगीत के अलग–अलग प्रकारों में की गईं बड़ी सुन्दर बन्दिशों की रचनाएँ, भारतीय रागदारी संगीत की शान हैं।

आज देश में अनेक रचनाकार हैं। शंकर भगवान पर उन्होंने सैंकड़ों बंदिशें रची हैं, उनका गायन भी किया है। ऊपर जैसा मैंने उल्लेख किया, हर बन्दिश में उनका एक–न–एक गुण विशेष तो रहता ही है। उसके साथ–साथ

अनेक सामाजिक जिम्मेदारियों का पालन और कर्तव्यभावना व्यक्त होती लगती है। यहाँ हमें बन्दिशों का इतिहास नहीं देखना है। एक ही विषय पर शब्द–चयन में जो बदलाव आया, उसे देखना है।

अनेक वर्षों से बंदिशों की भाषाएँ अवधी, मागधी, हिन्दी ही रही हैं। गायनाचार्य पं. विष्णु दिगंबर पलुस्कर जी ने प्रादेशिक भाषाओं में बन्दिशें गाईं जानी चाहिए, ऐसा आग्रहपूर्वक कहा। महाराष्ट्र के होने के कारण उन्होंने वाग्गेयकारों से मराठी बंदिशें तैयार करवाईं और प्रचार में भी लाईं। परंतु उनका यह विचार जितना सफल होने की अपेक्षा थी, उतनी मात्रा में सफल हो न सका। वैसे भी मराठी भाषा के उच्चारण मृदु, मधुर, मुलायम नहीं हैं, ऐसा दावा किया जाता है। ठीक है, हिन्दी का प्रचलन ही अधिक रहा । हिन्दी भाषा में जो मिठास है, और उच्चारों की सुन्दरता है, उसने बाजी मार ली। भावगीत, भक्तिगीत, साथ–साथ शास्त्रीय संगीत का बड़ा ख्याल, ध्रुपद, धमार, छोटा ख्याल, तराना आदि सारे प्रकारों में बन्दिशों का निर्माण हुआ है। उनमें से जो सन्देश प्रस्तुत किया जाता है वह, १) शंकर भगवान का व्यक्तित्व, २) क्रोध, ३) तांडव, ४) उनके शस्त्र, ५) उनका रूप–सौन्दर्य, ६) नटराज की संकल्पना आदि में से उनका देवत्व तो सिद्ध होता ही है, साथ–साथ इस देवता के शक्ति की महत्ता, सर्वसामान्य जनों तक पहुँचाने का काम सरल हो जाता है। ऐसे वक्त उनका चरित्र जड़ से देखने की आवश्यकता नहीं रह जाती। उनका व्यक्तित्व और बन्दिशों से व्यक्त हुए शब्दों से निर्मित सौन्दर्य, अतुलनीय हैं। सच तो गाने वाले को स्वयं शिवजी आशीर्वाद दे रहे हैं, ऐसी प्रतीति आती है। इस विधान के पीछे एक ढ़ाढसी विचार है, जब तक गायन करने वाला कलाकार कला में डूब नहीं जाता, एकरूप नहीं होता, तब तक आशीर्वाद–रूपी प्रसाद का भागी नहीं होता, नहीं जाना जाता।

उसमें से कुछ उदाहरण देखते हैं, उसमें रंजकता है, आनन्द है, उसका आस्वाद लेना है। बीते सौ–सवा सौ सालों से अब तक बन्दिशों में छुपा कथानक, शब्द–योजनाएँ और निर्मित मनोरंजन का विचार तथा अगली पीढ़ी के कलाकारों को उनकी दिशा, देखने का दृष्टिकोण बताने का एक प्रयास करते हैं।

मैं थोड़ा आधुनिकता की ओर आकर यह विचार प्रस्तुत करना चाहती हूँ। इसमें पचास और सौ साल पहले तैयार हुई और आज तैयार हुई बन्दिशें देखेंगे। विचार तो एक ही है, परन्तु कालानुरूप भाषा में बदलाव आता गया, शब्द–योजना, भाव–प्रस्तुति बदलती गई, परन्तु मूल मुद्दा, विचार, भूमिका वही रही।

lk lky io dh cfUn'k

jkx % Hkheiykl] rky % pkrky ¼/kin½

स्थायी : शंकर हर महादेव, डमरू कर में त्रिशूल।
चंद्रमा ललाट सोहे, गौरी अरधंगी।।
अंतरा : किन्हें बैल अखारी, भूषण अंग अहि सँवारे।
गणपति गण संग लिए, हरत फिरत तंगी।।

jkx % rkMh]- rky % pkrky ¼/kin½

स्थायी : महादेव आदिदेव महेश्वर ईश्वर हर।
शंभू शतकण्ड कपरदीश विरूप,
डिमरू कर त्रिपुरारी, त्रिलोचन गंगाधर।।
अंतरा : नीलफल भस्मभूषण वृषभवाहन पार्वतीवर
जटाजूट बहुरूप शिवशंकर ललाटधर
तानसेन को दीजे सुख सम्पत वर।।

विश्लेषण : भीमपलास की बन्दिश में स्थायी के शब्द समझ में आते हैं, पर अंतरा के शब्द स्पष्ट नहीं होते। जो शब्द–योजना की गई है वह आज परिचित–सी नहीं लगती। तोड़ी की बन्दिश से तुलना करें तो शब्द जड–जम्बाल लगते हैं। परन्तु उसका छन्द बहुत सुन्दर लगता है। ये बन्दिश गायन के बजाय नृत्य या अभिनय के लिए अधिक सार्थक लगेगी।

ipkl lky igy dh cfUn'k

jkx % ekydl] rky % pkrky ¼èkin½

स्थायी : राजत चन्द्रमा ललाट, शीश जटाजूट गंग।
गौरी अरधंग संग, नंदी वाहन को है।।
अंतरा : भस्म आभूषण किए, बाघम्बर तन ओढ़े।
मार्तंड निरत करत, धरे बहू रूप सोहे।।

इसके रचनाकार मालूम नहीं है, परन्तु इसकी भाषा से यह मध्यकालीन बन्दिश रचना होगी, ऐसा लगता है।

jkx % clr] rky % ær ,drky

स्थायी : पशुपत गिरिजापत हर शंकर अरधांगी।

वामदेव महादेव गंगाधर शिवपिनाक
नीलकण्ठ शूलपाणी।।

अंतरा : नवल किशोर पै कीजे कृपा दीजे।
भक्त जुगल चरणन को
शम्भु सहित श्रीभवानी।।

इस बन्दिश के भी रचनाकार मालूम नहीं हैं, परन्तु शब्दों का अर्थ, और भाव सहजता से समझ में आते हैं।

vkt dh cfUn'k

आज बन्दिशों की ओर देखने का दृष्टिकोण बदल गया है। इसका बड़ा और महत्त्वपूर्ण कारण यह है कि हर अध्ययनकर्ता, कलाकार, समीक्षक, शास्त्रकार, सभी शिक्षित हैं। वे संगीत की ओर केवल कला–दृष्टी से नहीं देखना चाहते बल्कि इस कला में सुधार कैसे लाया जा सकता है, इस विचार को अपनाकर चल रहे हैं।

बहुत समय पूर्व, गायनाचार्य पं. पलुस्कर जी ने अनेक ग्रंथों से राग–ध्यान खोज कर उसी राग में वो ध्यान बिठाए थे। परन्तु वे खासकर संस्कृत या प्राचीन हिन्दी में थे।

vkt jkx ^Hkjo* dk jkxè;ku n[kxA

गायनाचार्य पलुसकर जी द्वारा यह एक नया प्रयोग है।

गंगाधर शशितिलक भाल।
कंठ सोहे सर्पमाल।।
गले विराजे मुण्डमाल।
त्रिनेत्र कपाल।।
कर धरे त्रिशूल, वसन गज छाल।
जयतु जयतु जयतु भैरव आदि राग।।

jkx % Hkjoh % jkxè;ku

कैलास पावन शिखर पर, स्फटिक आसन पर विराजते।
कमल पत्र फूल लेके, अर्चना शिव की करें।।
नैन सुन्दर विशाल, उसके हाथों में घनवाद्य सोहे।
यानी गुनी कहे भैरवी भैरव शक्ति साजे।।

jkx % 'kdjk] rky % æ|r ,drky

स्थायी : शिव शिव शिव शिवशंकर, डम डम डम डमरुनाद।
नाद नाद ओम्कारनाद, निर्माण लय सूर ताल।।

अंतरा : पार्वतीश विश्वनाथ गंगाधर उमा–महेश
छनननननन घुँघरू नाद, धग धग धग बाजे मृदंग।
सनननननन बरस तान, बरस तान, सनननननन।।

राग भैरव की उपर्युक्त रचनाकर्त्री सुश्री स्वाती जोशी हैं। राग भैरवी की रचनाकर्त्री सुश्री किशोरी उपाध्ये तथा राग शंकरा की रचयिता सुश्री माधवी नानल हैं।

तीनों रचनाओं में बोली हिन्दी तथा व्यवहार में लाई जाने वाली हिन्दी भाषा के शब्दों का चयन किया गया है । इसी वजह से शब्द सरल लगते हैं, समझने की सरलता है।

शंकरा राग की बन्दिश से, इन शब्दों से शंकर भगवान का नृत्य से सीधा संबंध कैसे है, वह व्यक्त होता है। बन्दिश में कथानक है, वह सहज समझ में आता है, अतः शंकरा राग में इसका गायन सुलभता से किया जाता है। वह सुविधाजनक और समर्पक भी लगता है।

कुल मिलाकर शंभु महादेव को समझना, पहचानना, कभी सरल लगता है, तो कभी कठिन लगता है।

अंततोगत्वा वे भगवान हैं, यह तो मानना ही पड़ेगा। इस लेखनसिद्धि से शंकर महादेव का सांगीतिक कार्य/स्थान अध्ययन करने का मौका मिला, यह मैं अपना सौभाग्य ही मानती हूँ। हिन्दुओं का एक महत्त्वपूर्ण देव, देवों के देव महादेव को विस्तारपूर्वक देखते हुए जो आनन्द/खुशी प्राप्त हुई, वह अनिर्वचनीय ही है।

मेरे मन से संगीत–प्रस्तुति में और वह भी स्वर–प्रधान रागदारी प्रस्तुति में स्वरों के गर्भितार्थ समझ लेने एवं अपना स्वत्व भूलकर अंतर्याम में बसने वाले ईश्वरी शक्ति तक पहुँचने का प्रयास तो हर किसी कलाकार का रहता ही है। इसलिए प्रभुनाम सहजता से मुख में आए, ये हमारी धारणा रहती है।

मुझे ऐसा लगता है, कि इस लेख के विषय के सहारे शंकर भगवान का नाम लेने से उस भूमिका में पहुँचने में मदद ही होती है। बन्दिश के कथानक का अनुसरण करते–करते अपने ध्येय को साध्य करना एवं लक्ष्य–सिद्धि की यह यात्रा वैसे तो मजेदार है या इसे कठिन भी कह सकते हैं। हम उसकी ओर कैसे देखते हैं, उस पर वह निर्भर है।

f'ko dk lcèk e vfèkd tkudkjh

उपर्युक्त लेखन शिव–़संगीत के संबंध में लिखा

गया है। यह लेख शिवरात्री के उपलक्ष्य में लिखा गया पर उसके संबंध में और भी कुछ जानकारी का इस लेख में समावेश किया गया है। उस दृष्टि से उस लेख के लिए और जानकारी इकट्ठा करते समय और कुछ जानकारी हाथ लगी, इसलिए उसे अब उद्धृत कर रही हूँ। केवल ज्ञान एवं मनरंजन का हेतु ही इसमें है। समूचे विश्व का प्यारा तथा विश्व का नाथ जिसे कहा जाता है, उस विश्वनाथ को महादेव कहा जाता है, इसके माने यही कि देवों का भी देव– वह 'महादेव। अपने देश में कितनी सारी जातियाँ, पंथ, भाषाएँ होते हुए उन सभी में एकता का जो भाव पाया जाता है, वह शिवशंकर' इस देवता के कारण ही दिखाई देता है। कश्मीर से लेकर सीधे कन्याकुमारी पहुँचे, तो भी सभी को एकत्रित करने की सामर्थ्य–क्षमता शिव देवता में है।

ऐसा कहा जाता है कि समूचे ब्रह्माण्ड में ज्योति को, अग्नि को प्रथम होने का सम्मान दिया गया। वेदों की पहली ऋचा अग्नि से आरम्भ हुई। भगवान शंकर अपने भक्तों की रक्षा करने हेतु हिमालय विभिन्न स्थानों पर ज्योति के रूप में अवतरित हुए, उस पवित्र ज्योति के स्थान पर भक्तों की यात्रा खूब होती है। उस महादेव के बारह ज्योतिर्लिंग का दर्शन करने पर कितने ही भक्तों ने सुख का अनुभव किया है। वैज्ञानिक दृष्टिकोण रखते हुए हम उसकी ओर देखते हैं, तो हमारे दिमाग में सौर ऊर्जा का विचार उभरता ही है। सभी शिवलिंग ऊर्जा के प्रतीकात्मक रूप हैं। वे वैसी किरणों को संजोकर रखती हैं और निश्चित दिन बाहर निकलती हैं। महाशिवरात्री के दिन सबसे अधिक ऊर्जा बाहर निकलती हुई दिखाई दी है, ऐसा विद्वज्जन कहते हैं। शिवलिंग से ऊर्जा बाहर फूट पड़ती है, इसलिए ज्योतिर्लिंगों पर जस्ते के आवरण चढाए होते हैं।

शिव के संदर्भ में शिव एवं रुद्र ये दोनों एक ही हैं। वेदों में जहाँ कहीं रुद्र का निर्देश है, तो वह – तुम्हारी प्रार्थना करने वाली गायें–ढोर, ढंगर आदि की रक्षा करना, ऐसा ही है। रुद्र भेड़–बकरियों की तथा उनके बछड़ों की रक्षा करते हैं, वैसे ही स्त्री–पुरुष और गायों की भी देखभाल करते हैं। तभी तो शिव 'पशुपति' इस नाम से पहचाने जाते हैं।

एक तरफ शिव सनातन, शाश्वत ध्यान का प्रसन्नचित्त तथा शांत कृपादृष्टि का प्रतीक हैं, ऐसा कहा जाता है, वैसे ही उग्र, भयंकर, क्रूर, अघोरी, श्मशानवासी, भस्म या राख, गले में सर्पमाला, रुद्रमाला, तो बलशाली नंदी बैल, लिंग रूप में होने वाली उसकी पूजा, ऐसा भी वर्णन किया जाता है। शिव तत्त्वरूप में निर्गुण, निराकार, अमूर्त, है। वे हिमालय एवं उच्चतम कैलाश पर्वत पर गहन ध्यानावस्था में दक्षिण की ओर मुख करते हुए बैठे हैं। उनके इस रूप को 'दक्षिणामूर्ति' कहा जाता है, जो उच्चतम ज्ञान बिखेरते हैं। दक्षिणा अर्थात् अत्यंत शुद्ध–पवित्र बुद्धि का एकत्रीकरण, जो समझ लेने एवं ग्रहण करने की बड़ी ही कठिन दैवीशक्ति की निर्मिति है। ऐसी यह दक्षिणाशक्ति साधना की वासना से भरे हुए हृदय में प्रवाहित होती है, इसी को दक्षिणा प्रवाहित शक्ति कहा जाता है। शिव को उस शक्ति का गुरू माना जाता है तथा सभी साधकों हेतु वे उपस्थित रहते हैं।

श्रीराम, कृष्ण, श्रीविष्णु, गणपति, दत्त, हनुमान, विठ्ठल आदि सभी देवताओं का पूजन या उपासना करते समय उनकी सगुण मूर्तियाँ सामने रखते हुए की जाती हैं, किन्तु शिव की मूर्ति सामने रखी नहीं जाती। शिव की पूजा लिंगरूप में की जाती है। लिंग का मूल हिस्सा अर्थात् ब्रह्मदेव, मझला हिस्सा विष्णु, ऊपरी हिस्सा रूद्र या प्रणवरूप सदाशिव। लिंगवेदी अर्थात् अरघा महादेवी पार्वती और सम्पूर्ण लिंग अर्थात् महेश्वर!

लिंग–पूजा करने से देव तथा देवी – दोनों की पूजा करने का पुण्य प्राप्त होता है।

भगवान शंकर ज्ञानदेवता भी हैं। अशिव का, अमांगल्य का, पाप का नाश करते हुए सद्धर्म और मांगल्य की स्थापना करने वाले ये ज्ञानदेवता हैं। ये सभी शास्त्र, सभी योग समूचा ज्ञान–विज्ञान, सभी विद्याओं, सभी कलाओं के अधिष्ठाता देवता हैं। नृत्य–नाट्य के नटराज हैं। उनके द्वारा उत्पन्न चौदह डमरू–निनादों में से समूचा पाणिनीय व्याकरण उभर आया। भगवान दत्तात्रेय, महर्षि पतंजलि को योग–विद्या दी। इसीलिए श्रीशिव साक्षात् ज्ञानदेवता हैं। श्रीशिव भक्तों पर अनुग्रह भी करते हैं और दुष्टों को सबक भी सिखाते हैं।

भगवान महादेव बड़े ही महान हैं और उनका कार्य भी विशाल है। उन सभी तथ्यों का एक लेख में समावेश करना कठिन है। अब यहीं समापन करना उचित मानती हूँ।

jx lxhr % ,d iufoopu

M,- vtuk ijh*

मनुष्य का कंठ–स्वर उसका प्रतिबिम्ब है। उसकी आवाज न केवल एक verbal communication तक सीमित है, बल्कि एक ऐसा canvas बन जाता है, जो अपने में भौगोलिक विविधता, क्षेत्रीय सांस्कृतिक अंतर, वर्ण– एवं जाति–भेद और इन सब से उपजे मनोवैज्ञानिक रंग को समेटता है। यदि देखा जाए, तो कंठ–स्वर में ही सामाजिक रिश्तों की प्रतिध्वनि सुनायी देती है, जिनसे असंख्य भावों के अनगिनत रंग छलकते हैं। इस स्वर से एक आम व्यक्ति के रोजमर्रा की सोच को व्यक्त किया जाता है, और इसी स्वर से अद्भुत घटनाओं के चित्र भी रचाए जाते हैं। कथा सुनने और सुनाने का सिलसिला शुरू होता है। मानव कंठ–स्वर एक ऐसा अदृश्य मुखौटे का रूप लेता है, जो आंतरिक भावनाओं की, उन भावनाओं की उथल–पुथल की व्यथा सुनाता है। एक सिहरन, एक चीख, कराह और एक ठहाका अपने आप में ही किसी स्थिति का द्योतक बन जाते हैं। वैसे, यदि आवाज के बारे में सोचा जाए, तो कंठ–स्वर मूल रूप से भाव व्यक्त करता है। तब शब्द प्राथमिक नहीं रहता। वह अपनी प्राथमिकता खो देता है, क्योंकि वह स्वर का अनुकरण करता है। स्वर में छिपे अर्थ को समझने में मदद भर करता है।

अगर इस पर विचार करें, तब पाएँगे कि शब्द ठठरी मात्र है। इसीलिए, एक ही ठठरी रूपी शब्द को अलग–अलग रंगों में रँगा जा सकता है। हम आम भाषा के माध्यम से, रोजमर्रे की जिंदगी में लोगों के मजे लेते हैं। शब्दों के ही माध्यम से तंज कसते हैं। "ओहो" जैसा छोटा उच्चारण ही अपने में अनगिनत अर्थ छिपा लेता है। और सही वक्त पर, उच्चारण के साथ केवल भौंहों के चढ़ाने से, या गर्दन के मटकाने से, या केवल कंधों के उचकाने से ही एक पूरी कहानी सामने आ जाती है। इसका मतलब यह है, कि एक व्यक्ति के स्वर ही में असंख्य भाव छिपे है, जिनका उपयोग नैसर्गिक रूप से स्थिति के हिसाब से किया जाता है। कहने का तात्पर्य यह है, कि कंठ–स्वर से सच्चा और अच्छा अभिनेता कोई हो ही नहीं सकता।

यदि यह मान लें, कि कंठ–स्वर ही उन अनगिनत, अवर्णनीय और अदृश्य रंगों को रूप देने का माध्यम बन जाता है... शब्द हों चाहे न हों... या शब्द अर्थपूर्ण हों या अर्थहीन... तब कंठ–स्वर को समझना अनिवार्य है। इसमें ऐसा क्या है, जो बिना अर्थपूर्ण शब्दों के सहारे से ही, एक सम्पूर्ण भाषा होने का अहसास करा देता है? शुद्ध कंठ स्वर का पूरा खेल श्रुति–स्वर, लय–ताल और गति–यति की अवधारणाओं, और उनके सिद्धांतों पर टिका है। यह छः शब्द संगीत की शब्दावली का महत्वपूर्ण भाग हैं। शास्त्रीय परम्परा के अनुसार, संगीत का जन्म गायन, वादन और नृत्य के समावेश से हुआ है। इसका अर्थ यह हुआ कि स्वर, लय और आंगिक गति ही संगीत का आधार हैं।

Loj vkj Jfr

स्वर को यदि परिभाषित किया जाए तो यह वह ध्वनि है, जो साँस के साथ उच्चारित होती है। यह वह ध्वनि है जो अपने आप प्रकट होता है ("स्वयं राजते इति स्वरः"), और जो स्वयं ही अपने आपको आकर्षक रूप में रंग देती है ("स्वयं रंजयति इति स्वरः")। स्वर की अवधारणा व्याकरण में है और संगीत में भी। वह एक ही साथ सांगीतिक ध्वनि है और अक्षर की ध्वनि भी। यदि स्वर ध्वनि है, तो वह कोलाहल भी हो सकता है और मधुर भी। स्वर का मूल श्रुति है। श्रुति का अर्थ है सुनना... किसी भी प्रकार की ध्वनि को सुन पाना। श्रुति का उपयोग बातचीत में और संगीत में, दोनों ही में होता है। यह सुनाई देनेवाली ध्वनि की सबसे छोटी इकाई है, जिसे सुना जा सकता है।

गायन और कथन या वाचन में श्रुति का स्थान पृथक है। गायन या वादन में जब श्रुति की चर्चा होती है, तब अमूमन कहा जाता है कि श्रुति सुनाई नहीं देती है। जबकि श्रुति का शाब्दिक अर्थ 'सुनाई देना' होता है। इन परस्पर विरोधी विवेचनों या वितर्कों का कारण है।

गायन–वादन में श्रुति 22 माने जाते हैं और इन्हीं 22 श्रुतियों के निर्धारित अंतराल पर 7 स्वर षड्ज,

*संगीतज्ञ, अभिनेत्री, लेखिका, विशेषज्ञा (रंग संगीत)

ऋषभ, गांधार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद (जिन्हें आम भाषा में स, रे, ग, म, प, ध, नि नाम से जाना जाता है) टिके हैं। इन 7 स्वरों में से ऋषभ, गांधार, मध्यम, धैवत और निषाद स्वर स्थानांतरित किए जा सकते हैं। ऋषभ, गांधार, धैवत और निषाद जब अपने निर्धारित स्थान से हट जाते हैं, तो उनका रूप शुद्ध से कोमल हो जाता है। मध्यम स्वर को जब अपने स्थान से हटाते हैं, तब वह तीव्र बन जाता है। षड्ज और पंचम स्वर अचल स्वर माने जाते हैं, उन्हें अपने निर्धारित स्थान से नहीं हटाए जा सकते हैं। बाकी पाँच स्वरों के स्थानांतरण से विभिन्न प्रकार के राग रचते हैं। सांगीतिक संदर्भ में, श्रुति के स्थानांतरण से स्वर पर प्रभाव पड़ता है... उसका चरित्र बदलता है। स्वर का जब चरित्र बदलता है तब राग भी बदलता है। यह सारे बदलाव स्वरों के एक निश्चित ढाँचे में होते हैं। स्वरों की एक निर्धारित ठठरी बनती है, जिसे आमतौर से अंग्रेजी में scale कहा जाता है, और सांगीतिक संदर्भ में ठाठ। स्वर–समूह कोई भी ठठरी या ठाठ का हिस्सा होते हैं, जो स्पष्ट रूप से धुन को परिभाषित करते है। यह मूलभूत धुन या ठाठ, राग को श्रेणीबद्ध करने का काम करती है।

हिंदी भाषा में 52 वर्ण होते हैं, जिनमें से 11 स्वर हैं और शेष 41 व्यंजन। गायन के भाँति, भाषा में भी स्वर स्वयं ही उच्चारित होते हैं। इनके उच्चारण में श्वाँस–वायु बिना किसी भी प्रकार से ओष्ठ, दन्त या जिह्वा के रुकावट से या उनसे सहारा लिए, मुँह से निकलती है। दूसरे शब्दों में, वे ध्वनियाँ जिनका उच्चारण अन्य किसी वर्ण की सहायता के बिना होती हों, जो स्वतंत्र रूप से उच्चारित किए जाते हों, स्वर हैं। दूसरे शब्दों में, वे ध्वनियाँ जिनका उच्चारण अन्य किसी वर्ण की सहायता के बिना होती हैं, जो स्वतंत्र रूप से उच्चारित किए जाते हों, स्वर हैं। जैसे 'आ–आ, इ–ई, उ–ऊ, ए–ऐ, ओ–औ और अः' वर्णमाला के स्वर हैं। जहाँ भाषा में स्वर शब्द के उच्चारण के आधार पर और स्थिति–परिस्थिति के हिसाब से बदल जाता है, वहीं संगीत में धुन या राग के हिसाब से स्वर का स्थानांतरण होता है। संगीत में स्वर का स्थान निश्चित है, परिभाषित है।

यह समझना होगा, कि धुन जिस किसी भी तरह की हो, हमेशा प्रचलित रही है। माना जाता है कि मध्य प्रदेश के रायसेन जिला में स्थित भीमबेटका की गुफाएँ 30,000 वर्ष पुरानी हैं। गुफाओं के चित्रों में सुषिर वाद्य भी हैं, और अवनद्ध भी। इससे पता चलता है कि धुनें 30,000 वर्ष पहले भी थीं और आज भी हैं। काल के हिसाब से उनमें अवश्य अंतर आए होंगे, लेकिन धुन तो हैं! इसका अर्थ यह हुआ कि नाट्य शास्त्र में जिस संगीत की परिभाषा और जिसका वर्णन दिया गया है, वह निश्चित रूप से प्रचलित रहा होगा। प्रलेखीकरण उसका किया जा सकता है, जो अस्तित्व में हो। क्या इस शास्त्र में दी गयीं सांगीतिक परिभाषाएँ या इनके शाब्दिक वर्णन, उस काल में रह रहे समुदायों में प्रचलित थीं? यदि हाँ, तो फिर किस तरह की सांगीतिक परिपाटी या प्रथा का अभ्यास रहा होगा, और उस संगीत का सामाजिक या सामुदायिक स्थान क्या रहा होगा? देह–गति और आंगिक मुद्राओं के चित्र बनाए जा सकते हैं, लेकिन स्वर का क्या? देह को देखा जा सकता है, उसे छुआ जा सकता है, लेकिन कंठ–स्वर का क्या? उसे न देखा जा सकता है और न छुआ जा सकता है। उसे सुना जा सकता है। ध्वनि और शब्द के रस का अनुभव किया जा सकता है। शब्द जैसे लिखा जाएगा, वैसे ही उच्चारित किया जाता है, लेकिन उसमें छिपा रस, परिस्थिति के हिसाब से बदल जाता है। उस रस का शाब्दिक वर्णन किया जा सकता है, लेकिन उसे मूर्त नहीं माना जा सकता है। उसके भाव–भरे चित्र बनाए जा सकते हैं, लेकिन रस मूल रूप से अमूर्त ही रहेगा।

जहाँ गायन–वादन में श्रुति एक विशिष्ट ढाँचे का मूल है, वहीं बोलने में श्रुति परिस्थितिपरक बन जाती है। इसलिए, गायन के ठीक विपरीत, श्रुति के मुक्त खेल के अभाव में, भाषाई बोल के माध्यम से कुछ भी सम्प्रेषित कर पाना या सुनने वाले तक पहुँचा पाना, असम्भव है। कभी–कभी एक निश्चित परिस्थिति में, भाव को अभिव्यक्त करने के लिए एक पूरे वाक्य या यहाँ तक, एक अर्थपूर्ण शब्द की भी आवश्यकता नहीं होती है। एक अर्थहीन ध्वनि से ही आंतरिक भाव को व्यक्त किया जाता है। छोटी से छोटी ध्वनि भी एक ऐसे विस्तार का पर्याय बन जाती है, जिसे वर्णन करना आसान नहीं है। ध्वनि "ओहो" हो सकती है और "ह्म" भी। सुख, दुः ख, क्रोध, हास्य, उपहास, आश्चर्य... हर रस का हर प्रकार, इन छोटी–सी ध्वनियों में समाहित हो जाती हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि बोलने में श्रुति का खेल नैसर्गिक है। यदि देखा जाए, तो

हर प्रांत की अलग–अलग बोलियाँ भी श्रुति पर आधारित हैं। बिना व्यक्ति को देखे, उसे सुनकर ही समझ में आ जाता है, कि वह किस प्रदेश के किस प्रांत से आता है। वैसे ही यदि हिंदी में लिखे एक अनुच्छेद को उन लोगों से पढ़वाया जाए, जो देश के अलग–अलग प्रांतों से आते हों, तब हर व्यक्ति, लिखे हुए एक ही आकार के शब्द का विवेचन, अपनी ही भाषायी ध्वनि से करता है, उसे अपनी तरह से व्यक्त करता है। कथन–वाचन में श्रुति के आयाम, उसके ढंग, उसके रंग अनगिनत हैं। श्रुतियों के मेल से शब्दों के अर्थ बदल जाते हैं, भाषा के चरित्र बदल जाते हैं।

y; vkj rky

श्रुति और स्वर की तरह, लय भी संगीत का अटूट हिस्सा है। वह काल का द्योतक है... अनंत है। इसका अनुभव किया जा सकता है, सुना जा सकता है और देखा भी जा सकता है। चाहे दिन और रात के चक्र को देखें, या मौसमों के बदलाव को, एक पौधे के उगने को देखें या एक बच्चे की बढ़ती उम्र के साथ उसके बढ़ते कद को, बीज कब बोए जाते हैं और फसल कब कटनी चाहिए... यह सब आंतरिक लय हैं। आंतरिक होते हुए भी, समय के साथ यह बदलाव दिखते हैं। रातें कब छोटी और कब लम्बी हो जाती हैं, उससे समझ में आता है कि गर्मी का मौसम है या ठंड का। यह बदलाव ग्रह–सम्बन्धी संचलन से है, जिनका असर हमें दिखता है। हृदय की धड़कन हमें दिखती नहीं है, लेकिन जब हम उत्तेजित होते हैं, या जब तबीयत ठीक नहीं होती, तब नाड़ी की रफ्तार और हृदय–गति समझ में आती हैं। इस लय को मूलतः महसूस किया जा सकता है। सोते समय साँस की लय बराबर चलती है। उसकी लय स्वाभाविक रूप से नपी–तुली होती है, जिसे हम महसूस तक नहीं करते है। यह भी आंतरिक लय का रूप है। फिर, इसके विपरीत दूर चल रही रेल की लयबद्ध ध्वनि सुनायी देती है। खराब पंखे की खट्ट–खट्ट भी सुनायी देने वाली लय है, लेकिन उसका नुक्स अमूमन दिखाई नहीं देता है। फिर एक तरह की लय सुनायी भी देती है और दिखाई भी। घड़ी की सुई की टिक–टिक और साथ में उसकी सुई का गोल–गोल घूमना, गाड़ी के reverse gear का indicator दिखता है और उसकी आवाज भी सुनाई देती है।

लय यदि अनंत है, तो ताल के प्रतिरूप उतने ही सीमित हैं। यदि चार–छः–दस ध्वनि–बद्ध क्रियाओं के अंतराल बराबर हों... चाहे वह ताली बजाने की क्रिया हो, parade की कदम–चाल हो या सिलाई मशीन की खटर–खटर... तो यह लय कहलाती है। इसी अनंत लय में से छोटे–छोटे design या संरचनाएँ बनती हैं, जो विशिष्ट ताल के रूप लेते हैं। लय उस 50 मीटर कपड़े की थान की तरह है, जो अनंत लगती है। ताल उस लम्बे कपड़े में से सिले तरह–तरह के वस्त्र हैं, जिनकी विशेष पहचान बनती है। ताल की बनावट प्रतिमान स्वरूपी है, pattern & oriented है। इनमें आरम्भ और अंत हैं, इसलिए चक्रीय हैं। इस कारण से लय असीमित है और ताल सीमित।

अविरल स्वर, और निरंतर चलती लय, दोनों ही अनंत होने का द्योतक हैं। धुन और ताल का आविर्भाव इन्हीं से है। जहां स्वर और लय अनंत हैं, वहीं धुन और ताल चक्रीय हैं। जहां पहला वाला अटूट लगता है, वहीं बाद वाला दोहराने की क्रिया पर अस्तित्व रखता है। बाद वाला आवर्तन के ढाँचों में सीमित है। स्वर और लय दोनों ही गतिशील हैं। दोनों आगे की ओर बढ़ते हैं। चलना, हटना, चाल और स्थान–परिवर्तन जैसे क्रियात्मक या क्रिया–उन्मुख शब्द, आसानी से गति के पर्याय बन जाते हैं। इनमें गति के बिम्बविधान छिपे हैं।

xfr vkj ;fr

गति स्वर का, और स्वर से जुड़े शब्दों का बहाव है। जब इस गति को तोड़ा जाता है, और उसके टूटने से जिस विश्राम की उत्पत्ति होती है, वह यति है। जहाँ गति और यति एक–दूसरे के विपरीतार्थक हैं, वहीं यह दोनों एक–दूसरे के पूरक भी हैं। एक वाक्य को एक साँस में, एक सुर में नही कहा जा सकता है। स्वर में उतार–चढ़ाव नैसर्गिक रूप से होते हैं। स्वर के यही उतार–चढ़ाव अनगिनत बोलियों को एक खास रंग देते हैं। स्वर के उसी उतार–चढ़ाव के कारण ही बोलियों में विश्राम के आयाम अलग–अलग होते हैं। हमारी गुरु श्रीमती सुलोचना बृहस्पति इसका उदाहरण देती थीं। वे कहती थीं कि गायन में और वाचन में यति या विश्राम की भूमिका को समझना आवश्यक है। वे उदाहरण देती थीं कि यदि वाक्य "पग लागन दे महाराज" है, तब शब्द "पग" के बाद विश्राम दिया जाना चाहिए। यदि "लागन" शब्द के "ला" के बाद विश्राम दिया जाए, तब वाक्य बदल जाएगा। "पग लागन दे महाराज"

से "पगला गन्दे महाराज" बन जाता है। अर्थ का अनर्थ हो जाएगा!

u, f{kfr tk dh [kkt e

इस देश की सांस्कृतिक विविधता अतुलनीय है। संगीत इस विविधता का अटूट हिस्सा है। बहुत आसानी से संगीत का अनुवाद 'music' मान लिया जाता है। जहां संगीत गायन, वादन और नृत्य का समावेश है, वहीं 'music' गायन और वादन के मेल से बनता है। लेकिन 'music' शब्द आम भाषा का हिस्सा बन चुका है। इसकी पारिभाषिक अवधारणा पर कम ही विचार किया जाता है। शायद इसीलिए 'music' न कि 'संगीत' रोजमर्रे का हिस्सा बन गया है। जब हमें एक धुन अच्छी लगती है, या गाना अच्छा लगता है तब हम कहते हैं "इसका music कितना अच्छा है", हम ये नहीं कहते हैं कि इसका 'संगीत' कितना अच्छा है!

संगीत की शब्दावली पर पुनर्विचार करना, उसका पुनर्विश्लेषण करना, आवश्यक हो गया है। नाट्यशास्त्र के काल में और आज के काल में अंतर है। व्यक्तिगत रूप से मुझे बहुत बार लगता है, कि तराशे हुए पथ पर चलना आसान है, सुविधाजनक है। एक नयी राह तराशना और फिर उस पर चलना मुश्किल है। आज के संदर्भ में एक सवाल मन में उठता है, कि रंगमंच में संगीत के लिए किस तरह का प्रशिक्षण होना चाहिए, किस तरह की प्रशिक्षण–प्रणाली होनी चाहिए? वर्तमान समय में नाट्य प्रशिक्षण में संगीत का स्थान कहीं है क्या? अगर है तो वह किस रूप में है? हमारे देश में अनगिनत गायन–शैलियाँ हैं, अद्भुत नाट्य–परम्पराएँ हैं। इसलिए, इन शैलियों को सिखाने की विधाएँ भी अनेक हैं। लेकिन फिर भी हमें अपनी प्रशिक्षण प्रणालियों पर विश्वास कम है। देखा जाए, तो हमें आज भी पश्चिम से हरा झंडा दिखना चाहिए, तब हमें संतुष्टि होती है कि हाँ, हम सही राह पर हैं।

हमें यह समझने की आवश्यकता है कि पश्चिम में गाने की शैली और साथ ही, कंठ–स्वर को प्रयोग करने के तरीकों में अंतर है। वहाँ प्राकृतिक रूप से ही, गायन में स्वर लगने के तरीक़ों और वाचन में स्वर उच्चारित करने के तरीकों में फर्क़ है। जब हम इस देश के urban theatre या समसामयिक रंगकर्म के संगीत पर विचार करते हैं, तो पाते हैं कि हम अभी भी किसी भारतीय methodology की चर्चा नहीं कर पाते हैं। प्रशिक्षण परम्पराओं की कमी न होते हुए भी, हमारा तत्काल संदर्भ पाश्चात्य संस्कृति ही बनती है। विद्यार्थी 'breathing exercise' करते ही तुरंत पेट पर हाथ रखकर diaphragm की बात करते हैं। और फिर head voice और upper register की बात करते हैं। अगर रोजमर्रे की बोलचाल की ही बात करें, तो आमतौर से समझ में आता है कि अंग्रेजी और हिन्दी के 'च' के उच्चारण में फर्क़ है। लेकिन इस पर 'speech and voice classes' के प्रशिक्षण में जोर नहीं दिया जाता। देखा जाए तो corporate sector प्रदर्शनकारी कलाओं में दिखने लगा है... बोल–चाल की भाषा में भी दिखने लगा है।

इस देश में भाषाएँ विभिन्न हैं। हमारे यहाँ कंठ–स्वर या 'speech' और गायन, दोनों ही वक्षस्थल–ध्वनि या सीने की आवाज से ही बनती हैं। जितनी भी भाषाएँ हैं और उन भाषाओं की बोलियों के जितने भी प्रकार हों, चाहे पहाड़ के हों या समुद्र–तट के, रेगिस्तान के हों या जंगलों के, गायन और वाचन एक–दूसरे के विस्तार बनते हैं। दोनों एक सिक्के के दो पहलू हैं। इस संदर्भ में सिक्का आवाज है... वाचन और गायन उसके दो पहलू। इसका प्रमाण कथा–गायकी जैसी कला है। इस शैली में कथा कही भी जाती है और गायी भी। यदि कथा–गायकी को आधार माना जाए, तब नाट्य कथा–गायकी की और विकसित अभिव्यक्ति है। यहाँ मूल–पाठ कथा का रूप लेता है और अभिनय का आधार बन जाता है।

पश्चिम में कंठ–स्वर का प्रयोग, उसे प्रशिक्षित करने का तरीक़ा और उसका विवेचन अलग है। इनके रियाज के तरीक़े अलग हैं। इनके स्वरोच्चारण और किन स्वरों पर किस तरह का जोर दिया जाए, हमारे स्वर–विवेचन से पृथक है। लेकिन फिर भी हमें उनकी पद्धति, उनकी विधि बेहतर लगती है, बावजूद इसके कि दोनों ही प्रणालियाँ बिलकुल अलग हैं। जब उनकी विधि अपनाते हैं, तब उनकी काट–छाँट करते हैं, ताकि वे हमारी अवधारणाओं के अनुकूल बन जाएँ। मुझे आज तक समझ में नहीं आया है, कि हम अभिनेता को इन अवधारणाओं के माध्यम से भ्रमित क्यों करते हैं... क्यों उसे याद नहीं दिलाते हैं, कि हमारे यहाँ कबाड़ीवाले और सब्जीवाले की पुकार, तीन गली दूर से सुनाई देती है। न तो उन्हें diaphragm की याद दिलानी पड़ती है, न ही उन्हें upper और lower

registers के बारे में सोचना पड़ता है, और न पुकारने की वजह से उनका गला खराब होता है। उनमें 'voice projection' और 'throw of the voice' की समझ और उसका अभ्यास पेट से जुड़ा है। इस संदर्भ में आवश्यक अभ्यास भागीदारी से जुड़ा है, जो रोजमर्रे का, दैनिक दिनचर्या का हिस्सा है।

इस देश के अभिनेता को यदि अपने कंठ–स्वर को... अपनी वाक्–शक्ति को उत्तम बनाना हो, तो उसे किस तरह का अभ्यास करना चाहिए? यह क्या शोध का विषय नहीं बन सकता है? यदि इसे शोध का विषय मानें, तो हमें शोध करने की प्रणाली के बारे में भी विचार करना पड़ेगा।

समसामयिक रंग–मंच में 'methodology' शब्द का चलन आम है। यह इसलिए, कि हमारे देश के समसामयिक रंग–मंच में, ख़ासकर संगीत के संदर्भ में, एक सम्पूर्ण पारम्परिक प्रशिक्षण की प्रथा नहीं दिखती है। प्रशिक्षण प्रणालियाँ उतनी हैं जितने नाट्य निर्देशक। हर नाट्य निर्देशक के सिखाने का तरीक़ा, स्वर के विवेचन और उसकी व्याख्या, एवं संगीत को लेकर अपने विचार और प्रयोग को प्रस्तुत करने के ढंग व्यक्ति–परक हैं। इसके ठीक विपरीत अगर हमें माच जैसी क्षेत्रीय नाट्य शैली की धुन दूर से सुनायी देती है, हमें तुरंत धुन से ही समझ में आ जाता है कि कहीं माच का मंचन हो रहा है। माना भी जाता है, कि देखा नहीं, सुना जाता है... और कहा भी जाता है कि "चलो पास वाले गाँव में माच सुनने चलते हैं!"। यदि धुनों में ही शैलियाँ छिपी हैं, तब तो एक पूरी शैली की परम्परा उसके संगीत में तिरोहित है।

और इसीलिए, मेरा मानना है कि हमें एक नहीं, कई methodologies की आवश्यकता है, जो संगीत के अनगिनत आयामों को उजागर करे। रंग–मंच के दायरे में परम्परागत तरीक़े से गायन–वादन–नृत्य को ऐसे सिखाया जाना चाहिए, कि उसमें कलाओं का वियोजन न दिखते हुए संयोजन दिखे, सम्मिश्रण दिखे। कलाओं की चिकतियाँ नहीं दिखनी चाहिए... patches नहीं दिखने चाहिए। चिकतियाँ अनगिनत हो सकती हैं, लेकिन जब इन्हें जोड़ा जाता है तब एक अद्भुत रंगीली गुदड़ी बनती है। इस गुदड़ी में तरह–तरह के patterns बनते हैं, प्रतिमान या design बनते हैं, और इन सब को जोड़नेवाली सिलाइयाँ अलग से नहीं दिखती हैं। सिलाई भी इस पूरी रचना का हिस्सा बन जाती है।

ठीक इसी तरह, नाटक की रचना में भी अलग–अलग विषयों को एक साथ जोड़े जाते हैं, ताकि सम्पूर्ण कथा के गतिशील या चलायमान चित्र को दर्शक के समक्ष प्रस्तुत किया जा सके। संगीत की अवधारण का चित्रफलक या canvas विशाल है। उसके आयाम असंख्य हैं। लेकिन दुर्भाग्यवश, संगीत जैसे विशाल विस्तार को गीत तक सीमित कर दिया है। Synthesiser से ही अगर काम चल जाता है, और 'play के music' को यदि 'out & source' किया जा सकता है, तब नाट्य में संगीत–प्रशिक्षण की आवश्यकता कहाँ रह जाती है? इसी कारण संगीत के अध्यापक गायब हो रहे हैं, घरानेदार गायकी समाप्त हो रही है। घराना अब एक ही बचा है, और वो है 'Google घराना'। वह आपको तबला वादक भी बना देगा, गायक बना देगा और नर्तक भी। यदि हर सवाल का जवाब internet में छिपा है, और यदि internet mobile phone का अटूट हिस्सा है, तब तो हम पूरे संसार को जेब में लिए–लिए फिर रहे हैं। न पन्ना पलटने की आवश्यकता है और न लिखने की। हर चीज key-board से type किया जा सकता है और type किए व्याकरण की गलतियों का सुधार भी खुद–ब–खुद हो जाता है। आज भाषा का उपयोग, उसका चलन और हर भाषा की शब्दावली भी 'in' या 'outdated' मानी जाती है। वाक्य तो क्या, शब्दों को भी पूरी तरह से लिखने की जरूरत नहीं है। अक्षर शब्दों का और प्रश्नों का इशारा बन गए है। उसी में संतुष्टि हैं।

नाट्य में संगीत का प्रशिक्षण, रंग–संगीत का प्रशिक्षण कैसे होना चाहिए, प्रश्न बनकर रह जाता है। इस प्रश्न का उत्तर ढूँढना अत्यावश्यक है।

eckjd cxe % dHkh rUgkbl;k e ; gekjh ;kn vk,xh---

nhid nvk*

हिन्दी फिल्म–संगीत के सुरीले सफर के दौरान कई ऐसी आवाजें भी सुनाई दीं जिन्हें वह कामयाबी और शोहरत नहीं मिल पाई जिसकी वे हकदार थीं। ऐसी ही कमनसीब आवाजों में एक नाम मुबारक बेगम का भी है जिन्हें अव्वल तो ज्यादा गाने ही नहीं मिले और जो मिले उनमें से ज्यादातर कामयाब न हो सके। बावजूद इसके मुबारक बेगम के कई गीत आज दशकों बाद भी चाव से सुने जाते हैं। मुंबई के एक उपनगर जोगेश्वरी में बरसों तक गुमनामी और मुफलिसी की जिंदगी गुजारती रहीं मुबारक बेगम अपने आखिरी बरसों में बेहद बीमार रहीं और अंततः 18 जुलाई, 2016 को विदा हो गईं। मृत्यु से कुछ पहले तक वह हर मिलने वाले से यही गुजारिश करती रहीं कि कुछ काम दिलवाइए ताकि गुजर हो सके। चमक–दमक से भरपूर हमारी फिल्म इंडस्ट्री का यह एक स्याह चेहरा है। विभिन्न वेबसाइट पर उनके जन्म का वर्ष अलग–अलग बताया जाता है लेकिन इस बातचीत में खुद उन्होंने अपने जन्म का वर्ष 1940 बताया था जो उनकी मृत्यु से कुछ समय पहले की गई थी। उनसे हुई वह बातचीत उन्हीं की जुबानी–

''मेरा जन्म सन् 1940 में सैयद नजीर हुसैन व चांद बीबी के घर में राजस्थान के नवलगढ़ में हुआ था। जब मैं पैदा हुई तो किसी नजूमी (भविष्यवक्ता) ने मेरे अम्मी–अब्बा से कहा कि यह लड़की अपने खानदान का नाम बहुत रोशन करेगी। बहुत मुबारक है इसका आना। सो मेरा नाम ही मुबारक रख दिया गया। जब मैं बहुत छोटी थी तभी हमारा परिवार गुजरात शिफ्ट हो गया। यहां मेरे अब्बा फलों का कारोबार करते थे और मेरे एक चाचा की चाय की दुकान थी। उन्हें फिल्में देखने का बहुत शौक था और अक्सर वह मुझे अपने साथ ले जाया करते थे जहां अंधेरा होते ही मैं सो जाती। पर एक बार हम लोग सुरैया की कोई फिल्म देखने गए और पहली बार मैं सोई नहीं। उनकी आवाज ने मुझ पर जादू–सा असर किया और लौटने के बाद मैं वही गाना गाती रही। चाचा को मेरी आवाज में पता नहीं क्या महसूस हुआ कि उन्होंने मेरे अब्बा को सलाह दे डाली कि मुझे गाने की तालीम दिलवाई जाए। अब्बा मान गए और मशहूर क्लासिकल सिंगर उस्ताद अब्दुल करीम खान के भतीजे उस्ताद रियाजुद्दीन खान से मैंने सीखना शुरु किया, मगर बहुत ज्यादा नहीं सीखा क्योंकि मेरा मन शास्त्रीय गायन की बजाय सुगम संगीत में था। मैं सुरैया के गाने गा–गा कर रियाज किया करती थी।''

''गाना मेरे लिए एक शौक ही था और इसे शौक से पेशे में तब्दील करने के पीछे मेरे शौक से ज्यादा हमारे घर के आर्थिक हालात का हाथ रहा। दरअसल हमारे वालिद साहब इतना नहीं कमा पाते थे कि पूरे परिवार का आसानी से पेट भर सकें। लिहाजा लोगों की सलाह पर उन्होंने मुझे लेकर मुंबई का रूख किया। यहां नरगिस की मां जद्दनबाई की सिफारिश से मुझे रेडियो पर गाने के प्रोग्राम मिलने लगे। एक्टर और म्यूजिक कंपोजर रफीक गजनवी, जिन्होंने महबूब खान की फिल्मों के शुरू में 'मुद्दई लाख बुरा चाहे क्या होता है, वही होता है जो मंजूर–ए–खुदा होता है' का नारा दिया था, उन्होंने मुझे

*(दीपक दुआ 1993 से दिल्ली स्थित फिल्म समीक्षक व पत्रकार हैं। 'चित्रलेखा' व 'फिल्मी कलियां' जैसी प्रतिष्ठित फिल्म–पत्रिकाओं से बरसों तक जुड़े रहे। अपने पोर्टल 'सिनेयात्रा डॉट कॉम' के अलावा विभिन्न पत्र–पत्रिकाओं, वेब–पोर्टल, टी.वी. चैनलों, रेडियो आदि के लिए सिनेमा व पर्यटन से जुड़ा लेखन करते हैं। 'फिल्म पत्रकारिता' पर उनका लिखा अध्याय उत्तराखंड मुक्त विश्वविद्यालय में पढ़ाया जाता है। उनकी लिखी फिल्म 'दंगल' की समीक्षा कई विद्यालयों में कक्षा–7 में अध्याय के तौर पर पढ़ाई जाती है। दीपक देश के बहुत सारे फिल्म फेस्टिवल्स से भी जुड़े हुए हैं। वह देश के चुनिंदा फिल्म समीक्षकों की संस्था 'फिल्म क्रिटिक्स गिल्ड' के सदस्य भी हैं। वर्ष 2024 में इन्हें 'सर्वश्रेष्ठ फिल्म क्रिटिक' के राष्ट्रीय पुरस्कार से सम्मानित किया गया है ।)

कहीं पर सुना और अपनी फिल्म में गाने के लिए बुला भेजा। ताड़देव के फिल्म सैंटर में उस गाने की रिहर्सल थी मगर पहली बार कुछ बड़ा करने का डर मेरे जेहन पर ऐसा तारी हुआ कि मैं माइक के सामने गा न सकी और किस्मत के खुले हुए दरवाजे से ही लौट आई। ऐसा दो–एक बार और भी हुआ और अब्बा मुझसे काफी निराश हो चले थे। पर तभी मुझे एक और मौका मिला और इस बार मैं यह तय करके गई कि नर्वस बिल्कुल नहीं होना है। यह फिल्म थी 'आइए' जिसके संगीतकार शौकत देहलवी ने मुझे मेरा पहला गाना 'मोहे आने लगी अंगड़ाई, आजा आजा बलम...' दिया। इसी फिल्म में लता मंगेशकर के साथ 'आओ चलें, चलें सखी वहां...' भी मैंने गाया। लता से मेरी पहली मुलाकात इसी गाने की रिकॉर्डिंग पर हुई थी। वह भी उन दिनों नई थीं और फिल्मों में पैर जमाने में लगी थीं। इसके बाद मुझसे हंसराज बहल ने 'फूलों के हार' के सातों गाने गवाए। गुलाम मौहम्मद की 'शीशा' में मैंने 'जल जल के मरी...' गाया। पर बहुत जल्दी मुझे ऐसा महसूस होने लगा कि मेरे साथ कोई खेल खेला जा रहा है। संगीतकार मुझसे अक्सर कहते कि मेरी आवाज शानदार है पर मुझे गाने देने से वह हिचकने लगे। कई बार ऐसा भी हुआ कि किसी गाने के लिए मेरा नाम तय कर लिया गया या मुझसे रिकॉर्डिंग भी करवा ली गई पर फिल्म में वह गाना किसी और गायिका की आवाज में आया। असल में कुछ बड़ी सिंगर थीं जो संगीतकारों को यह धमकी देती थीं कि अगर उन्होंने मुझसे गवाया तो वे उनके लिए कभी नहीं गाएंगी। मैं सब समझती थी मगर चुप रहती थी क्योंकि मेरे लिए गाना नाम या शोहरत कमाने की बजाय अपना और अपने परिवार वालों का पेट पालने का जरिया ज्यादा था।''

''दरअसल किस्मत की यह दगाबाजियां मैंने अपने पूरे कैरियर में लगातार झेलीं। बड़ी फिल्मों और बड़े संगीतकारों की तरफ से मुझे पूरे–पूरे गाने नहीं बल्कि चार–छह लाइनें ही गाने को मिलती थीं। कभी कुछ अच्छा मिला भी तो वह हिट नहीं हुआ। कम नाम वाली फिल्मों के गाने खूब मिलते थे मगर वे चलते नहीं थे और न हि उनके लिए ज्यादा मेहनताना ही मिल पाता था। कमाल अमरोही की 'दायरा' का मिलना मेरे लिए एक बहुत बड़ा ब्रेक था जिसमें मैंने सात गाने गाए। मीना कुमारी और नासिर खान की इस फिल्म में मौहम्मद रफी साहब के साथ भी मेरा एक गाना था जिसके बोल थे 'देवता तुम हो मेरा सहारा, थामा है दामन तुम्हारा...'। इस गाने की रिकॉर्डिंग के समय मैंने रफी साहब से गुजारिश की कि मैं आपके बराबर ऊंचा नहीं गा पाऊंगी तब रफी साहब ने अपना सुर मेरे सुर के बराबर नीचा कर लिया। रफी साहब इंसान के रूप में फरिश्ता थे। जब तक वह जिंदा रहे, बराबर मेरी खोज–खबर लेते रहते थे। मगर किस्मत की मार देखिए कि 'दायरा' पिट गई और इसी वजह से इसके गीतों को भी ज्यादा तवज्जो नहीं मिल सकी।''

''ऐसा नहीं कि मुझे खुशनुमा दिन देखने को नहीं मिले। अच्छा वक्त भी आया मेरी जिंदगी में। एस.डी. बर्मन ने मुझसे बिमल रॉय की 'देवदास' में 'वो न आएंगे पलट कर, उन्हें लाख हम बुलाएं...' गवाया। हालांकि इस गाने में भी मुझे कुछ ही लाइनें गानी थीं मगर मेरी आवाज से प्रभावित हो कर गीतकार साहिर (लुधियानवी) साहब ने इसे एक पूरा गाना बना दिया। फिर बिमल रॉय ने मुझसे 'मधुमती' में 'हम हाल–ए–दिल सुनाएंगे...' गवाया जो इस फिल्म के बाकी गानों की तरह काफी सराहा गया। सिर्फ तीन साजिंदों–एक तबलची, एक हारमोनियम वादक और एक सारंगी वादक ने इस गाने में संगीत दिया था। मेरे फिल्मी सफर का सबसे हिट गाना केदार शर्मा ने अपनी फिल्म 'हमारी याद आएगी' में दिया था। जब इस गाने 'कभी तन्हाइयों में यूं हमारी याद आएगी...' की रिकॉर्डिंग हो रही थी तो केदार शर्मा आंखें बंद करके इसे सुन रहे थे। बाद में उन्होंने मुझे चार आने दिए। मैं हिचकिचाई तो संगीतकार स्नेहल भाटकर ने मुझे समझाया कि यह शगुन है और जब भी केदार शर्मा ऐसा करते हैं तो वह गाना सुपरहिट होता है और यही हुआ भी।''

''शंकर–जयकिशन के लिए भी मैंने कई फिल्मों में गाया। 'हमराही' में रफी साहब के साथ गाया मेरा गाना 'मुझको अपने गले लगा लो ऐ मेरे हमराही...' खासा हिट हुआ। अमीन सायानी साहब की 'बिनाका गीत माला' में यह गाना महीनों तक बजता रहा था। 'अराऊंड द वर्ल्ड' में शारदा के साथ मैंने गाया–'यह मुंह और मसूर की दाल. ..'। 'आरजू' में कव्वाली गाई जिसके बोल थे–'जब इश्क कहीं हो जाता है...'। कल्याण जी–आनंद जी के लिए 'जुआरी' और 'यह दिल किसको दूं' जैसी फिल्मों में गाया। 'जुआरी' का गाना 'नींद उड़ जाए तेरी चैन से सोने

वाले...' तो बहुत ही लोकप्रिय हुआ था। मदन मोहन के लिए 'नींद हमारी ख्वाब तुम्हारे' में गाया। कल्याण जी–आनंद जी को राष्ट्रीय पुरस्कार दिलवाने वाली फिल्म 'सरस्वती चंद्र' में 'वादा हमसे किया दिल किसी को दिया...' भी मैंने गाया। 'काजल' में 'अगर तुम न मिलोगे तो मैं यह समझूंगी...' भी गाया। पर धीरे–धीरे मुझे काम मिलना बंद होने लगा। 'जब जब फूल खिले' में मैंने रफी साहब के साथ 'परदेसियों से ना अखियां मिलाना...' गाया था पर जब फिल्म में यह गाना किसी और की आवाज में आया तो मैं समझ गई कि मेरा वक्त अब खत्म हो चुका है। 'रामू तो दीवाना है' मेरी आखिरी फिल्म थी। इसके बाद न तो कभी मेरे घर के फोन की घंटी बजी और न हि मेरी किस्मत की।''

''फिल्मी गानों में अब पहले जैसा कुछ भी नहीं रहा। न तो वैसे गाने लिखे जाते हैं और न हि वैसी तर्जें बनाई जा रही हैं। डांस के नाम पर भी कलाबाजियां होती हैं। पर मुझे लगता है कि इसके पीछे लोगों का भी कसूर है। लोगों का जायका बदल गया है। जैसे लोग सुनने वाले हो गए वैसे ही म्यूजिक बनाने वाले हो गए। लोग अगर अच्छे म्यूजिक को सुनें और खराब को दरकिनार कर दें तो वैसा म्यूजिक बनना खुद–ब–खुद कम हो जाएगा।''

''पहले के गानों में गहराई इसलिए भी ज्यादा होती थी क्योंकि उन्हें बनाने वाले पूरी तरह से डूब कर काम करते थे। मुझे याद है नरगिस की 'शीशा' में मैंने एक गाना गाया था–'जल जल के मरूं कुछ कह न सकूं मुझ–सा भी कोई नाकाम न हो...' जिसके संगीतकार थे गुलाम मौहम्मद साहब। किसी एक जगह पर आकर मैं बार–बार अटक रही थी तो उन्होंने मुझे अकेला छोड़ दिया और कहा कि एक हजार दफा इसे बोलो उसके बाद आगे बढ़ेंगे। तो इस किस्म का समर्पण होता था उन दिनों। लाइव म्यूजिक बजता था। सभी साजिंदे एक साथ बजाते थे और किसी एक से भी अगर गलती हो जाती थी तो सारा कुछ फिर से बजाया जाता था।''

''उस समय के लोगों में ऊंच–नीच की सोच भी नहीं होती थी। मैं जब नई थी तो बहुत शर्माती थी, किसी से बात भी नहीं करती थी। एक बार की बात है मैं महबूब स्टूडियो से रिकॉर्डिंग करके निकली तो टैक्सी का इंतजार कर रही थी कि तभी गीता बाली जी की कार आकर रुकी और उन्होंने इसरार करके मुझे अपनी कार में बिठाया और घर तक छोड़ा।''

''आजकल की लड़कियों में से मुझे सुनिधि चौहान और श्रेया घोषाल की आवाजें अच्छी लगती हैं। राशिद खान का गाया फिल्म 'जब वी मैट' का एक गाना 'आओगे जब तुम ओ साजना अंगना फूल खिलेंगे...' मैं अक्सर सुनती हूं। ऐसा अच्छा गाना गाया है और इरशाद कामिल ने इसे लिखा भी बहुत अच्छा है। वैसे मैं आजकल के गाने नहीं सुनती हूं क्योंकि अब गानों में तर्ज हावी रहती है और लफ्जों के कोई मायने ही नहीं होते।''

''मेरी जिंदगी में ठंडी छांव कम आई और थोड़े समय के लिए ही आई। सच तो यह है कि मेरी तमाम उम्र अहसास–ए–कमतरी में ही बीती। मुझे हमेशा इस बात का मलाल रहा कि जो मेरा हक था वह मुझे नहीं मिल पाया फिर चाहे वह काम हो, पैसा हो, शोहरत या फिर अवाड्र्स। यहां तक कि राजस्थान वालों ने भी अपने यहां जन्मीं मुझ कलाकार को भुला दिया। जब फिल्म इंडस्ट्री वालों ने मुझे स्टेज शोज में भी काम देना बंद कर दिया तब मैने खुद को अल्लाह ताला के हवाले कर दिया कि वह जो करता है अच्छा ही करता है। मैं उन तमाम लोगों की शुक्रगुजार हूं जिन्होंने कभी मुझे काम दिया और मेरे फन की कद्र की। शायर जावेद अख्तर साहब की कोशिशों और मरहूम सुनील दत्त साहब की सिफारिश से मुझे महाराष्ट्र सरकार से छोटा–सा फ्लैट मिला। पर मेरे हालात कभी अच्छे नहीं रहे। मेरी एक बेटी को पर्किंसन है। उसकी दवाइयों पर ही काफी खर्चा हो जाता है। सरकार से तीन हजार रुपए की मदद आती है पर वह इस महंगाई में कितने दिन चलती है? मेरा बेटा टैक्सी चलाता है पर उसकी भी आगे चार बेटियां हैं। कुछ अर्सा पहले ए.के हंगल साहब के बारे में छपा तो सुना कि उनकी मदद को बड़े–बड़े लोग आगे आ गए। पर मेरे बारे में जान कर सिवाय ए.आर. रहमान साहब के कोई आगे नहीं आया। शायद मेरी किस्मत में कमतरी ही लिखी है।''

ykdxk;u ^fcjgk* dk vnHkqr lalkj

'kf'kiHkk frokjh*

भगवान श्रीकृष्ण की बांसुरी से स्फुटित बिरह, विरक्ति, वियोग की व्याकुलता के राग का कालांतर में बदलता स्वरूप ही आज का बिरहा गीत है। भोजपुरी भाषी प्रदेशों में खासतौर पर पूर्वी उत्तर प्रदेश, पश्चिमी बिहार और मध्यप्रदेश और छत्तीसगढ़ के उत्तर में यह विद्यमान है। जब भगवान श्रीकृष्ण द्वारका में जा बसे उस समय उन्हें 'रणछोड़' कहा गया था। उन्हीं की याद में बरबस पशु, पक्षी, ग्वाल–बाल करुणा के रूदन की वेदना बनाकर जो बिरह–गायन प्रचलित हुआ, वही कालांतर में देश–काल की स्थितियां हो गई। गोचारण, कृषि–जीवी संस्कृति के वाहक व उनके वंशज जहां–जहां जिस खंड में गए, वहां–वहां यह गीत बिरहा के रूप में पहुंचा।

लोक गायन–शैली की विभिन्न विधाएँ प्रचलित हैं, उनमें बिरहा की शैली अनूठी है। बिरहा गायकों ने उत्तरप्रदेश के ग्रामीण इलाकों के लोक–जीवन को अपने गायन में शामिल किया। काशी संगीत की नगरी रही है। काशी में संगीत की सदियों पुरानी विविध गायन–शैलियां प्रचलित रही हैं। कजरी, सावनी, लावनी, ठुमरी, दादरा, भजन–कीर्तन, बिरहा सब गायकी के हिस्से हुआ करते थे। आज भी लोग गाते हैं, पर अब जीवन प्रकृति के उतना करीब नहीं रहा जैसे पहले हुआ करता था। पहले तो खेतों में बीज या धान के पौधे या काम करते हुए किसान और उसके साथी गाते थे, पर अब तो मशीन से खेती होने लगी है, अब यह बहुत कम नजर आता है।

आधुनिक बिरहा का जनक गुरु बिहारी को बिरहा का संस्थापक माना जाता है। उन्होंने खड़ी बिरहा गया जिसमें बिना किसी वाद्य–यंत्र के बिरहा गाया जाता था। बल्कि बिरहा गायक बिहारी खड़ताल के तालों पर बिरहा गाने लगे। कालांतर में, वह बनारस में निवास करने करने लगे। इसी दौरान, उन्होंने बनारस में आयोजित मंदिर उत्सव–श्रृंगार में शिरकत करना आरंभ किया। उस समय उन समारोहों में वो अक्सर कजली गाते थे। धीरे–धीरे उन्होंने कजली गीतों के साथ बिरहा गीतों को गाना शुरू किया। समय के साथ वह बतौर गायक और कवि प्रसिद्ध हो गए। बहुत से लोगों ने उनका शिष्यत्व प्राप्त कर लिया। उनके शिष्यों के भी शिष्य बनने लगे, तो एक नई परंपरा को विकसित किया। इस गुरु शिष्य–परंपरा को ही अखाड़े या घराने के नाम से पुकारा जाने लगा। गुरु बिहारी के चार मुख्य शिष्य थे–रम्मन यादव, गणेश यादव, पत्तु व सरजू राजभर।

बिरहा के कलाकारों का अखाडों से जुड़ना जरूरी है। कोई भी बिरहा गायक तभी मंच प्रस्तुति कर सकता है, जब उसे गुरु की आज्ञा होगी। विरहा गायक किसी गीत के साहित्य का विस्तार नहीं करना चाहते, बल्कि वे अपने अखाड़े की परंपरा के गीतों के साहित्य को याद कर प्रस्तुंत करना उचित मानते हैं। इस तरह अखाड़े की सदस्यता प्राप्त करने के बाद ही बिरहा गायक को गाने के लिए संबद्ध अखाड़े के गीत प्राप्त होते हैं। इसके अलावा, हर गीत के अंत में छाप या स्टैंप की तरह शब्दों का प्रयोग किया जाता है, जिससे यह पता चलता है कि यह बिरह गीत किस कवि ने लिखा है या यह गीत किस अखाड़े का है।

बिरहा के गायक बड़ी संख्या में बनारस और आस–पास के गांव व कस्बे में हैं। बिरहा के कलाकार हर तरह के दबावों और परेशानियों को सहते हुए, अपनी कला के प्रति हमेशा से प्रतिबद्ध रहे हैं। इसी का परिणाम है कि बनारस में एक ओर यह कथित सामाजिक रूप से कमजोर वर्ग की संस्कृति के साथ–साथ मंदिरों के उत्सवों में भी स्वीकृत है। बिरहा गायक और कवि व रचनाकार दोनों ने ही अपनी समझदारी और सरलता से अपने महत्व को कला जगत में कायम किया है। बिना त्याग और समर्पण के परिवर्तन संभव नहीं है। श्रोताओं की पसंद और उनकी अपेक्षा के अनुकूल बिरहा को लगातार परिवर्तन के दौर से गुजरना पड़ा है। यही वजह है कि आज भी लोगों के बीच बिरहा अपने अस्तित्व को बचा पाया है।

उत्तर प्रदेश के गांव में ग्रामीण जब गाय चराने जाते थे, तब वहां बैठे–बैठे वे बिरहा गाया करते थे। बुल्लू यादव, रामदेव यादव, कैलाश यादव, रामखेलावन यादव

*लेखिका, समीक्षक, वार्त्ताकार, दिल्ली

जैसे कलाकार सहज भाषा में बड़े–से–बड़े मुद्दे को अपने बिरहा में गाते थे। रामधारी सिंह यादव पिंगल के जानकार थे। पूर्वांचल में इस गायकी के प्रशंसक भारी संख्या में हैं। समाज में 10–15 हजार लोग महफिलों में सुनने के लिए आज भी जुटते हैं। इसके लिए ज्यादा ताम–झाम की जरूरत नहीं पड़ती है। बिरहा की मौलिकता को सुरक्षित रखना कलाकारों के लिए जरूरी है। इसके व्याकरण और उच्चारण को सभी लोगों के सहयोग व प्यार से संवारने में कलाकार जुटे हुए हैं।

देश–काल की नैतिकता को बनाए रखना और बुजुर्गों का सम्मान करना भारतीय परंपरा है। कलाकारों ने संदेशवाहक संस्कृति–बिरहा को अपनाया है। वो समय के साथ इसे परिमार्जित करने की कोशिश करते हैं। नए और युवा कलाकार इस क्षेत्र में आते हैं, पर रातों–रात मशहूर होना चाहते हैं। यह बड़ा क्षेत्र है। यह 12 महीने आयोजित होने वाला है। बिरहा जन्म से मृत्यु तक के आयोजनों में गायन की परंपरा है। इसके प्रति लोगों की मानसिकता और सोच पहले की अपेक्षा काफी बदली है। दरअसल, लोग लोक संगीत को अशिक्षितों का संगीत मानते हैं। उनका मानना है कि पढ़े–लिखों के लिए यह नहीं है। विकास की होड़ में हम पर इस तरह की सोच हावी हुई। इसलिए, सांस्कृतिक जीवन को संस्कार और जीवन से जोड़कर देखने की जरूरत है। हमारा लोक संगीत हमारे जीवन के लिए संजीवनी है।

पटना के बीच नदियों के किनारे, यमुना, गोमती, सइ, बेलन, सोन, कोसी अंचल से लगा सरयू, घाघरा, यमुना, के पाटों में भर कर थकान को जिस धुन को गुनगुनाकर मिटाते रहे, आज भी खेतिहर मजदूर किसान उसे आत्मसात कर रहे हैं। वह गायन शैली है जिसमें समसामयिक परिस्थितियों का भी चित्रण होता है। लाहौर विश्वविद्यालय के प्रोफेसर डॉक्टर हरदेव बाहरी अपने हिंदी शब्दकोश, पृष्ठ संख्या 595 पर लिखते हैं कि बिरहा दो पंक्तियों का लोकछंद है।

आदि गुरु बिहारी का नाम बिरहा के युग प्रवर्तक के रूप में जाना जाता है जो काशी में रोजी कमाने गाजीपुर के औडिहार के स्वामी के यहां कथा श्रवण करते थे। उस कथा को बिरहा में गुनगुनाने के लिए कलानी बनाया करते थे। कुछ समय बाद, गुरू रमन यादव, गुरू सरयू राजभर, गुरू शिवचंद मल्लाह, गुरू अंबिका महाराज, गुरू मुसई बिंद तथा साथ ही मोहाल महाकजरी से बिरहा में आए थे। इस काल में प्रयाग में स्वामी गीतानंद गुरू बाबादिन यादव, गुरू रामहित यादव, फैजाबाद में मक्का समकालीन गुरू दल गजन यादव हुए। कजरी के कुछ बड़े घराने दिलमहमद, हबीबउल्लाह आदि बिरहा में विलीन हो गए। आजमगढ़ में नटखट गुरू भी बिरहा में नाम किए। मध्यप्रदेश के मंडला जिले में जहां बिरहा नृत्य प्रचलित है। वहीं इंदौर के बिरहा के गुरू साधु बादल दास जी उत्तरप्रदेश के अवध में अपने शिष्यों को बिरहा सिखाए, जिससे नटवर जगन्नाथ यादव प्रसिद्ध हुए।

प्राचीन काल में बिरहा के आशु कवि तुरंत चार कड़िया, आठ कड़िया, सोरह कड़िया, बिरहा बनाकर गाते थे। बिरहा के आधुनिक प्रचलन को गुरू बिहारी के शिष्यों ने कथा और कहानी को समेटकर उत्तर भारत के लोकधुनों के साथ एक गुलदस्ता की भांति सजाकर कथा–गायन में परिवर्तित कर दिया और इसी के साथ काशी के विद्वत जनों के संपर्क में गुरू बिहारी के शिष्यों का रहन–सहन उनका मिलना–जुलना आकर्षित किया। वे अब अपने बिरहा में उच्च पिंगल–शास्त्र के छंदों की बारीकियों व मान्यताओं को पिरोकर लिखना आरंभ किये। इसके साथ ही बिरहा के गायकों में सामाजिक कुरीतियों पर जमकर प्रहार करने का प्रचलन बढ़ा, जैसे– दहेज प्रथा, आपसी भाईचारा, विश्व बंधुत्व और देश पर संकट आने पर गुलामी के दौर में अंग्रेजी हुकूमत के खिलाफ क्रांतिकारियों को सर्व समाज की मान्यता की ओर उन्मुख कर दिया।

इस बिरहा को गणेश गुरू के शिष्य हरिनंदनजी की लेखनी को प्रसिद्ध गायक सहदेव जी ने गाया था। आकाशवाणी केंद्रों से जुड़ा और इसमें पारंपरिक वाद्य करताल, ढोलक, झांझ, मंजीरा के साथ ही सारंगी और हारमोनियम का प्रयोग किया गया। वाराणसी के हीरालाल यादव, रामसेवक सिंह, प्रयागराज के रामकैलाश यादव, गाजीपुर के शामू यादव, शिवबदन सिंह यादव काफी प्रतिष्ठित कलाकार थे। उनके बाद, काशी बुल्लू, रामदेव, हैदर अली, मन्नालाल जवाहरलाल, मोहन सिंह यादव, परशुराम यादव, विश्वनाथ यादव, बल्ली यादव, बेचन राजभर, काशीनाथ पासी, एमएलसी काशीनाथ यादव, सुरेंद्र यादव, दीपक सिंह, रामविलास पांडे जैसे कलाकारों के आगमन से बिरहा में एक नई चेतना व प्रगतिशील युग का प्रादुर्भाव हुआ।

बिरहा के समस्त घरानों में पिंगल की लेखनी के लिए स्वर्गीय रामधारी सिंह यादव, पिंगलाचार्य व परसिद्धन कवि–गाजीपुर, सुखनंदन सिंह–मिर्जापुर, प्रहलाद गिरि–वाराणसी, चंद्रिका कवि– चंदौली, राधेश्याम कवि–मितवा, अवध बिहारी, सूरश्याम पाण्डेय, नरेश यादव, रामनरेश पाल, भागवत पाल, श्रीनाथ यादव आदि कवियों ने अपनी–अपनी लेखनी से बिरहा में छंद–विधान को मजबूती प्रदान की। देखें– शीशा पलट छंद

'दाप आ सब तोर देख'

इस पंक्ति को पीछे से पढ़ने पर होगा–

'खदेर तो बस आपदा'

दूसरी पंक्ति 'दास मनावत हो दया'

उलटा पढ़ने पर होगा–

'याद हो तव नाम सदा।'

इसी तरह, बिरहा में कलाधर छंद, माधवी छंद, धनुष बंद, कमल बंद, नागपाश तथा चित्रों में दर्शा कर लिखा जाने लगा। वर्ण शोक कलाधर छंद 31 वर्ण, एक गुरू, एक लघु, अनुप्रास अलंकार, तुक लालिमा सूर्य उदय का वर्णन–

केतकी कदंब कीर कोकिला करै पुकार,
कामिनी कुलीन–सी कटी सुकाय लालिमा।
खास आंख खंजनी खिलै शिखा,
बिखार खोल खूब रूप खान,
खेलती खखाय लालिमा।
गोर गोर गाथ है, गुलाब गंध अंग–अंग,
गोर गोर गाल पै लगी लगाय लालिमा।
घूंघट उघार घेर ली घटाएं घेरि घेरि
घाघरी घिराय घाघरी लघाय लालिमा।

इस बिरहा में आप जितना पिंगलशास्त्र जानते हैं, उसकी बारीकियां खोज लेंगे। जैसे–31वर्ण कलाधर छंद, 'क' प्रथम पंक्ति के बाद किसी पंक्ति में नहीं प्रयोग हुआ। दूसरी पंक्ति के बाद 'ख' भी किसी पंक्ति में प्रयोग नहीं हुआ। इसी तरह 'ग' तथा 'घ' और क्रम में जो भी आगे अक्षर प्रयोग में आएगा, वह आगे लुप्त हो जाएगा। इसे 'पदच्युक्त छंद' या 'वर्ण शोक छंद' भी कहते हैं। इसमें बड़ों की आवृत्ति है। अतः हर पंक्ति में अनुप्रास अलंकार भी है। सनद वर्णन प्रस्तार की गणना भी की जा सकती है। मात्र तीन अक्षर से बना बिरहा–

मेरे रोम रोम में है रामा मुरारी रम रहे।
रम रहे राम मम ही में, हरि हरि राम रम रहे।
महि मे राम रमे रोम रोम हे रामा,
मैं मैं ही मर रमा हम मे हे रामा,
मेरे रोम रोम में हे रामा मुरारी राम रहे।

देखिए, एक अन्य बिरहा जो बिना मात्रा के शब्दों से बना है–

कलरव करत रहत खग हरदम
नभचर खर चर कर थम थम।
पवन चलत दर बदल बदल,
फरकत फरकत दर जर पर।

इस तरह बिरहा के गायक कभी–कभी एक–दूसरे से हाजिर जवाबी बिरहा लड़ाने के लिए छंद–विधान का प्रयोग करते हैं। नियम है कि बिरहा गायकी में कहानी का जवाब कहानी से, छंद का जवाब छंद से, पुराण का जवाब पुराण से, महाभारत का जवाब महाभारत की कथाओं से, लोकोक्तियों का जवाब लोकोक्तियों से, मुहावरों का जवाब मुहावरों से, अचूक कहानियों पर कहानी से एके–दूसरे का जवाब देना पड़ता है। बिरहा में रसना गहन छंद जिसे जीभ पकड़कर गायन किया गया है, जिसे उर्दू में 'हफ्ते जबान' कहा जता है। इसमें मान्यता है कि क, ख, ग, घ, ड़, ह, य इन सात अक्षरों से ही यह छंद बनाया जाता है। इस बिरहा को आप करताल से या चिमटे से जीभ को पकड़कर गा सकते हैं। उदाहरण के लिए,

कंक इहां कां कां कह गाई
कागा खाई काया के।
आके आगे कागा गाई
कागा अंग–अंग के खाई
गाई गई के अघाई
कागा खाई काया के।

बिरहा गायक हीरालाल यादव 'पद्मश्री' सम्मानित थे। जब वे गाते थे, तब उन्हें सुनने के लिए डॉ नामवर सिंह, डॉ शिवप्रसाद सिंह, डॉ काशी सिंह जैसे विद्वान आते थे। डॉ काशी नाथ सिंह का उपन्यास 'काशी का अस्सी' बहुत लोकप्रिय हुआ था। उसमें विरहा गायक हीरा की ही कहानी एक अध्याय में कही गई थी। इसी उपन्यास का आधार लेकर डॉ चंद्रप्रकाश द्विवेदी ने फीचर फिल्म

'मोहल्ला अस्सी' बनाई थी। इसी पर आधारित नाटक उषा गांगुली ने खेला था। बाद में काशीनामा के नाम से यह नाटक देश–विदेश में काफी लोकप्रिय हुआ था।

अस्सी के दशक में बिरहा कलाकारों की लोकप्रियता चरम पर थी। उन दिनों गांव में लोग अपने घरों पर उन्हें ठहराते थे। हम लोग महीने–भर एक गांव में रहते थे। सीखने–सिखाने का दौर चलता था और आस–पास के कई गांव में कार्यक्रम का सिलसिला चलता रहता था क्योंकि विरहा ऐसी विधा है, जिसके जरिए समाज सीधे कलाकार से जुड़ता है। हम कलाकारों का नैतिक कर्तव्य है कि अपने कर्तव्य को समझें, हमारा समाज, देश और मानवता के प्रति क्या दायित्व है। यह सिर्फ सस्ता या बाजारू मनोरंजन का साधन–भर नहीं रहा है।

बिरहा गायक हीरालाल यादव गणेश गुरु जी की परंपरा में है। इस घराने में अच्छे गायकों में रामदेव यादव, रामधारी यादव, विजय लाल यादव, मन्नू यादव आदि आते हैं। पत्तू घराने में बुल्लू यादव, पारस यादव, शिवमूरत यादव–जैसे नामचीन विरहा के कलाकार हुए हैं। रामजतन अखाड़ा, अंबिका पंडित जी का अखाड़ा, जगंधू, शिवचंद जी, अकलू खलीफा जी के अखाड़े की शुरुआत हुई। लेकिन इनमें सिर्फ चार अखाड़े ही आगे चले। जहां तक महिला बिरहा गायिकाओं की बात है, पहली विरहा गायिका इलाहाबाद की उमा बैरागन रहीं। वह कुछ समय तक गातीं रहीं, लेकिन उनके समय में बिरहा पूरी तरह पुरुष कलाकारों से भरा हुआ था। इस क्षेत्र में महिला कलाकार के रूप में अपनी पहचान बनाने में गायिका गीता त्यागी सफल रहीं। वह पश्चिम बंगाल, महाराष्ट्र, बिहार, मध्यप्रदेश में बहुत लोकप्रिय रही हैं।

बिरहा को लोकप्रिय बनाने वालों में राम कैलाश यादव जी का नाम बहुत अदब से लिया जाता है। उनका जन्म सन् 1928 में उत्तर प्रदेश के प्रयागराज के हंडिया तहसील स्थित लमाही गांव में हुआ था। उन्होंने बिरहा गायन की आरंभिक शिक्षा अपने चाचा महावीर यादव से ली थी। राम कैलाश यादव को बिरहा गायन विरासत में मिला, लेकिन उनके पास विभिन्न पारंपरिक भक्ति गीतों और पूर्वी अंग की गायकी का बड़ा भंडार था। उन्होंने उत्तर प्रदेश में बड़े पैमाने पर लोक संगीत के प्रदर्शन कार्यक्रमों में भाग लिया और लोक गायकी में अपनी एक विशेष पहचान कायम किया। उनके परिवार–परंपरा में बिरहा की जड़ें अभी भी जमी हुई हैं। लोक संगीत के क्षेत्र में उनके योगदान के लिए उन्हें केंद्रीय संगीत नाटक अकादमी सम्मान से सम्मानित किया गया। एक बार लोकगायक राम कैलाश यादव ने कानपुर में 'अपने मन की बात' कार्यक्रम के समय कहा था कि आज के वक्त में खाना और गाना दोनों ही खराब हो गया है। सहज और ठेठ अंदाज में उन्होंने बहुत बड़ी बात सहजता से कही थी।

अखाड़ा या घराना सामान्य तौर पर बिरहा की संस्कृति में बहुत लोकप्रिय है। गुरु–शिष्य के रिश्ते पर लोगों का अटूट विश्वास आज भी बना हुआ है। कुश्ती, तलवार बाजी, दंड–प्रहार जैसे खेलों को भी अखाड़ों में प्रोत्साहित किया गया। समूह उत्सवों और जुलूस के समय ऐसी प्रस्तुतियाँ होती हैं। अखाड़ा में लोग अपने मन से ही जुड़ते थे। अखाड़े के सदस्यों का आपस में रिश्ता या पारिवारिक संबंध होता था।

इसमें कोई शक नहीं कि अखाड़ों ने महत्वपूर्ण कार्य किया है। अखाड़े के सदस्यों को एकत्रित करना, उन्हें संगठित करना, विभिन्न गतिविधियों को करना, यहां तक कि सदस्यों के चुनाव में भी समाज के अलग–अलग तबके के लोगों को जोड़ा है, जिनका सामाजिक और भौगोलिक क्षेत्र अलग रहा है। अखाड़ा ऐसी सामाजिक संस्थाओं के रूप में उभरे जिनकी क्षमता विविध और विशिष्ट आयामों से जुड़ी हुई थी। कुछ अखाड़े समाज में महिलाओं और साधुओं के लिए विशेष कार्य कर रहे थे। उनके प्रयासों से परंपरागत सामाजिक रचना में प्रभावशाली लोगों के हाथों में संसाधनों का उपयोग और उनके पकड़ को ढीला किया। ऐसे अखाड़ों के प्रति स्थानीय लोगों का मानना था कि ये अखाड़े बहुत महत्वपूर्ण काम कर रहे हैं।

अखाड़ा में गुरु–चेला संबंध का अनुशासन महत्वपूर्ण है। अखाड़ा के माध्यम से कलाओं की परंपरा को कायम रखने में तो मदद तो मिली ही; साथ ही, कला की गुणात्मकता को भी बनाए रखने का प्रयास हुआ। इसके अलावा, कला का हुनर एक–दूसरे को सहज ही प्रसारित हो गया। यह कोई बड़ी बात नहीं है कि बिरहा के कलाकार सिर्फ अपने अखाड़े की चीजों को ही अपनी गायकी में पेश करते रहे हैं। वे दूसरे या प्रतिद्वंद्वी अखाड़ों की रचनाओं को गाने से परहेज करते हैं।

अगर अखाड़ा का प्रवेश महत्वपूर्ण बिंदुओं पर था, तो यह चर्चा करना भी बनता है कि इसका जुड़ाव या गठबंधन विभिन्न सांस्कृतिक गतिविधियों और स्थानीय सामाजिक संस्थाओं, आस–पास के अन्य महत्वपूर्ण सरोकारों का भी विश्लेषण अखाड़ों के माध्यम से किया जा सकता है। उत्तर भारत में पिछले दशक में अखाड़ों की गतिविधियों और अवसरों दोनों का विस्तार हुआ है। इन गतिविधियों का मुख्य केंद्र निम्न जाति की संस्कृति में ही ज्यादा सीमित है। धीरे–धीरे स्थानीय देवी–देवताओं और सांस्कृतिक गतिविधियों पर उच्च जाति के लोगों की नजर भी पड़ने लगी और कालांतर में वो लोग भी इन्हें अपनाने लगे। बहरहाल, शहरी संस्कृति में उच्च और निम्न जाति के बीच का अलगाव और अंतर धीरे–धीरे खत्म हो चला है। सांस्कृतिक विविधता को अपनाना एक तरह का फैशन बन गया। जाति व समुदाय के इतर शहरी संस्कृति के फैलाव के साथ औद्योगिक केंद्रों में खास तौर पर ग्रामीण अंचल से आए मजदूर वर्ग और बुनकर भी बिरहा से जुड़ गए। विशेष तौर पर कोलकाता और मुम्बई के मिलों में काम करने वाले उत्तर प्रदेश और बिहार से आए मजदूर वर्ग के लोग इस कला के रसिक वर्ग में शामिल रहे हैं। इसलिए बिरहा के कलाकारों ने लोकसंगीत को शहरी जीवन के दौरान भी अपने संस्कारों और स्थानीय संस्कृति को अपने जीवन का हिस्सा बनाए रखा।

अस्सी के दशक में दूरदर्शन के आगमन से एक नया परिवर्तन नजर आने लगा। कभी–कभी कुछ क्षेत्रीय कार्यक्रमों में बिरहा के कलाकारों की उपस्थिति दर्ज होने लगी। लखनऊ केंद्र में लोकगीतों के कार्यक्रम में बिरहा के कलाकरों की रिकार्डिंग शुरु हुई। इसी दौरान, सन् 1984 में पहली बार बिरहा गीत 'सोनवा के पिंजरा' फिल्म में नजर आया। यह गीत फिल्म 'गंगा मैया तोहे पियरी चढ़इबो' में था। इसे गीतकार शैलेंद्र ने लिखा था और संगीत चित्रगुप्त ने तैयार किया था। इसे गायक मोहम्मद रफी ने बहुत सुरीले अंदाज में गाया था। इस तरह समय और बदलते तकनीक के साथ बिरहा ने अपनी यात्रा तय की है। इसी क्रम में आज के दौर में फेसबुक लाइव, इंस्टाग्राम, यू–ट्यूब जैसे सोशल मीडिया का प्रयोग कलाकार जमकर कर रहे हैं।

इसमें कोई दो राय नहीं कि समकालीन लोकसंगीत जगत में बिरहा लोक गायकों और कवि व रचनाकारों दोनों ने ही अपनी समझदारी और सरलता से अपने महत्व को कला जगत में कायम किया है। उन्होंने त्याग और समर्पण के साथ समय और समाज के परिवर्तन को स्वीकार किया है। श्रोताओं की पसंद और उनकी अपेक्षा के अनुकूल बिरहा को लगातार परिवर्तन के दौर से गुजरना पड़ा है। यही वजह है कि आज भी लोगों के बीच बिरहा अपने अस्तित्व को बचा पाया है। बिरहा के समस्त कवियों ने अपनी–अपनी लेखनी से बिरहा में छंद–विधान को मजबूती प्रदान की।

बिरहा समारोह का आयोजन आम समाज की लोकप्रिय संस्कृति का प्रतीक है। यह आम लोगों का संगीत है। इसे लोक और समाज के सामान्य लोगों ने संरक्षित और सवंर्द्धित किया है। यह मनोरंजन का सशक्त माध्यम तो है, साथ ही, समकालीन समाज पर व्यंग्य, उपहास, मार्गदर्शक, प्रेरक का भी पर्याय है।

dk0; vkj lxhr dh ,dkRedrk

Mk- fot;Jh 'kek*

ikjfLijd vkc)rk

काव्य और संगीत दो ऐसी कलाएं हैं जो मानव के अन्तर्तम को झंकृत कर सात्विक आनंद की अनुभूति कराती हैं। यद्यपि काव्य और संगीत दोनों का अस्तित्व अलग–अलग है, काव्य में भावात्मक शब्दों की प्रमुखता है और संगीत में भावात्मक स्वरों की, किन्तु शब्दों और स्वरों की भावात्मक अर्थाभिव्यंजना का सहज सुंदर स्वरूप तो काव्य और संगीत दोनों के साहचर्य में ही परिलिक्षत होता है। संगीताचार्य के बिना काव्य और काव्याचार्य के बिना संगीत अधूरा है। दोनों ही एक–दूसरे के पूरक हैं और एक दूसरे में इस प्रकार आबद्ध हैं कि एक के बिना दूसरे की कल्पना नहीं की जा सकती।

,d gh ukn&fcanq ls mRifÙk

काव्य और संगीत दोनों का ही प्रादुभार्व नाद–बिंदु के एक ही स्रोत से हुआ है, अतः दोनों में अन्योन्याश्रयी सम्बन्ध है।

''नादेन व्यंजते वर्णः पदं वर्णात्पदाद्वच।
वचसो व्यवहारो यं नादाधीनिमदं जगत।।''
–संगीत रत्नाकर

नाद से वर्ण, वर्ण से पद और पद से वाणी की अभिव्यिक्त होती है, वाणी से ही हमारे समस्त जगत का कार्य–व्यापार चलता है, अतएव यह समस्त जगत ही नाद के आधीन है। भाव की संवेदना, ज्ञान के भंडार और विचार की शक्ति इन सब की अभिव्यिक्त वाणी के द्वारा ही होती है। यह वाणी शब्दमयी और स्वरमयी है। इसलिए शब्द और स्वर नाद के आधीन हैं।

अनुभव और विचारों को अभिव्यक्त करने के लिए नाद का द्विधा प्रयोग होता है, एक वर्ण के रूप में और दूसरे स्वर के रूप में। वर्ण–रूप में नाद की चर्चा, काव्य का विषय है और स्वर के रूप में नाद की चर्चा, संगीत का विषय है।

ukncã

''चैतन्य सवर्भूतानांविवृतं जगदात्मना,
नादब्रह्म तदानन्दमद्वितीय मुपास्महे''
–संगीत रत्नाकर

नाद की इस प्रतिष्ठा के कारण ही उसे संसार का समस्त चैतन्य अद्वितीय, आनंदमय व सर्वव्यापी कहा गया है। नाद को 'नादब्रह्म' कह कर सम्बोधित किया गया। नाद को सबसे बड़ा मंत्र एवं नादानुसंधान को सबसे बड़ी पूजा बताया गया है।

नादोत्पन्न शब्द–ब्रह्म से संसार का प्रारम्भ माना गया है। मैक्समूलर ने अपने वेदांत विषयक व्याख्यानों में दिखलाया कि अंग्रेजी शब्द ''वर्ड'' संस्कृत धातु 'वृ' से निकला है। इसी से 'ब्रह्म' शब्द बना और वह ब्रह्म ही संसार का आरम्भ है। श्रीमद्भगवद्गीता में भी कहा गया है कि एक शब्द 'ऊँ' इस ब्रह्मांड को प्रगट करता है। इसी शब्द–ब्रह्म से वेद, वेद से कर्म, कर्म से यज्ञ, यज्ञ से बादल, बादल से अन्न और अन्न से सब प्राणी उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार सभी प्राणी शब्द–ब्रह्म से उत्पन्न और रक्षित हैं। शब्द–ब्रह्म को भली–भाँति जान लेने से परब्रह्म की प्राप्ति होती है।

ljLorh dk çrhd

सरस्वती को एक–साथ काव्य और संगीत की देवी मानकर उसे 'वीणापुस्तकधारिणी' कहा गया है। चतुभुर्ज सरस्वती की तीन भुजाओं में वीणा, पुस्तक व माला है और चौथी भुजा अभय मुद्रा की है। यह चारों प्रतीक बड़े सार्थक व रहस्यपूर्ण हैं। वीणापाणि के एक हस्त में वीणा संगीत और उसके माध्यम से प्राप्त होने वाले उस संगीतानन्द का प्रतीक है, जो बिना भाषा के ही नादब्रह्म की अनुभूति करा देती हैं। दूसरे हस्त में माला शब्दों के आधार अक्षरों की प्रतीक है। अकार से हकार तक के वर्ण रुद्र भगवान के डमरू से निकले अ इ उ ण – हल् आदि चौदह सूत्र प्रसिद्ध हैं। अकार से आरम्भ कर क्षकार तक के अक्षरों की माला से ही जप करने का विधान है। सरस्वती के तीसरे

*शास्त्रीय गायिका, लेखिका, संस्थापक निदेशिका– 'संगीतश्री' स्कूल ऑफ म्यूजिक, फोनेक्स, अरिजोना, यू.एस.ए.

हस्त में पुस्तक शब्दशक्ति का प्रतीक है। पुस्तक के प्रतीक में जैसे शब्द–वाक्य आदि गद्य–रूप हैं, वैसे ही पद–पाद–पद्य आदि छंद रूप भी हैं। ये सभी वाणी के ही स्वरुप हैं। महाकवि कालिदास ने भी इसी तत्व का उल्लेख किया है। सरस्वती का चौथा हस्त अभय मुद्रा में स्थित है। इसका तात्पर्य यही है कि ऊपर लिखे तीनों साधनों के शक्ति रूप शास्त्रों से सरस्वती जिस ज्ञानरस का वितरण कर रही हैं, उसी ज्ञान से अभय रूप शांति का भी वितरण कर रही हैं। इस प्रकार, सरस्वती के कर स्थित वीणा, माला, पुस्तक मुद्रा का प्रतीकार्थ स्पष्ट है। तभी तो सरस्वती को 'वीणापुस्तक धारणीम् अभयदाम' कहा गया है।

eyrRo leku

काव्य और संगीत दोनों का आधार नाद है। काव्य और संगीत दोनों ही एक–दूसरे के अस्तित्व में सहायक हैं क्योंकि दोनों के मूल तत्व समान हैं। अंतर केवल अभिव्यिक्त के माध्यम का है। काव्य, शब्द और अर्थ के माध्यम से तथा संगीत, स्वर और लय के माध्यम से भावाभिव्यिक्त के समान प्रयोजन हेतु आनंदानुभूति की समान लक्ष्यपूर्ति के लिए प्रयुक्त होता है। कोई भी काव्य–रचना भावविहीन नहीं हो सकती और जहाँ भावों की विद्यमानता है वहां संगीत स्वयंमेव उपिस्थत रहता है। दूसरी ओर, शब्द के अभाव में संगीत का गेयात्मक विकास अवरुद्ध हो जाता है, यहां तक कि स्वर की साधना में भी शब्दाचार आवश्यक है। संगीत के प्रथम शब्द सा के उच्चारण में ही स और अ मिले हुए हैं। स शब्द है और अ संगीत। व्यंजन में सुर समाया हुआ है। शब्द में ही स्वर भी स्थित होता है। शब्दोच्चारण के साथ ही स्वरोच्चारण स्वतः हो जाता है। यह स्थिति गद्य और पद्य दोनों में होती है। गद्य और पद्य के स्वर में यही अंतर है कि पद्य का स्वर संगीतात्मक होने के कारण तुरंत पहचान में आ जाता है जबकि गद्य के स्वर में यह पहचान कठिन होती है। इसका कारण यह है कि संगीत में प्रयुक्त स्वर का स्थान सुनिश्चित होता है। इसी कारण उसकी पहचान सरल होती है। इसी पहचान के आधार पर स, रे, ग, म, प, ध, नि स्वरों के नाम रखे गए। संगीतात्मक स्वरों की भाँति गद्य में स्वरों के स्थान सुनिश्चित नहीं होते, अतः उनकी पहचान भी सुनिश्चित नहीं होती।

,dkRed Lo#i

'स्वर' एवं 'लय' संगीत के दोनों अनिवार्य तत्व हैं और यही वह तत्व है जो शब्दों को 'काव्य' का रूप प्रदान करते हैं, गद्य और पद्य में अंतर करते हैं।

Loj

मानव अपने भावों को व्यक्त करने के लिए वाणी का सहज माध्यम अपनाता है किन्तु इस वाणी के साथ ही ध्वनि का उतार–चढ़ाव भी वाणी के उच्चारण में स्वतः ही होता रहता है। यदि ऐसा न हो, तो शब्दों से अपेक्षित भाव प्रगट नहीं होते। ध्वनि का यह उतार–चढ़ाव शब्दानुकूल न होने पर उचित अर्थ–बोध नहीं होता, केवल इतना ही नहीं, शब्द और ध्वनि (उतार–चढ़ाव) असंगत होने पर अर्थ का अनर्थ हो जाता है।

Loj dk mrj&p<ko

स्वर के इसी उतार–चढ़ाव से संगीत निर्मित है। संगीत की पारिभाषिक शब्दावली में क्रम से स्वरों के ऊँचे चढ़ने को 'आरोह' और नीचे उतरने को 'अवरोह' कहते हैं। स्वर के इसी उतार–चढ़ाव से प्राप्त विभिन्न अंतरालों के स्वर और उन स्वरों के विशिष्ट समूह मनोभावों को व्यक्त करते हैं। इन्हीं स्वरों व सप्तकों के अंतर्गत संगीत का समस्त कार्यव्यापार चलता है। इस प्रकार, काव्य तथा संगीत दोनों में भाव–बोधन के लिए स्वर आधार है।

y;

स्वर के अतिरिक्त लय अर्थात् गति ऐसा प्रमुख तत्व है जो काव्य और संगीत दोनों को समान रूप से प्रभावित करता है। लय उस गति या चाल को कहते हैं जहां समानता, एकरूपता, नियमितता हो। नियिमत गति ही लय है।

y;kRed çokg

वस्तुतः संगीत का लय तत्व ही काव्य में 'प्रवाह' का नाम व रूप धारण कर लेता है। काव्य में कविता के छंदों का 'प्रवाह' ही 'लय' है। छायावादी कविता पारम्परिक छंदों से चाहे मुक्त हो परन्तु इस लयात्मक प्रवाह से वह भी मुक्त नहीं । यही लयात्मक प्रवाह संगीत में प्राण सदृश संचरण करता है। स्वर और लय का अभिसार ही तो संगीत है। संगीत में 'लय' और 'ताल' शब्द 'काव्य' के 'प्रवाह' और 'छंद' के ही पर्याय हैं।

dk0; d: y;kRed çokg dk mnkgj.k

''मंगल करनि कलिमल हरनि, तुलसी कथा रघुनाथ की।''
(रामचरितमानस, 1–9 छंद)

उपर्युक्त पंक्तियों के उच्चारण में बिना लय का क्रम उत्पन्न किये, ये निष्प्राण–सी लगेंगी, किन्तु इन्हें यदि इनके निश्चित स्वाभाविक लय–क्रम में विभाजित कर दिया जाए तो इनका रूप ही बदल जायेगा। उपरोक्त छंद 3–2–2 के क्रम में विभाजनीय है। कुल मात्राएँ = 14

1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11	12	13	14
1	2	3	1	2	1	2	1	2	3	1	2	1	2
												मं	–
ग	ल	क	र	नि	क	लि	म	ल	ह	र	नि	तु	ल
सी	–	क	था	–	र	घु	ना	–	थ	की	–,		

इस छंद की पंक्तियाँ 7–7 मात्राओं की हैं और 3–2–2 (अथवा 3–4–3–4) के स्वाभाविक क्रम में सजी हैं। तदनुसार 7 मात्राओं की रूपक ताल अथवा 14 मात्राओं की दीपचंदी ताल के अनुरूप है। उपर्युक्त पंक्तियों में स्वाभाविक लय ही आंतरिक छंद–परक लय है। यदि स्वाभाविक लय–विभाजन में इन पंक्तियों को उच्चारित न कर किसी अन्य प्रकार से इन्हें कहा जाए, तो इनमें न काव्यात्मकता आएगी और न हि संगीतात्मकता। जब शब्द व स्वर एक नियिमत क्रम में निबद्ध हो जाते हैं तो ह्रदय पर उनका एक आनंददायक प्रभाव पड़ता है। लय से आनंद की अनुभूति तथा अभिव्यिक्त दोनों होतीं हैं।

dk0; rFkk xku

काव्य और संगीत की पारस्परिकता का विचार करते समय ये वास्तविकता ध्यान में रखनी होगी कि कविता की प्रभावोत्पादकता उसके गान में ही है और संगीत भी काव्य'युक्त होकर ही अपना पूर्ण प्रभाव डाल सकता है। काव्य का आरंभ ही गान के लिए हुआ। जो गाया गया वह काव्य ही है। वैदिक युग के ऋचा–गान में काव्य और संगीत का सुंदर योग दिखाई देता है। महर्षि वाल्मीकि को यदि आदि कवि और उनके रामायण को आदि काव्य माना जाए तो यह बात स्पष्ट हो जाती है कि रामायण की रचना कर महाकवि ने लव–कुश को रामायण–गान की ही शिक्षा दी। यहां यह भी दृष्टि विगत नहीं किया जा सकता कि जहां रामायण की काव्य–रचना वाल्मीकि द्वारा हुई वहां उसकी संगीत–रचना भी उन्हीं द्वारा हुई। संगीत–रचना के लिए वे किसी संगीताचार्य के पास नहीं गए थे, न हि ऐसा कहीं उल्लेख है। लव–कुश को दी गई रामायण–गान की शिक्षा का मात्र उद्देश्य, रामायण काव्य का प्रचार–प्रसार करना था ताकि उसकी शिक्षाएँ एवं संदेश जन–जन तक पहुंच सकें। इस कार्य के लिए गान के अतिरिक्त कोई सुंदर व आकर्षक माध्यम हो ही नहीं सकता। इस प्रकार, प्रारम्भ से ही काव्य और संगीत साथ–साथ हाथ पकड़ कर चले हैं। यही परम्परा यत्किंचित परिवर्तन के साथ आज तक चली आ रही है।

dk0; vkj lxhr dk lkgp;l e nkuk dh lkFkdrk dk nf"Vdk.k

यहाँ ऐतिहासिक दृष्टि से यह देखना समाचीन होगा कि जब तक काव्य और संगीत का यह साहचर्य बना रहा तब तक दोनों ही फूले, फले और समाज के भूषण बने रहे तथा जहां इन दोनों में दूरी बढ़ी, वहां दोनों का ही रूप विकृत हुआ। मुगलकाल के उत्तरार्ध में यही स्थिति बनती जा रही थी। दरबारी वातावरण में काव्य और संगीत साधकों के सामने अपने आश्रयदाता को प्रसन्न करना मात्र लक्ष्य था। ऐसा करना उस समय के प्रतिकूल वातावरण में कवि और संगीतज्ञ को अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए अनिवार्य हो गया। उस समय के कवि ने जहां नायिका–भेद–वर्गीकरण में नारी के नख–शिख वर्णन को ही प्रमुखता दी, वहां संगीतकार ने शब्दों की भावव्यंजक शक्ति को दृष्टिविगत कर आलाप–तान–सरगम आदि संगीत के व्याकरण तत्वों से संगीत को बोझिल बना डाला। इस प्रकार, काव्य और संगीत दोनों ही केवल कुछ सामंती वर्ग के लोगों के सस्ते मनोरंजन का साधन बनकर रह गए। जन–सामान्य से उनका लगभग संबंध–विच्छेद–सा हो गया । इसके बाद संगीत का जो पतन हुआ उसकी चरम सीमा अंग्रेजों तक के समय में दिखाई दी, जब समाज के सुसंस्कृत कहे और समझे जाने वाले वर्ग ने संगीत–जैसी

पवित्र कला को असामाजिक वस्तु कहकर तिरस्कृत किया। संगीत को अधोगति से उबारने वाले, वतर्मान में संगीतोद्धारक कहे जाने वाले पंडित विष्णु दिगम्बर पलुस्कर ने इस परिस्थिति को देखकर यह निष्कर्ष निकाला कि संगीतकार के पास अच्छी संगीत–रचनाएँ होने पर भी काव्य के रूप में अश्लील और असंगत शब्दावली के अतिरिक्त और कुछ नहीं है और यही उसकी अधोगति का कारण है। उन्होंने तत्कालीन संगीत–रचनाओं में गाई जाने वाली अनुपयुक्त शब्दावली के स्थान पर तुलसी, सूर, मीरा, नानक आदि भक्तों के भक्ति पदों को संगीत रचनाओं में निबद्ध किया। जनसामान्य ने इसे पसंद किया और आदर दिया। जीवन के अंतिम दिनों में तो पंडित विष्णु दिगम्बर पलुस्कर अन्य सभी प्रकार के गानों को छोड़ कर केवल तुलसी के रामचिरतमानस का ही गान करने लगे थे।

Hkäk d: ink dh ykfdç;rk dk dkj.k

यह तथ्य भी उल्लेखनीय है कि तुलसी, सूर, मीरा आदि भक्ति–संगीत काव्यकारों के युग में ही तानसेन–जैसे महान संगीतकार भी थे जिन्हें 'संगीत सम्राट' कहा गया। तानसेन द्वारा रचित ध्रुपद (गीत) आज भी उपलब्ध हैं किन्तु वे जनमानस से दूर केवल कुछ संगीतकारों के लिए ऐतिहासिक महत्व की चीज बनकर रह गए। इसका कारण उनमें संगीत तत्व की अपेक्षा काव्य तत्व का कम होना था। परिणामस्वरुप किंवदंतियों के अतिरिक्त तानसेन के विषय में प्रमुखतया उनके कृतित्व के विषय में आज हमें बहुत कम ज्ञान है, और तुलसी, सूर, मीरा के गीत आज शताब्दियों बाद भी लोकप्रिय व प्रचिलत हैं, तो उसका कारण उनमें काव्य और संगीत के तत्वों का यथोचित मधुर मिलन ही है। ''सूर सूर तुलसी ससी'' वाक्य जितना उनके समय में साथर्क था, उतना ही आज भी है क्योंकि उनकी रचनाओं में काव्य और संगीत के तत्व ''गिरा अरथ जल बीचि सम'' घुले–मिले हैं।

पूर्ववर्णित विवेचना के उपरान्त निष्कर्षस्वरूप में यह कहा जा सकता है कि काव्य की प्रभावोत्पादकता उसके गान में है, संगीत भी काव्ययुक्त होकर अपने विशिष्ट रूप में प्रभावी होता है। प्राचीन काल से ही काव्य व गान में अभिन्नता रही है। भक्ति–पदों की लोकप्रियता का कारण, उनमें काव्य और संगीत तत्वों का यथोचित मिलन ही है।

Hkkjrh; laxhr esa cafn'k dk egRo

Mk- lqjUnz ukFk lkjLu*

lkjka'k

हिन्दुस्तानी रागदारी संगीत में बंदिश की संकल्पना का प्राचीन काल से लेकर आधुनिक काल तक विविध स्वरूपों में परिपोषण किया गया है। प्राचीन काल में राग तथा ताल में बद्ध पद–रचनाओं को सामान्य रूप से 'गीत' कहा गया, जिसे वर्तमान में 'बंदिश' कहा जाता है। बंदिश भारतीय शास्त्रीय संगीत का एक आवश्यक अंग है और केवल बंदिश के ही माध्यम से हिन्दुस्तानी संगीत की समृद्धशाली परम्परा को आगे पीढ़ी–दर–पीढ़ी तक सुरक्षित रखा जा सकता है। संगीत में अनेक प्रकार के परिवर्तन हुए हैं, राग–ताल के स्वरूपों में बदलाव आये हैं, जिनका प्रत्यक्ष प्रभाव बंदिशों पर पड़ता रहा है। पहले और अब के कलाकारों की सांगीतिक कल्पना और सौन्दर्य, उनके राग–ताल के प्रति ज्ञान को बंदिश के द्वारा ही जाना जा सकता है। वह सांगीतिक रचना जो शब्द और ताल से बंधी हो, बंदिश कहलाती है अर्थात् बंदिश शब्द का वह ढाँचा या फेमवर्क है जिसमें कलाकार की कल्पना का डिजाइन रहता है और स्वर–ताल–पद का समन्वय। इस अर्थ में प्राचीन प्रबन्ध की तुलना बंदिश के शाब्दिक अर्थ से ही जाना जा सकता है। प्रबन्ध का भी अर्थ है, 'अच्छी तरह बंधा हुआ', किन्तु प्रबंध में कलाकार को उतनी स्वतंत्रता नहीं थी जितनी कि आज राग की बंदिशों में है। बंदिश के द्वारा ही संगीत की एकता, स्थिरता और लय का ज्ञान होता है, कलाकार की कल्पनात्मक अभिव्यक्ति बंदिश में छिपे सौन्दर्य से ही उजागर होती है।

lwpd 'kCn % *प्रबन्ध, ऋचा, ध्रुवा, आक्षिप्तिका, गीति, वस्तु, रूपक।*

हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत का आरम्भ वैदिक काल से ही चलता आ रहा है लेकिन जैसे–जैसे समय बीतता गया, कलाकारों ने अपनी कल्पना के अनुसार अपनी गायन शैलियों में परिवर्तन किया। संगीत एक रचनात्मक कला है, जिसकी कालान्तर के द्वारा रचना की जाती है। प्राचीन काल में बहुत शैलियाँ प्रचलित थीं लेकिन समयानुसार ध्रुपद, धमार व ख्याल का प्रचार अधिक लोकप्रिय हो गया और प्रमुख शैलियों के रूप में प्रचलित हो गईं।

भारतीय संगीत में किसी भी प्रकार की शैली की प्रस्तुत के लिए, उसे प्रदर्शित करने के लिए एक आधार की आवश्यकता पड़ती है। कलाकार को अपनी 'कला' को प्रस्तुत करने के लिए 'राग' तथा 'बंदिश' का आश्रय लेना ही पड़ता है। 'रागदारी' संगीत के क्षेत्र में आधारभूत बंदिश की संकल्पना इसी महत्वपूर्ण विषय पर केन्द्रित है। निबद्ध संगीत के अन्तर्गत 'बंदिश' की धारणा कई शताब्दियों से प्रचार में रही है। हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत में जो प्रस्तुत होता है वह राग है और राग, गायन में, 'बंदिश' द्वारा प्रस्तुत किया जाता है।[1]

हिन्दुस्तानी संगीत में बंदिश का अपना एक अलग स्थान और विशिष्ट भूमिका है तथा बंदिशें वह दर्पण हैं जिसमें राग के स्वरूप और चलन को स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है।[2] हर घराने में भी 'बंदिश' को मुख्य स्थान प्राप्त है। 'बंदिश' मूलतः फारसी भाषा का शब्द है। बंदिश का अर्थ है 'बाँधना'। ताल के प्रथम बिन्दु से लेकर आवर्तन के अन्तिम बिन्दु तक जो रचना स्वर, पद के साथ धनुषाकार रूप में बांधी जाए अर्थात् जिसमें कोई ढिलाई न हो बल्कि कसाव हो, वह बंदिश कहलाएगी। बंदिश में एक निश्चित ताल में राग के स्वर व पद रचना को बांधा जाता है। पद में सार्थक व निरर्थक शब्द रचना हो सकती है। इसमें राग का सम्पूर्ण रूप समाविष्ट रहता है। विभिन्न शब्दकोशों में बंदिश के अर्थ को निम्न प्रकार से समझा गया है।

(क) 'भारतीय संगीत कोश' के अनुसार – 'बंदिश स्वर, ताल एवं शब्दों का बंधन है।'

(ख) हिन्दी साहित्य कोश – व्यवस्था, आयोजन, संबद्ध गद्य, वाक्य रचना, प्रकृष्ट बंधन।

*एसोसिएट प्रोफेसर, संगीत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय

(ग) मानक हिन्दी कोष– इसके अन्तर्गत बांधने की क्रिया या भाव, कविता के चरणों, वाक्यों आदि में आने वाली शब्द–योजना रचना–प्रबंध जैसे गीत अथवा भजन गजल की बंदिश कोई महत्वपूर्ण काम करने से पहले किया जाने वाला आयोजन या आरम्भिक व्यवस्था।

राग में प्रयोग किये जाने वाली स्वर–संगतियों एवं काव्य के शब्दों को उपयुक्त ताल में बांधने से बंदिश बनती है। विभिन्न संगीत–विद्वज्जनों ने समय–समय पर 'बंदिश' को परिभाषित करने का प्रयास किया है। कुछ प्रमुख कथन इस प्रकार हैं–

प्रो. सुमति मुटाटकर के शब्दों में बंदिश एक बर्तन है, पात्र है, जिसमें हम संगीत भरते हैं।[3]

प्रो. रमणलाल मेहता– बंदिश राग की विशेष आकृति है।[4]

आचार्य बृहस्पति के अनुसार– 'बंदिश के लिए पुराना शब्द' प्रबन्ध है। बंदिश की उपमा आदि एक शिशु से दें तो बंदिश का वाक पक्ष (भाषा) उस शिशु की हड्डियाँ और गेय पक्ष 'मासं' इसलिए 'सामविधान ब्राह्मण' में 'ऋचा' को साम की हड्डी और गेय पक्ष मांस।[5]

पं रामाश्रय झा के शब्दों में संगीत को पूर्णत्व प्रदान करने के लिए संगीत की रचनाएं एक आवश्यक सामग्री ही नहीं, वरन् संगीत रूपी शरीर में रचनाएं प्राणवायु के सदृश्य हैं।[6]

प्रो. देवव्रत चौधरी के अनुसार 'बंदिश में एक बन्धन का अर्थ समाया हुआ है' जैसे सामाजिक और सांसारिक बन्धन है। यह लय–ताल के दायरे और राग–नियमों में बंधी रहती है।[7]

बंदिश का लक्ष्य राग को निश्चित आकृति प्रदान कर स्वर–रचना में निवृत्त भाव को उचित दिशा प्रदान करना है। बंदिश राग–प्रस्तुतिकरण हेतु सर्वाधिक उपयुक्त माध्यम है। इस प्रकार राग–ताल में बद्ध, स्वर–सौन्दर्य से परिपूर्ण बंदिश राग के सच्चे स्वरूप का मुखर प्रदर्शन करती है। श्रोताओं को आह्लादित कर उन्हें रसमग्न कर देती है। यही बंदिश की सर्वप्रमुख विशेषता है। ऐसी ही बंदिशों ने राग के प्रस्तुतिकरण को बड़ा व्यापक आधार प्रदान किया है। यदि राग की बहुआयामी प्रस्तुति करनी हो तो अनेक बंदिशों का संग्रह कलाकार के पास होना चाहिए, क्योंकि इनकी सहायता से राग–प्रस्तुति में विशिष्ट एवं प्रमुख रागवाची स्वर–संगतियों का बहुत उपयोग हो सकता है। इन स्वर–संगतियों को बंदिशों के माध्यम से सरल बनाया जा सकता है। गायक द्वारा बार–बार इनके प्रयोग से राग की प्रभावपूर्ण एवं सशक्त अभिव्यक्ति सम्भव हो जाती है। इसी को हम रागाभिव्यक्ति कहते हैं। हर एक बंदिश उस–उस विशिष्ट राग के विषय में कुछ–न–कुछ नया बताती है।[8]

भारतीय संगीत रागाश्रित है। रागों के प्रस्तुतिकरण का एक प्रमुख एवं सशक्त माध्यम बंदिश है जिसे निबद्धगान की श्रेणी में रखा जाता है। निबद्ध का प्राचीन स्वरूप प्रबन्ध द्वारा साकार होता था। इस प्रकार द्रष्टव्य है कि प्रबन्ध, निबद्ध और बन्दिश इन तीनों के द्वारा 'बँधने' की क्रिया का भाव प्रकट होता है। बंदिश स्वर, ताल और पद में बंधी हुई ऐसी गीत–रचना है जो किसी विशेष राग पर आधारित होता है। इसी प्रकार वाद्य–संगीत में 'गत' भी एक प्रकार की बंदिश होती है जो स्वर, ताल और बोलों में बंधी रहती है। समय के साथ–साथ निबद्ध गान के रूपों में परिवर्तन आया और उनमें कुछ विलुप्त भी हो गए। कुछ नये रूपों का सृजन भी हुआ परन्तु इस ऐतिहासिक क्रम में विशेष बात यह रही कि, सभी गीत प्रकार या बंदिशें अपने पूर्व–रूप से भी थोड़ा–बहुत जुड़ी रहीं और एक श्रृंखला के रूप में आगे विकसित होती गईं। विकास के इसी क्रम में बंदिशों के विभिन्न प्रकारों का उद्भव होता चला गया। गीत प्रकार के इन विभिन्न रूपों का भण्डार, यथा भक्तियाँ, ध्रुवा, आक्षिप्तिका, गीति, प्रबन्ध, ध्रपद, धमार, ख्याल आदि हमारी रागदारी सांगीतिक परम्परा का सर्वाधिक मूल्यवान कोष है। राग की अमूर्तता को मूर्त रूप प्रदान करने की अद्वितीय क्षमता बंदिशों में विशेषतः पारम्परिक बंदिशों में मिलती है।[9]

हिन्दुस्तानी संगीत–कला पारम्परिक बंदिशों की सहायता से ही जीवित रह पाई हैं। अच्छी बंदिशों के निर्माण हेतु ही पारम्परिक बंदिशों के ज्ञान की आवश्यकता होती है। संगीत की पारम्परिक कला हमें गेय पद के रूप में हस्तांतरित हुई है।[10] अर्थात् सांगीतिक बंदिशें अपने प्रारम्भिक रूपों ऋग्वेद, सामवेद (देव–स्तुति हेतु निर्मित स्त्रोत, भक्ति) से विकसित होते हुए प्रबन्ध, वस्तु, रूपक के रूप में सामने आई जो, वर्तमान समय में ध्रुपद, धमार, ख्याल, टप्पा, ठुमरी आदि अनेक बंदिशीय रूपों के द्वारा

हिन्दुस्तानी रागदारी संगीत में प्रचलित हुईं। ये गेय पद (बंदिश) संगीत के आधार स्तम्भ हैं। संगीतज्ञों की भाषा में इन गीतों को 'अस्थाई' या 'चीज' भी कहते हैं। एक राग में अनेक बंदिशें प्राप्त होती हैं जिनके द्वारा हम राग के विभिन्न रूपों (जाति, ग्रामराग, राग) के विकास का क्रम जान सकते हैं। संगीत–विद्वज्जनों के लिए यह पारम्परिक बंदिशें जानकारी का एक बहुत बड़ा स्रोत सिद्ध हुई है। 'ग्वालियर' घराने के विशिष्ट प्रतिनिधि पं. लक्ष्मण कृष्णराव पण्डित के अनुसार– बंदिश राग का परिधान है। अगर बिना परिधान के राग को प्रस्तुत किया जाएगा तो वह महत्वहीन हो जाएगा। अतः राग का प्रदर्शन असम्भव हो जाएगा। और जहाँ तक बंदिश की महत्ता का प्रश्न है बंदिशों में राग छिपे होते हैं। एक राग में जितनी बंदिशें सीखी जाएंगी उतने ही प्रकार के राग को प्रस्तुत करने का तरीका मालूम होगा और उसके मुख्य घटक, स्थल तथा अवयवों की जानकारी प्राप्त हो सकेगी।[11] राग को विकास की दिशा में अग्रसर करते हुए राग को विस्तारित करना, उन्हें गेयात्मक रूप प्रदान करना एवं रंजक बनाना ही 'बंदिश' का कार्य है। बंदिश राग की एक विशिष्ट आकृति है। एक राग की कई शक्लें या रूप दिखाने के लिए एक अच्छा तरीका है। तदुपरांत हर बन्दिश का एक मिजाज़ रहता है जो साहित्य का नव–रसों या संचारी, व्यभिचारी भावों की परिभाषा से समझाया नहीं जा सकता। इस मिजाज़ को समझकर जब बंदिश पेश की जाती है तब इसकी आकृति का सौन्दर्य खिल उठता है।[12] बंदिश के द्वारा राग की एक निश्चित रूप–रेखा प्राप्त हो जाती है, जिसका कलाकार द्वारा विस्तार किया जाता है। इस सम्पूर्ण विकास प्रक्रिया का आधारभूत तत्व बंदिश' होती है। बंदिश किसी भी राग के शास्त्रीय ज्ञान का महत्वपूर्ण माध्यम रही है। परम्परागत रागों में निबद्ध बहुत–सी परम्परागत रचनाएं मिलती हैं। यह परम्परागत बंदिशें हिन्दुस्तानी संगीत के विभिन्न घरानों के द्वारा संरक्षित हैं। यह पारम्परिक एवं प्रामाणिक बंदिशें आधुनिक रचनाकारों के लिए एक महत्वपूर्ण प्रेरणास्रोत व मार्गदर्शक का कार्य करती हैं।

हिन्दुस्तानी रागदारी संगीत में 'बंदिश' गायन का एक महत्वपूर्ण कारण यह भी है कि, राग का विस्तार बंदिश द्वारा निर्धारित दायरे के अन्दर किया जाए। हमारे राग संगीत के सागर की विशालता एवं गहनता का संकेत बंदिश की विविध प्रचलित प्रकारों की उपलब्धता से मिलता है। मध्ययुग में गायक कालाकर बंदिश के शब्दों के आधार पर राग की धुन को याद रखते थे और इन्हीं याद की गई बंदिशों के द्वारा अपनी गायकी को पुष्पित–पल्लवित करते थे। उन्हें बंदिश की सरगम को नहीं सिखाया जाता था। अतः गेय पक्ष को याद रखने का एक–मात्र साधन उनके लिए बंदिश के शब्द होते थे।

राग को स्वरूप प्रदान करने में बंदिशों की महत्वपूर्ण भूमिका को तब और अधिक स्पष्ट किया जा सकता है जब कलाकार कठिन या अल्पप्रचलित रागों का प्रस्तुतिकरण करता है। वह राग–रूप को बिगड़ने से बचाने हेतु बंदिश द्वारा प्रस्तुत राग के मुख्य स्वर–समुदाय के आस–पास घूमते हुए गाता है। अतः बंदिश शास्त्रीय संगीत के प्रस्तुतिकरण का मुख्य आधार स्थल या मेरु रज्जु है। संगीत शिक्षा प्रदान करते समय गुरूजन भी शिष्यों को सर्वप्रथम राग की बंदिश अच्छी तरह से सिखाते हैं। तत्पश्चात् अन्य बारीकियों का ज्ञान कराया जाता है। एक राग की अनेक बंदिशों को याद रखने का मतलब है उस राग के विविध अंगों से पहचान हो जाना।[13]

बंदिश के माध्यम से राग की आकृति का श्रृंगार होता है और उसकी विशिष्ट स्वर–संगतियों की प्रभावशाली अभिव्यक्ति भी होता है। राग में प्रयुक्त स्वरों का ताना–बाना बंदिश के चारों ओर बुना जाता है, तत्पश्चात् बंदिश को केन्द्र में रखकर आलाप–तानों की संयोजना की जाती है। बंदिश स्वर, ताल, पद और लय में आबद्ध होने के कारण कलात्मकता की प्रवृत्ति को दर्शाती हैं। इसी कारण कलाकार सुमधुर आलाप–तानों व लय के चमत्कारों को दिखाते समय भी बंदिश की पंक्तियों को बीच–बीच में दिखाते रहते हैं जिससे राग का व्यक्तित्व व चलन स्पष्ट हो सके। वस्तुतः राग अपने आप में एक पूर्ण इकाई है, जिसे प्रस्तुत करने का एक सबल आधार बंदिश प्रदान करती है। बंदिश वह दर्पण है जिसमें राग के स्वरूप को साकार रूप में देखा जा सकता है। राग वह माध्यम है जिससे संगीत की रस–प्रस्रविणी अनूठी क्षमता का बोध होता है। लेकिन राग मूलतः अमूर्त है। इसके गहन बोध हेतु सहज मार्ग की आवश्यकता होने पर उसे बंदिश के माध्यम से मूर्त रूप प्रदान किया जाता है।[14]

शास्त्रीय संगीत में गायन के अंतर्गत ध्रुपद, धमार व विलम्बित और द्रुत ख्याल आदि की 'बंदिशों' द्वारा राग के रूपों को प्रदर्शित किया जाता है। प्रारम्भिक मध्यकाल

में 'प्रबंध' निबद्ध सांगीतिक रचनाएं थीं और 'आलप्ति' अनिबद्ध रचनाएँ थीं। प्रबंध का अर्थ है जो भली–भाँति बंधा हो। इसमें उद्ग्राह, मेलापक, ध्रुव तथा आभोग–4, धातुएं होती हैं। प्रबंध की इन धातुओं के समान हम आज की बंदिश के स्थायी, अंतरा, संचारी तथा आभोग को मान सकते हैं तथा स्वर, विरूद्, पद, तेनक, पाट एवं ताल इन छः अंगों का बंधन होता है। स्वर के अंतर्गत राग विशेष के स्वर, विरुद में गुणसूचक शब्द, 'तेनक' में मंगलसूचक शब्द और पद में इनके अतिरिक्त शब्द आते हैं। अतः स्वर के अतिरिक्त ये तीन अंग मुख्यतः पद के रूप में ही ग्रहण हो सकते हैं। 'पाट' के अंतर्गत मृदंग के बोल आते हैं व 'ताल' के अंतर्गत वह ताल विशेष जिसमें प्रबंध को सुबद्ध किया गया हो, वे आते हैं। इस प्रकार प्रबंध के अंगों में स्वर, ताल व पद की ही प्रधानता है, किन्तु विविध दृष्टि से अन्य अंगों का भी महत्वपूर्ण स्थान है। स्वर, ताल, पद ही आज की बंदिश के प्रमुख सृजन तत्व हैं। कालांतर में प्रबंध के स्थान पर 'बंदिश' नाम प्रयुक्त हुआ है, ऐसा माना जा सकता है।

विभिन्न गेय विधाओं ध्रुपद, धमार व ख्याल आदि में बंदिशों का अपना महत्व है। प्राचीन समय में ध्रुपद की बंदिशों में जहाँ चार भाग स्थायी, अंतरा, संचारी तथा आभोग होते हैं वहीं आधुनिक समय में अधिकतर दो ही भाग स्थायी व अंतरा प्रचार में हैं। ध्रुपद की बंदिशों में अधिकतर ईश्वरोपासना व राजा–महाराजाओं की प्रशंसा की जाती थी। धमार की बंदिशें राधा कृष्ण के होली–वर्णन, कृष्ण–लीलाएं आदि पर आधारित होती थीं।

बंदिश को सचमुच, सुन्दर व आकर्षक बनाने के लिए जो सामान्य सिद्धान्त निहित होते हैं, उनका विवेचन निम्न प्रकार है–

- गीत का व्यापक सौंदर्य गुण 'रंजक स्वर–सन्दर्भ से युक्त होना' बंदिश का भी प्रथम सिद्धान्त है।
- स्वर, ताल और पद का सुन्दर व औचित्यपूर्ण प्रयोग होना चाहिए।
- राग के शास्त्रीय नियम बंदिश में मुखरित होना चाहिए। राग की विशिष्ट चलन, राग की बाकी स्वर की प्रधानता, अल्पत्व–बहुत्व विशिष्ट स्वर–संगतियों का प्रयोग आदि तत्त्व बंदिश में भी स्पष्ट होनी चाहिए।
- बंदिश के लिए बोलों का चयन राग के गायन–समय के अनुसार करना चाहिए, चिड़ियाँ करत गान, जागा नया सूर्य आदि शब्द प्रातःकालीन संधि प्रकाश रागों के लिए उचित हैं। इसी प्रकार, ऋतुकालीन रागों में बंदिश के शब्द उस ऋतु विशिष्ट के वर्णन से युक्त हों, तो उचित होगा।
- बंदिश के स्वरों का अन्तः चलन व स्वर–श्रृंगार भी राग की प्रकृति के अनुरूप होनी चाहिए, जैसे–गम्भीर प्रकृति के रागों में मींड, गमक का प्रयोग तथा खट्के, मुर्की का अल्पत्व अथवा निषेध।
- बंदिश के विशिष्ट गायन–शैली (ध्रुपद, धमार, ठुमरी आदि) तथा शैली की गति (विलबित, मध्यलय अथवा द्रुत) के अनुरूप ही शब्दों का चुनाव करना चाहिए।
- बंदिश के राग और काव्य में भावात्मक एकरूपता होनी चाहिए। राग की प्रकृति के अनुसार ही बोलों की रचना या चयन करना चाहिए, जैसे राग 'भैरव' में 'बिन हरि कौन' शब्द राग के प्रकृत के अनुरूप है।
- बंदिश के पद की प्रथम पंक्ति यथासम्भव ताल के एक आवर्तन में ही पूर्ण हो जानी चाहिए।
- बंदिश के पद की प्रथम पंक्ति में गीत के भाव का सार निहित होना चाहिए, क्योंकि राग–विस्तार के प्रथम पंक्ति की पुनरावृत्ति होती है।
- बंदिश के लिए ताल का चयन भी विशिष्ट गीत–विधा के अनुरूप करना चाहिए।
- बंदिश का सम यदि राग के वादी स्वर पर स्थापित हो, तो वह हर दृष्टि से उचित होगा और सुन्दर भी लगेगा।
- राग की प्रकृति 'बंदिश का गीत' काव्य का भाव और गायन–शैली में तादात्म्य होना चाहिए।[15]

'बंदिश' के प्रकारों में विविधता के संकेत हमें प्राचीनकाल से ही मिलते हैं। प्रबन्ध के भेदों पर विचार करें तो हम पाएंगे कि प्रत्येक प्रबन्ध की अपनी–अपनी विशिष्टता व सौन्दर्य है। अभिप्राय यह है कि राग सौन्दर्य की नवीनता व विविधता प्रदान करने के लिए विविध प्रकार की बंदिशों का विधान किया गया है। बंदिश प्रकारों की अपनी विशिष्टता के कारण इनके विशिष्ट सिद्धान्त भी हैं जो इनको एक विशिष्ट सौन्दर्य से सम्पन्न बनाता है।

हमारा हिन्दुस्तानी संगीत गायन के क्षेत्र में प्रचलित कुछ प्रमुख बंदिशों के प्रकार– ध्रुपद, धमार, ख्याल, तराना, त्रिवट, राग–सागर, स्वर–सागर, टप्पा, ठुमरी एवं दादरा आदि गायन–शैलियों में निहित है।

बंदिश राग के परम्परागत स्वरूप को स्थापित प्रदान करती है, वरन् कुछ बंदिशों में तो राग का स्वरूप अपने शुद्धतम रूप में व्यक्त होता है। अतः बंदिश का परम लक्ष्य राग के सुव्यवस्थित, आकर्षक व रंजक स्वरूप को साकार रूप में प्रस्तुत करना है। राग बंदिश के द्वारा ही श्रोताओं को अपने आकर्षण से सम्मोहित करता है। साथ ही, बंदिश कलाकार को उसके कला–कौशल को प्रदर्शित करने हेतु सबल आधार भी प्रदान करती है। अतः सांगीतिक रचनाएँ बंदिश राग–रूपी शरीर को जीवित रखने के लिए प्राण–तत्व के समान ही हैं।

सन्दर्भ सूची :

1. पाठक, डॉ. सुनन्दा, हिन्दुस्तानी संगीत में राग की उत्पत्ति एवं विकास, पृ.19
2. डॉ. धर्मपाल, किराना घराने की गायकी एवं बंदिशों का मूल्यांकन, पृ. 148
3. वागेश्वरी, शोध पत्रिका, जुलाई–दिसंबर, 1986, पृ. 38
4. मेहता, प्रो. रमणलाल, आगरा घराना : परम्परा, गायकी और चीजें, पृ. 42
5. बृहस्पति, आचार्य, संगीत चिंतामणि, पृ. 411
6. छायानट, पत्रिका, उ.प्र. संगीत नाटक अकादमी, अंक–41, पृ.17
7. पंत, डॉ. शिप्रा, राग शास्त्र में पारंपरिक बंदिशों की भूमिका, पृ. 20
8. 'मुक्त संगीत सम्वाद', गानवर्धन संस्था, पुणे, पृ. 40–41
9. पंत, डॉ. शिप्रा, राग शास्त्र में पारंपरिक बंदिशों की भूमिका, पृ. 23
10. त्यागी, प्रो. मन्जुश्री, सिगिनफिकेंस ऑफ कम्पोजीशनल फॉर्म्स इन हिन्दुस्तानी क्लासिकल म्यूजिक, पृ. 38
11. पंत, डॉ. शिप्रा, राग–शास्त्र में पारंपरिक बंदिशें की भूमिका, पृ. 24
12. मेहता, श्री रमणलाल, आगरा घराना : परम्परा, गायकी और चिजें, पृ. 43
13. मुक्त संगीत सम्वाद, गानवर्धन संस्था, पुणे, पृ. 42
14. चौधरी, सुभाष रानी, संगीत के प्रमुख शास्त्रीय सिद्धान्त, पृ. 26
15. डॉ. धर्मपाल, किराना घराने की गायकी एवं बंदिशों का मूल्यांकन, पृ. 150

jkx&foLrkj esa vyadkjksa dk iz;kstu

MkW- jktiky flag*

lkjka'k

हिन्दुस्तानी शास्त्रीय गायन के संदर्भ में अलंकारों के महत्व पर विचार करने से हमें ज्ञात होता है कि प्राचीन ग्रंथ 'नाट्यशास्त्र' से आधुनिक समय तक के सभी ग्रंथों में अलंकार को सम्मानजनक स्थान प्राप्त है जो इस बात की पुष्टि करता है कि अलंकार की महत्ता आज भी ज्यों–की–त्यों विद्यमान है। प्राचीन समय में भी भले ही इन अलंकारों की संज्ञा व्यवहारिक रूप में विद्यमान नहीं थी परंतु 'क्रुष्ट' नामक स्वर सम्भवतः 'प्रथम' स्वर में कण अथवा गमक के रूप में संश्लिष्ट था।[1] इस प्रकार सप्त स्वरों के विकास से ही अलंकारों के प्रयोग का हमें संकेत मिलता है। भरतमुनि ने 'नाट्यशास्त्र' में हर क्षेत्र– काव्य, पाठ्य, आभूषण, नाट्य एवं संगीत आदि में अलंकारों का विस्तृत एवं प्रभावशाली वर्णन किया है जो हमारा इस तरफ ध्यान आकृष्ट करता है कि अलंकार, संगीत के साथ–साथ अन्य सभी क्षेत्रों में भी अपना वर्चस्व रखते हैं। जहाँ तक अलंकारों की शिक्षा की बात है तो वह भी प्राचीन समय में उतनी ही महत्वपूर्ण थी, जितनी आज है। गुरू वर्षों तक शिष्य को अपनी छत्र छाया में अलंकारों का अभ्यास करवाया करते थे। यह अभ्यास अत्यंत कठिन व कठोर होता था किंतु इस कठोरता का परिणाम कुछ वर्षों में सामने आकर सभी को हर्षित करता था तथा शिक्षण की सार्थकता नज़र आने लगती थी।

eq[; 'kCn % *अलंकार, राग, संगीत, साधना, आलाप, तान।*

izfof/k % *ग्रन्थोद्धृत एवं व्यावहारिक दृष्टि से संकलित ।*

प्रस्तुत शीर्षक के अनुसार शास्त्रीय संगीत में अलंकारों के महत्व से कोई भी व्यक्ति अनभिज्ञ नहीं है। जिस प्रकार अलंकार अपने साधारण अर्थ में सुंदरता को लिये हुये है उसी प्रकार संगीत में अलंकार सुंदरता का पर्यायवाची है। अलंकार सुंदरता का पर्यायवाची है। साधारण अर्थ में आभूषण या सजावट करने वाली वस्तु। जिसके प्रयोग से किसी की सुंदरता में चार चाँद लगाए जा सकते हैं, उसी को हम अलंकार कह सकते हैं। संगीत में सौंदर्यवर्धक तत्व को अलंकार की संज्ञा दी गई है। अलंकार शब्द संगीत में अपना विशेष महत्व रखता है। चूंकि संगीत एक ललित कला है जिसका सीधा संबंध सौंदर्य से उत्पन्न कलाकृतियों से है और किसी कलाकृति को अलंकृत करने के लिए वांछित विशेष तत्वों की आवश्यकता रहती है जिन्हें 'अलंकार' कहते हैं। संगीत में अलंकार का अर्थ मात्र एक सौंदर्यवर्धक तत्व ही नहीं अपितु विशेष साधना तत्व से भी लिया गया है।

हम देखते हैं कि संगीत में अलंकारों का प्रयोग राग–प्रस्तुतिकरण में सौंदर्य बढ़ाने के लिए इसकी कठिन साधना के उपरांत ही किया जा सकता है। स्वरों को नवीन क्रम देकर इसकी रचना होती है, अर्थात् सात स्वरों के क्रम में हेर–फेर कर अलंकारों की उत्पत्ति होती है। सीधे स्वरों के साधारण क्रम की साधना के पश्चात् स्वरों के अलंकृत क्रम की साधना होती हैं जिससे स्वरों का शुद्ध रूप गले में उतर सके एवं कंठ में कठिन व जटिल स्वरावलियों को आसानी से उत्पन्न करने की क्षमता पैदा हो सके। अलंकार जहाँ एक ओर किसी व्यक्ति विशेष के कंठ को तैयार करते हैं वहीं दूसरी ओर उसकी कल्पनाशक्ति में भी बढ़ोतरी करते हैं। स्वर–साधना के पश्चात् कंठ–साधना में अलंकारों का अभ्यास सभी घरानों के गुणीजनों द्वारा स्वीकृत है। राग–विस्तार में अलंकारों के प्रयोजन के विषय में चर्चा करने से पहले अलंकार के विषय में चर्चा अनिवार्य है।

जब से सृष्टि की रचना हुई है उसी समय से सुन्दरता का भी उदय हुआ है। मनुष्य की सदियों से कुछ अच्छा और सुनियोजित करने की चाह ही उसे विकास की सीढ़ियों पर अग्रसर कर रही है। अलंकार का साधारण अर्थ आभूषण या सजावट देने वाली वस्तु है जो किसी बाह्य वस्तु की सुन्दरता को बढ़ाने में अपना विशेष योगदान

*सह–प्राध्यापक, संगीत एवं ललित कला संकाय, दिल्ली विश्वविद्यालय

रखती है। यदि हम अलंकार शब्द के अर्थ को विस्तृत रूप से देखें तो अलंकार शब्द का क्षेत्र अत्यंत विशाल है। यदि हम सम्पूर्ण सृष्टि की सुन्दरता को अलंकार शब्द में निहित मानें तो अतिश्योक्ति न होगी।

किसी शब्द के अर्थ को जान लेना उस पर किये जाने वाले गहन चिंतन की प्रथम सीढ़ी है क्योंकि शब्द के अर्थ में उस वस्तु की सारगर्भिता, सार्थकता और औचित्य छिपा रहता है।

vyadkj dk 'kkfCnd vFkZ o vo/kkj.kk&

अलंकार का शाब्दिक अर्थ है–आभूषण, गहना अर्थात् किसी वस्तु या व्यक्ति को सुन्दर बनाने वाले तत्व। विभिन्न शब्दकोशों में अलंकार के भिन्न–भिन्न अर्थ मिलते हैं।

laLd`r&fgUnh dks'k&vyadkj % अलम् + कृ + धञ् शब्द है जिसका अर्थ है सजावट, अलंकृत करने की क्रिया, आभूषण काव्य के गुण–दोष बताने वाला शास्त्र।[2]

ukyUnk fo'kky 'kCn lkxj के अनुसार आभूषण, गहना, ज़ेवर। अर्थ तथा शब्द की वह युक्ति जिससे काव्य की शोभा बढ़े।[3]

हिंदी शब्द–सागर में अलंकार का अर्थ आभूषण, गहना व ज़ेवर है। अर्थ और शब्द की वह युक्ति जिससे काव्य की शोभा बढ़े।[4]

विभिन्न शब्द–कोशों में अलंकार के विभिन्न अर्थ आभूषण, सजावट, काव्य के गुण–दोष बताने वाला शास्त्र इत्यादि है। अतः अलंकार शब्द से सजाने अथवा सुंदर बनाने की क्रिया का ही बोध होता है। उपरोक्त परिभाषाओं को देखने से स्पष्ट होता है कि अलंकार का सामान्य अर्थ सजावट से लिया जाता है। संगीत में भी सौंदर्यवर्धक तत्व को अलंकार की संज्ञा दी गई है।

इसके पश्चात् हम राग और राग–विस्तार की अवधारणा के विषय में चर्चा करेंगे–

राग को यदि साधारण अर्थ में देखा जाए तो यह रंजकता का द्योतक है। यह नियमों में बंधी एक ऐसी स्वर– रचना है जो भावाभिव्यक्ति की विशाल संभावनाएँ रखती है। राग एक कलात्मक एवं भावनात्मक स्वर–योजना है। प्राचीन ग्रंथकारों के समान ही आधुनिक समय में भी राग का प्रमुख रंजकत्व ही है। रंजकता के गुण से ही राग श्रोताओं के मन का रंजन कर सकता है। राग अपने विशेष अर्थ में एक–दूसरे से पृथक स्वर रचना है, जो अपना स्वतंत्र और सविशेष अस्तित्व रखता है। वहीं दूसरी ओर अपने साधारण अर्थ में राग के अंतर्गत अनेक बंदिशों और आलाप, तान आदि को समाविष्ट किया जा सकता है। 'राग' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग मतंगकृत 'बृहद्देशी' में मिलता है। मतंग ही एक ऐसे शास्त्रकार माने जाते हैं, जिन्होंने 'राग' शब्द को परिभाषित कर व्यवहारिकता प्रदान की है। मतंग मुनि द्वारा दी गई 'राग' की परिभाषा इस प्रकार है।

"योऽसौ ध्वनि विशेषस्तु स्वरवर्णविभूषितः
रञ्जको जनचित्तानां स च राग उदाहृतः।"[5]

अर्थात् ध्वनि की एक विशिष्ट रचना जो स्वर एवं वर्णों से विभूषित हो, उसे राग कहते हैं। अतः राग एक ऐसी शास्त्रीय रचना है जिसमें रंजकता के साथ–साथ नियमों का भी बंधन रहता है।

एक ही कलाकार द्वारा एक ही राग की प्रस्तुति, भिन्न अवसरों पर विविधता पूर्ण होती है। इस विविधता को उभारते हुए डॉ. प्रेमलता शर्मा का कथन है कि–

"इस प्रकार कलाकार के व्यक्तित्व–भेद से, अवसर–भेद से, शैली–भेद से एवं ऐसे ही अन्य कारणों से एक ही राग की प्रस्तुति में विभिन्नताएं आती हैं, उन सबको अपने क्षेत्र में समेटकर रखने की क्षमता राग में होती है।"[6]

jkx foLrkj dh vo/kkj.kk & राग–गायन के समय विभिन्न तथा नवीन रागवाचक स्वरावलियों का निर्माण करते हुये आगे बढ़ने को 'राग विस्तार' या 'राग बढ़त' कहते हैं। स्वरों को अलग–अलग दृष्टिकोण से देखना तथा उनके भिन्न–भिन्न स्वर–गुच्छ बनाना जिससे राग विशेष की शक्ल बने तथा वह सुन्दर लगे, यही राग विस्तार का लक्षण है। विस्तार जितना सुन्दर होगा राग का स्वरूप उतना ही निखरेगा। राग की आकृति कभी बनाई नहीं जाती है अपितु धीरे–धीरे स्वरों के विस्तार से इसका निर्माण होता है। राग विस्तार की सम्पूर्ण प्रक्रिया में मध्य षड्ज से तार षड्ज तक सुन्दरता से जाया जाता है तथा सभी श्रोता इस सफर में कलाकार के सहभागी होते हैं। एक कलाकार की योग्यता इसी बात से सहज निर्धारित की जाती है कि वह रागों में निहित सुन्दर परतों को कहाँ तक खोलने में कामयाब होता है। वर्णों का जाल फेंककर

कलाकार अपनी सृजनात्मकता से राग के स्वरूप में प्राण फूंक देता है। वर्ण, राग के विभिन्न पहलूओं को उजागर करने में सहायक सिद्ध होते हैं।

vkyki & राग में आलाप द्वारा राग विस्तार किया जाता है। यह विस्तार वर्णों एवं बंदिश या रचना के बोलों द्वारा किया जाता है। आलाप एक अनबिद्ध गायकी है इसमें लय का बंधन नहीं होता है। राग विस्तार में अपनी कंठमर्यादा के अनुसार आलाप किया जाता है। इसके पश्चात् धीरे–धीरे सरगम या बंदिश के बोलों का बराबर की लय में गायन कर राग का विस्तार किया जाता है। सम्पूर्ण विस्तार के बाद तानों की बारी आती है जिसके अंतर्गत स्वरों के भिन्न–भिन्न स्वरसमुदाय द्रुत लय में बनाये जाते हैं। तानों में स्वरों की कलात्मकता एवं जटिलता का भाव विद्यमान रहता है। इन तीनों ही स्थितियों में अलंकार की महत्त्वपूर्ण भूमिका रहती है।

rku & राग विस्तार में तान भी उतना ही महत्वपूर्ण है जितना कि आलाप। 'तान' शब्द का अर्थ तानना या विस्तार करना है। इसका लक्ष्य भी आलाप की तरह राग को बढ़ाना है परंतु इसका स्वभाव और स्वरूप आलाप से भिन्न है। जहाँ एक ओर आलाप का चलन विलम्बित है वहीं दूसरी ओर तान का चलन द्रुत लय में होता है। तान का क्षेत्र अत्यंत विशाल है। फिर भी प्राचीन संगीत विद्वानों ने गणित के आधार पर तानों की एक निश्चित संख्या निर्धारित की है जिसे 'खंडमेरू' सिद्धांत कहते है।

jkx foLrkj ds rRoksa esa vyadkjksa dh Hkwfedk

राग विस्तार के तत्वों में आलाप तथा तान महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। इसमें भावपक्ष तथा कलापक्ष दोनों निहित होते हैं। यदि भावपक्ष को हम आलाप तथा कलापक्ष को तान से जोड़ें तो अतिशयोक्ति न होगी क्योंकि भावपक्ष हृदय से जुड़ा है तथा कलापक्ष बुद्धि से जुड़ा है। इन दोनों का सम्मिलन ही राग विस्तार में विविधता लाता है जो अलंकार द्वारा ही कार्यान्वित होता है। आलाप में विविधता हेतु अलंकारों का प्रयोजन सर्वमान्य है। जब हम किसी राग में उसके स्वरों को अलग–अलग प्रकार से प्रयुक्त कर नवीन स्वरावलियों का निर्माण करते हैं तो वह अलंकार कहलाता है। जैसे राग यमन में नि रे ग मं इन चार स्वरों को अलंकारों की सहायता से नवीन स्वरावलियाँ प्राप्त की जा सकती हैं, जैसे–ऩि रे ग मं , रे ऩि ग मं, ऩि ग रे मं, ग नि रे मं रे ग ऩि मं, ग ऩि रे मं इत्यादि।

jkx ds pyu ds vuqlkj vyadkjksa dk xk;u & राग के चलन के अनुसार अलंकारों को प्रयुक्त करना भी एक कौशल है, जिसके लिये राग की बारीकियों के बारे में किसी पूर्ण गुरू का मार्ग–निर्देशन आवश्यक है क्योंकि राग की प्रकृति को जाने बिना अलंकार को राग गायन में प्रयुक्त करना निरर्थक है। राग गायन में अलंकारों का प्रयोग ज्यों–का–त्यों करने से राग का स्वरूप भंग होना नियत है। जैसे तीन स्वरों वाले अलंकार सा रे ग, रे ग म, ग म प को यमन में प्रस्तुत करते हुये यदि सा रे ग करते हुये चलेंगे तो यमन की प्रमुख स्वरावलि ऩि रे ग का महत्व क्या रह जाएगा? इसलिए इस अलंकार को राग यमन में निम्न रूप में प्रयुक्त करना पड़ेगा–

नि रे ग, रे ग मं, ग मं प, मं ध नि, ध नि सां

सां नि ध, नि ध प, ध प मं, प मं ग, मं ग रे, ग रे सा

उपरोक्त स्वरावलि को देखें तो हमें पता चलता है कि हमने तीन स्वर के इस अलंकार को राग यमन की प्रकृति के अनुसार इस प्रकार प्रयुक्त किया है कि इस अलंकार के नियमानुसार आरोह में रे ग मं, ग मं प, मं प ध के बाद प ध नि ये स्वर संगति राग के चलन को भंग करती है। इसीलिए हमने ग मं प के बाद अलंकार स्वरूप को कायम रखते हुये मं ध नि टुकड़ा प्रयुक्त किया है जिससे अलंकारों के उचित प्रयोग के साथ–साथ राग का स्वरूप भी बना रहे।

इसी प्रकार अन्य उदाहरण के अनुसार राग मुल्तानी में–

मं मं मं

आरोह – ऩि सा ऩि सा ग, सा ग सा ग मं, ग मं ग
मंध प, मं प मं प नि प नि प नि सां

अवरोह – सां नि सां नि ध, प मं प मं ग, मं ग मं
ग रे सा।

यह पाँच स्वर वाले मिश्रित अलंकार को राग मुल्तानी की प्रकृति और राग नियम के अनुसार बनाया है।

राग शुद्ध सारंग में नि़ सा रे म रे सा, रे मं प ध मं प, प नि सां रें नि सां यह स्वर–संगति अलंकार की प्रतीत होता है।

इसी प्रकार, सम्पूर्ण जाति के रागों के साथ–साथ औड़व तथा षाडव जाति के रागों में अलंकारों का प्रयोजन सार्थक सिद्ध हुआ है, यदि हर राग के चलन, स्वरूप व प्रकृति को ध्यान में रखते हुये किया गया हो।

जिस प्रकार अलंकार रागालाप को एक विशाल स्वरूप प्रदान करते हैं उसी प्रकार तान में भी अलंकार महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

पं. ओंकारनाथ ठाकुर, द्वारा रचित पुस्तक 'संगीतांजली' में वर्ण, अलंकार, तान और स्वर प्रस्तार इन चारों के संबंध में यह कहते हैं–

"वर्ण, अलंकार, तान और स्वर–प्रस्तार ये चारों संगीत के विस्तार तत्व से संबंधित हैं, सात स्वरों के आधार पर किस प्रकार संगीत की अपार सृष्टि का निर्माण होता है, यह समझने के लिए इन चारों का काफी महत्व है।"[7]

अलंकार और तान एक–दूसरे से संबंधित हैं। इन दोनों में अंतर सिर्फ इतना होता है कि अलंकार एक निश्चित क्रम में चलते हैं तथा तानों का विस्तार निश्चित होना आवश्यक नहीं है।

मतंगकृत 'बृहद्देशी' में स्वरों के प्रस्तार के माध्यम से 5040 तानों का वर्णन किया गया है। पहले प्रयोग की गई संख्या को बाद में प्रयोग की जाने वाली तान स्वर–संख्या से गुणा कर स्वर प्रस्तार–विधि का वर्णन किया है जैसे–1x2x3x4x5x6x7=5040 इसके पश्चात् गुणा करने की विधि भी बताई गई है– एक स्वर की तान को बाद की 2 स्वर संख्या से गुणा कर परिणाम दो आता है तथा दो को बाद की तान की स्वर संख्या तीन से गुणा कर परिणाम 2x3=6। इसका उदाहरण इस प्रकार है– सा रे ग यह तीन स्वर है इनके प्रस्तार इस प्रकार बनेंगे जैसे सा रे ग, रे सा ग, सा ग रे, ग सा रे, रे ग सा, ग रे सा। इसी प्रकार, इसके बाद आने वाली तान की स्वर संख्या चार से गुणा कर 6x4=24 गुणनफल आता है, इस गुणनफल को बाद में आने वाली तान का स्वर 5 से गुणा कर गुणनफल 24x5=120, 120x6=720 तथा 720x7=5040। इस प्रकार, तान प्रस्तारों में 7 'क्रम' तान तथा 5040 'कूट' तानें हैं जो 7 स्वरों के व्युत्क्रम से बनी हैं।

अलंकार के प्रयोग से राग के नये–नये रूप उजागर होते हैं। इसके प्रयोग से स्वरों के ज्ञान के साथ–साथ वर्ण विचित्रता के भी दर्शन होते हैं। नाद, स्वर, श्रुति एवं तान, ये सभी अलंकार के अंतर्गत आते हैं जिनके सही प्रयोग से संगीत में भावाभिव्यक्ति संभव होती है। संगीत में कई अलंकार इस प्रकार के हैं जिनसे रागों का स्वरूप स्पष्ट होता है। जैसे वक्र गीत का निम्नलिखित अलंकार जो राग–गौड़ सारंग की झलक दिखाता है।

आरोह – सा, ग रे, म ग, प मं, ध प, नि ध, सां नि, रें सां

अवरोह – सां ध, नि प, ग रे, म ग, प रे सा।

इस राग में ग रे म ग स्वर–समुदाय राग–वाचक है। षड्ज के उच्चारण के पश्चात् जैसे ही ग रे म ग इन स्वरों का उच्चारण होने से राग गौड़ सारंग का पता चलता है। एक अन्य उदाहरण में, जैसे– राग मल्हार गाते समय जब सा म रे प यह संगति एक विशिष्ट वर्ण है, जो अलंकार का ही एक अंग प्रतीत होता है।

अतः वर्णाश्रित अलंकारों का प्रयोग नियमानुसार होना चाहिए, तभी अलंकारों का अर्थ सार्थक होगा। इसी कारण प्राचीन विद्वानों से लेकर आधुनिक विद्वानों ने अलंकारों का उचित मात्रा में एवं यथास्थान प्रयोग पर बल दिया है।

शाब्दिक अलंकारों में कण, खट्का, मुर्की, गमक आदि इन सभी में अलंकारों का प्रयोग दिखाई देता है।

अतः अलंकार राग को यथार्थ रूप प्रदान करने के साथ–साथ राग का विस्तार भी करते हैं। इसी दृष्टिकोण से अलंकार राग के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण है। राग विस्तार के विभिन्न तत्वों में अलंकारों की विस्तृत चर्चा से हमें ज्ञात होता है कि राग विस्तार में अलंकार अत्यंत महत्वपूर्ण हैं, बिना अलंकारों के हम राग–रूप को साकार करने में एवं सुन्दर बनाने में असफल होते हैं। अलंकारों के बिना राग शिला के समान है। जिसे संगीतकार अलंकार रूपी हथौड़े

से अपनी इच्छा योग्यता एवं बुद्धि के अनुसार तराश कर एक सुन्दर मूर्ति का रूप प्रदान करता है। अतः यह कहा जा सकता है कि राग को जीवंत रूप देने के लिये अलंकारों के प्राण फूँकना अत्यंत आवश्यक है।

वैसे भी एक स्वाभावित बात है कि मंच–प्रदर्शन में कलाकार सीधी सरगम के अलावा, कठिन स्वरावलियों का प्रयोग बढ़त के लिए करते हैं जिसमें ध्यान से देखने पर स्वरों का हर क्रम स्थाई, आरोही–अवरोही एवं संचारी इन सभी वर्णो में उपस्थित होता है। यह सिद्ध है कि राग–प्रस्तुतिकरण एवं राग–बढ़त में अलंकारों का विशेष स्थान है। प्राचीन समय में गुरू लम्बे समय तक शिष्यों को अलंकारों का कठिन अभ्यास करवाते थे जिससे गायन में नवीनता और कंठ पर पूर्ण रूप से नियंत्रण आ जाता था। संगीत में अलंकार स्वरों की परिपक्वता के साथ–साथ साधक को ताल–पक्ष में भी लाभ करते हैं। अलंकारों में लयकारी एवं छंद आदि की उपस्थिति भी रहती है। अतः संक्षेप में कहा जा सकता है कि संगीत में अलंकार बहुत महत्व रखते हैं क्योंकि यह सौंदर्यवर्धक होने के साथ–साथ संगीत–साधना के लिए उपयोगी एवं वैज्ञानिक तत्व भी सिद्ध हुए हैं।

सन्दर्भ सूची :

1. शबनम (डॉ.), भारतीय संगीत में अलंकार, पृ.सं.–255
2. आप्टे, वामन शिवराम, संस्कृत–हिन्दी कोश, पृ.सं.–102
3. Apte, Vasudeo Govind, An Ornament and Figure of Speech, page-39
4. श्यामसुंदर, हिंदी शब्दसागर, प्रथम भाग, पृ.सं.–326
5. मुनि, मतंग वृहद्देशी, श्लोक–280, पृ.सं.–81
6. शर्मा, डॉ. प्रेमलता, राग लक्षण तथा राग के आवश्यक तत्व, निबंध संगीत, पृ.सं.–162
7. ठाकुर, पं. ओंकारनाथ, संगीतांजली, भाग–5, पृ.सं.–115

;'kksnkuUn 'kqDyfojfpr ^jkxekyk* % ,d vè;;u

Mk- vjfoUn dqekj *

सारांश

यशोदानन्द शुक्ल विरचित 'रागमाला' का सम्पादन श्रीजगदीश्वर पाण्डेय ने किया है जिसका प्रकाशन 'ऐतिहासिक शोध ग्रन्थ–माला संख्या 15 के अन्तर्गत काशी प्रसाद जायसवाल शोध संस्थान, पटना द्वारा 1976 में किया गया है। सम्पादक ने लिखा है कि ''सन् 1960 में काशी प्रसाद जायसवाल शोध संस्थान, पटना के तत्कालीन निदेशक डॉ. कालीकिंकर दत्त ने ग्राम अरपा, जिला पटना के निवासी पं. जमुना द्विवेदी से कुछ हस्तलिखित ग्रन्थ क्रय किया था। उनमें यशोदानन्द शुक्ल कृत 'रागमाला' नामक एक ग्रन्थ भी था जिसमें विभिन्न छन्दोबद्ध 417 पद्य हैं। यह पाण्डुलिपि लगभग एक सौ वर्ष प्राचीन है।''

भारतीय संगीत में 'रागमाला' ग्रन्थ का लेखन प्राचीनकाल से ही होता रहा है। मध्यकाल में इस परम्परा का इतना प्रसार था कि प्रायः सभी प्रेमी राजवंशों के दरबारी संगीतज्ञों ने इस प्रकार के ग्रन्थों की रचना की है। इस ग्रन्थ के रचनाकारों का यह ध्येय रहा है कि राजा एवं दरबारी के साथ आमजन भी संगीत के गूढ़ रहस्यों को सरल–सहज ढंग से समझ सके।

यशोदानंद शुक्ल ने इस ग्रंथ की रचना श्वेताम्बर जैन सम्प्रदाय के जगतसेठ 'फतेचंद' के वंश में उत्पन्न जगतसेठ महताब राय के लिए हिन्दी कविता में लिखा था जिससे सुगमता पूर्वक राग–रागिनियों को समझ सकें। इस ग्रन्थ में सरल भाषा में संगीत–शास्त्र के जटिल विषयों, यथा–राग, ग्राम, स्वर, मूर्च्छना, श्रुति, ताल आदि का संक्षेप में सूक्ष्मातिसूक्ष्म भेद सहित वर्णन किया गया है। ग्रन्थकार का दावा भी है कि जो इस ग्रन्थ का अध्ययन करेगा वह संगीत शास्त्र का पूर्ण ज्ञाता हो जायेगा एवं राग–रागिनियों तथा ताल आदि के मर्म को सुगमतापूर्वक हृदयंगम कर सकेगा। इसलिए इस ग्रन्थ का अध्ययन आवश्यक प्रतीत हो रहा है।

i:e[k 'kCn % *रागमाला, राग, ताल, श्रुति, मूर्च्छना, स्वर आदि।*

i:fofèk % *इस आलेख को वर्णात्मक प्रविधि से पूर्ण किया गया है जिसमें मूल ग्रन्थ का उपयोग सामग्री के रूप में किया गया है।*

यह ग्रन्थ मंगलाचरण से शुरू किया गया है जिसमें गणेश, सरस्वती एवं गुरु की वंदना की है। वंदना के बाद लेखक ने अपने आश्रयदाता के वंश को विस्तार से प्रकाशित किया है। ग्रन्थकार के अनुसार अठारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में श्वेताम्बर जैन–सम्प्रदाय के सेठ फतेहचंद दिल्ली के बादशाह से वंशानुक्रमिक जगत सेठ की उपाधि प्राप्त की थी। इनके पूर्वज हीराचंद राजस्थान से पटना पहुँचे और महाजनी के कार्य से बहुत धन संचय किये और स्थान–स्थान पर कोठियां बनायी। हीराचंद के सबसे छोटे पुत्र मानिकचंद मुर्शिदाबाद में अपनी गद्दी बनायी। मानिकचंद का तालाब आज भी अनीसाबाद, पटना में विद्यमान है। ये निःसंतान थे। इनके देहावसान के बाद इनके दत्तक पुत्र फतेचंद उनकी गद्दी के मालिक हुए। ये भी वहाँ के नबाव के कृपा पात्र रहे हैं तथा इन्हें भी नबाव की सिफारिश पर दिल्ली के बादशाह ने जगतसेठ की वंशानुक्रमिक उपाधि दी। इनके दो पुत्र हुए– आनन्दचन्द एवं दयाचन्द। आनन्दचन्द पिता के प्रीतिपात्र थे। ये अत्यन्त प्रबल थे तथा चारों तरफ इनकी कीर्ति फैली हुई थी। इनकी नीति–निपुणता एवं जैनधर्म परायणता की प्रशंसा कवि ने की है। इनकी मृत्यु के पश्चात् उनके पुत्र महताब राय को जगतसेठ की गद्दी मिली। इन्हीं के लिए यशोनन्द शुक्ल ने रागमाला नामक से सुगमता पूर्वक राग–रागिनियों को समझा जा सके।

ग्रन्थ रचना का काल कवि ने स्वयं निर्देशित किया है–

बीति अठारह सै बरस अरू पँद्रह परिमान।
चैत्रशुक्ल नवमी रबौ भयो ग्रन्थ सुषदान।।[1]

अर्थात् सम्वत 1815 (1758 ई.) चैत्र शुक्लपक्ष की नवमी तिथि, रविवार को यह ग्रन्थ सम्पन्न हुआ। इनका उपनाम

*एसोसिएट प्रोफेसर एवं पूर्व विभागाध्यक्ष, संगीत विभाग, मगध महिला कॉलेज, पटना

कविदास था। कवि ने अपना परिचय देते हुए अपने को मालवीय वंशोद्भूत ब्राह्मण कहा है।[2] इस ग्रन्थ में इन्होंने छप्पै कवित्त, दोहा, सवैया, सोरठ एवं छपै (षट्पद) छन्दों द्वारा विभिन्न राग एवं रागिनियों का वर्णन किया है।

कविदास ने राग–रागिनियों का वर्णन करने से पूर्व स्वर से प्रारंभ किया है। इनके अनुसार सात स्वर, तीन ग्राम, इक्कीस मूर्च्छना और बाईस श्रुतियाँ होती हैं–

सुर सातै कविदास भनि तीन ग्राम परिमान।
एक बीस है मूर्छना श्रुति बाईस विधान।।[3]

इन्होंने स्वर के लक्षण इस प्रकार बताये हैं–

श्रुति के पाछे होत है जो अनुरनन प्रकाश।
रंजन सबके चित्त को सो स्वर कहि कविदास।

अथवा जो आपै लसै अब परिपूरन नाद।
ताहि कहत स्वर नाम कवि जाके गिरा प्रसाद।।[4]

अर्थात् जो श्रुति अधिक गूँजदार हो तथा सबके चित्त का रंजन करे वह स्वर है अथवा जो अपने आप में परिपूर्ण नाद है वह स्वर है। इसके बाद स्वर के सात प्रकार को रेखांकित करते हुए उसके लक्षण का वर्णन किया है। इसके बाद ग्राम को स्पष्ट किया गया है। इनके अनुसार स्वर समूह, मूर्च्छना और श्रुति के आश्रय का नाम ग्राम है–

स्वर समूह अरु मूर्छना श्रुति को आश्रय धाम।
कहि कविदास विचार चित तासु नाम है ग्राम।।[5]

ग्राम के तीन प्रकार बताया गया है–औडव, षाडव और संपूर्ण के साथ उदार, मुदार एवं तार तीन संज्ञायें भी बताई हैं। पर, उदारादि क्या है? इस पर प्रकाश नहीं डाला है। हो सकता है यह सप्तक के तारता का प्रकार हो जिसे वर्त्तमान में मध्य, मंद्र और तार सप्तक कहते हैं। इसके बाद इक्कीस प्रकार की मूर्च्छनाओं तथा बाईस प्रकार की श्रुतियों का विवेचन किया गया है। किस श्रुति पर कौन–सा स्वर स्थापित है, उसका भी सहज रूप से वर्णन किया गया है। श्रुति–स्वर–विभाजन पर उन्होंने प्राचीन मत का ही अनुमोदन किया है।

राग–जाति पर विस्तार–पूर्वक विवेचन इन्होंने किया है। मुख्य रूप से राग की तीन जातियाँ बताई हैं–शुद्ध, सालक और संकीर्ण। तीनों जाति को लक्षण के साथ स्पष्ट किया है।

राग का लक्षण इन्होंने इस प्रकार बताया है–

स्वर बर्नन तै सहित जो ध्वनि विशेष कविदास।
मन रंजन सब जनन को राग नाम है तास।।[6]

अर्थात् स्वर वर्ण सहित वह ध्वनि–विशेष जो सब जन के मन का रंजन करता है 'राग' हैं। इसके बाद रागोत्पत्ति की चर्चा करते हुए राग के नामों पर प्रकाश डाला है। इन्होंने कहा है कि शिव और शक्ति के संयोग से छह राग की उत्पत्ति हुई है, जिनके नाम इस प्रकार हैं–भैरव, मल्हार, श्री, बसंत, कारनाट और हिंडोल। प्रत्येक राग की छः रागिनियों, छः पुत्र, छः पुत्र–वधुएँ, एक सखा एवं एक सखी भी है। इस प्रकार प्रत्येक राग का परिवार 21 का हो जाता है।

क्र.सं.	राग का नाम	रागिनियों के नाम	पुत्र का नाम	पुत्रवधुओं के नाम	सखा का नाम	सखी का नाम
1.	भैरव	भैरवी	धौल	रेवा	ऋषभ	सोहनी
		धनाश्री	श्याम	रंभेली		
		रामकरी	शुद्ध	सुही		
		मालश्री	मालकौष	सुहो		
		असावरी	अजैपाल	भठियाल		
		सिन्दुरा	कन्हरनट	अष्टी		
2.	मेघ मल्हार	कान्हरा	छायानाट	जैतश्री	गौरा	नटमल्हारी
		किदारा	शुद्ध नाट	जोगिया		
		पूरबी	गौड़	पूरिया		
		बिलावली	हमीरनाट	ईमन		

		मधुमालवी	सावंत	देशी		
		कोड़ा	अडाना	राजबिजै		
3.	श्री	सुभगा	जैतकल्याण	देवकली	पंचम	सकोची
		गांधारी	षटराग	माँझ		
		गौरी	श्यामराम	गौड़सारंग		
		कुमारी	बागेश्वर	सरस्वती		
		बिलावली	हेमकल्याण	परज		
		बिरागी	षेमकल्याण	जाजवन्ती		
4.	बसंत	ललित	दीपक	सोरठ	कल्याननाट	सारंग
		बिभास	देसाष	देवगिरी		
		पटमंजरी	बिहाग	बंगाली		
		पंचमी	सहाना	त्रिबेनी		
		गूजरी	सारंगनाट	गुनकरी		
		टोड़ी	अहीरनाट	षंभावती		
5.	कारनाट	नटी	मारू	ककुभ	पषार	ललितपंचमी
		भूपाली	बहुनागर	अहेरी		
		कल्याण	टंक	श्यामपूरिया		
		रामकेली	सागर	समरफली		
		कमोद	लंकदहन	अल्हैया		
		गारा	गौरमालव	बृन्दाबनी		
6.	हिंडोल	दीपक	संकराभरन	चैती	बड़हंस	भीमपलासी
		देसकार	सुमतबिलास	सुधराई		
		बरारी	तिलककमोद	काफी		
		मालबी	केदारनाट	लीलावती		
		पाहिड़ा	कमोदनाट	हरसिंगार		
		मरहठी	सक्रौन	नायकी		

प्रत्येक राग–रागिनी, पुत्र–पुत्रवधू एवं सखा–सखी का सारगर्भित विवेचन किया गया है। राग और उसकी पत्नी, पुत्र, पुत्रवधू, सखा एवं सखी का लक्षण सरल दोहा एवं कवित्त के माध्यम से उजागर किया गया है। उदाहरणस्वरूप–

jkx Hkjo&

गंगाधर विधुभाल उर मुंडमाल गज–षाल।
कर त्रिसूल त्रिनयन वरन भैरव भूषित ब्याल।।[7]

ekydkl dk y{k.k&

रिपु–कपाल की माल उर पहिरै प्रबल प्रताप।
बीरन सहित बिराजई मालकौस पनि आप।।[8]

trJh y{k.k&

सुन्दर सकल सिंगार सजि पियमिलाप के हेत।
सगुन विचारत सषिन सों जैतसिरी चित चेत।।[9]

Jh jkx y{k.k %

कर सरोज फेरत फिरत कुंज कुंज अनुराग।
कुसुम हार पहिरे गरे अति सुंदर श्रीराग।।[10]

इसके पश्चात् राग–रागिनियों के गायन–समय पर प्रकाश डाला गया है। साथ ही, कहा गया है कि राजा की आज्ञा से काल का विचार नहीं करना चाहिए–

इम रागन को गाईये, जथा समय मति चारू।
नृप आयस कविदास भनि नाहिन काल विचारू।।[11]

गायन के गुण एवं दोष का विवेचन सारगर्भित रूप से किया गया है। गायन तीन प्रकार के बताये गये हैं–उत्तम, मध्यम और अधम। इसके बारे में इस ग्रंथ में चर्चा इस प्रकार से की गई है–

गायन तीन प्रकार के उत्तम अधम समान।
उत्तम के लक्षन सुनो कहि कविदास प्रमान।।
ग्राम ताल लय प्रभृति गुन सहित जु गावै राग।
सो उत्तम गायन कह्यो सुनत होई अनुराग।।
कछु इक गुन सों हीन जो गावे ताल प्रमान।
तासों मध्यम कहत है जे संगीत सुजान।।
भेद न जानत कछुक सो गावै राग बिलस।
गाइन अधम बिचार चित लागत नहि रसाल।।[12]

गायन के पचीस दोष बताये गये हैं–

संदृष्टादिक दोस है गायन के पंचबीस।
कहत ताहि निरधारि कै पंडित परम कबीस।।[13]

इनके साथ ही, अनुकार, शिक्षाकार, वृन्द आदि पांच प्रकार के गायन का उल्लेख किया गया है–

सिक्ष्याकारक रसिक पुनि तीजो है अनुकार।
रंजक भावक जानिये गाइन पांच प्रकार।।
अषिल कला सिक्ष्या बिसै दक्ष्य सुसिक्ष्याकार।
आपुहि रसजुत जानकरि रसिके कह्यो निरधार।।
अपने बुद्धि विसेष तें पर छाया अनुसार।
गावै चतुराई लियै ताहि कहै अनुकार।।
मनरंजन सब जनन को करै गान कै प्रीत।
रंजक ताकौ कहत है जे प्रबीन संगीत।।
गीत अनेकनी भांतिकै गावै भाव समेत।
भावक तासों कहत है जिनके है हिच चेत।।

सो गायन पुनि तीन विधि एकल जमल विधान।
गायन बृंद बिचारिकै लछन हितको जान।
एकल एकलो गाइये जमल सो गावै दोय।
बहुजन सहित जु गावई बृंद सुगायन होय।।[14]

अन्त में, ताल के प्रयोजन पर प्रकाश डाला है। इनके अनुसार–

तौर्यात्रिक को जानिये मतवारो मातंग।
ताको अंकुस ताल है सब विधि करत सुगंध।।[15]

अंत में, कहा है कि जो इस राममाला को पढ़ेगा वह राग–रागिनी और ताल को पूर्ण रूपेण समझ सकेगा–

जो पढ़िहै चित लाय रागमाला नव, ग्रंथ यह।
समुझै अर्थ विनाय राग रागिनी ताल को।।[16]

संगीत की पारिभाषिक शब्दों को सहज, सरल शब्दों में अभिव्यक्त किया गया है, ताकि आम–जनों को सहज रूप से समझ में आ सके। राग–वर्गीकरण की इस पद्धति ने मध्यकालीन पारिवारिक वर्गीकरण का ही अंग होते हुए भी अपनी एक नवीन दृष्टि प्रदान की है। यह ग्रन्थ वर्तमान में भी प्रासंगिक है।

I nHk I ph %

1. पाण्डेय, श्रीजगदीश्वर, यशोदानन्द शुक्लविरचित रागमाला, काशी प्रसाद जायसवाल, शोध संस्थान, पटना, 1976, पृ. 5.
2. मालवीय द्विज–कुल विगल शुक्ल यशोदानन्द,
रागमाल यह नाम धर किन्हों गुरु पद बंद।।
पद संख्या 29, पृ. 5
3. वही, पद संख्या 32, पृ. 6
4. वही, पद संख्या 34–35, पृ. 6
5. वही, पद संख्या 45, पृ. 8
6. वही, पद संख्या 99, पृ. 16
7. वही, पद संख्या 116, पृ. 20
8. वही, पद संख्या 136, पृ. 24
9. वही, पद संख्या 184, पृ. 36
10. वही, पद संख्या 200, पृ. 40
11. वही, पद संख्या 375, पृ. 79
12. वही, पद संख्या 376 से 379, पृ. 79
13. वही, पद संख्या 380, पृ. 80
14. वही, पद संख्या 385–391, पृ. 81
15. वही, पद संख्या 395, पृ. 82
16. वही, पद संख्या 417, पृ. 84

The Charyapada as a Musical Form : A study

Dr. Tama Debnath*
Dr. Rabindra Bharali**

Abstract

In ancient times, the influence of the religious traditions of the Bengal region had crossed the modern political boundaries of West and East Bengal. The religion and the arts of Bengal have a historical background of Charyagiti which were composed by the Buddhist Siddhacharyas with a great spiritual significance. The main object was to preserve certain doctrines of Charyapadas and deliver it through songs to the disciples of a certain religious order. Accordingly, the subject matter of Charyapadas became more important for Buddhist Siddhacharyas as has been mentioned by some medieval authors in their works. The composition of Charyapadas were similar to the 'Prabandha' which is an ancient musical form mentioned by some renowned authors. Subsequently, the description of musical forms of Charya became less popular and stressed mainly on melas and ragas. Charya, as we have surveyed, was meant to be sung as a full-fledged composition in ragas and talas. The historical background of the Charya herein contains some extra musical elements, such as a brief history of the Pala Kingdom, Tantric Buddhism and religious background, etc. Reference to themedieval works in the context of theCharya is rather far- fetched.

Keywords : *Charya, Buddhism, Pada, Prabandha, Bengal*

Methodolgy : *An attempt has been made to analyse the subject through descriptive survey, comparative and historical methodology.*

The Charyapada as a musical form

'Charyagiti', the song of Buddhist Siddhacharyas is one of the earliest musical forms of Bengal. During the rule of the Palas, the Charyapadas were composed between 950 A.D. and 1200 A.D. The tradition of Buddhism speaks about 84 Siddhacharyas and many of the composers of the Charyapadas were among them (R.C., 1971). Each 'Pada' is complete in itself and does not show any episodical sequence. The apparent meaning of the songs is understandable.

The texts of Charyagiti

The texts of the Charyagiti were discovered by Mahamohopadhyaya Haraprasad Shastri in the Nepal Durbar Library in 1907 A.D. (M.M. Haraprasad, 1959). These songs were subsequently published in a volume entitled Hajar Bachorer Purano Bangla Bhashaye Bauddhagana o Doha in 1916 AD by the 'Bangiya Sahitya Parishad', Calcutta. It contains forty-six and a half songs. The above volume contains four separate books viz.

(i) Charyacharyavinishchaya with Sanskrit commentary;

(ii) Dohakosha of Sarojavajra with Sanskrit commentary;

(iii) Dohakosha of Krishnacharyapada; and,

(iv) Dakarnava. (Suniti, 1970.).

*Assistant Professor, Bhavan's Tripura College of Teacher Education, Narsingarh, Agartala, West Tripura
**Assistant Professor, Department of Music, Tripura University (A Central University), Suryamaninagar, Agartala, West Tripura

Language of Charyapadas

Dr Ram Chandra Shukla maintains that the language of the Charyapadas is old Hindi. (Ramchandra, 2015). Dr. D.C. Sen observes that the language of the Charya songs does not represent any recognized school of old Bengali and it should be regarded as 'Prakrit' or 'Apabhramsha' by which names they were known at the time of their composition. (Dinesh, 1954). Dr. Sukumar Sen says in this regard, "The language of the songs naturally shows some features that are distinctly Laukika, and some that are common to the eastern and western New Indo- Aryan speeches at their earlier stage, but there is no doubt regarding the essential Bengali stamp on its grammar, idiom and syntax. Besides, the contents of the songs indicate that the poets were thoroughly acquainted with Bengali life and environs" (Sukumar, 1960). The renowned philologist, Dr. Sunil Kumar Chatterjee comments that the language of the Charyas has the genuine vernacular of Bengal at its basis (Suniti, 1970). Further, he suggests, the language of the Charyas seems to be based on West Bengal dialect. Some of its forms belong rather to West Bengal than to East Bengal" (Suniti, 1970).

Charya as a musical form

The most striking point about the Siddhacharyas is that they knew music. We do not have any evidence of it in their biographical data available to us. But there are circumstantial evidences to prove it. First, for each Giti, a particular raga has been mentioned.

The Charya has its own literary and spiritual significance. If we think musically, it is no less important. Another most interesting point is that undoubtedly Charya was sung based on some special Ragas. It is clear that Charya was a complete musical form which finds place among the Prabandhas (compositions) in ancient time. To assess its musical value, we shall first discuss the Charya as Prabandha in the shastras chronologically.

The Prabandha as a composition

'Prabandha' as a circumscribed form of music is to be found as early as the 8th century A.D. in Matanga's ‘Brihaddeshi’. However, the elucidation of 'Prabandha' as found in Sharangdeva's ‘Sangita Ratnakara’ is par excellence. In the fourth chapter, while discussing the 'Ganabheda', Sharangdeva says: Gana is two-fold, Nibadha and Anibadha. (Maharana, 1963).

'Prabandhas' are broadly divided into two groups, like 'Aniryukta' and 'Niryukta' 'Nirukta Prabandhas' were governed by strict rules of tala, chhanda, etc. which could not be altered where as Aniruktya had no such rules. Sharangdeva deals with classified Prabandhas under three heads-Suda, Alisamshraya and Viprakirna. They are eight, twenty-four and thirtysix in number respectively.

Sharangdeva describes the Charya under 'Viprakirna' class. But we ought to take note of a pre Ratnakara work of great importance ‘Manasollasa’. It is an encyclopedic Sanskrit work by Someshwara Ill, a Chalukya king of Kalyana. The work was written in 1129 A.D. Someshwara has been frequently quoted by Sharangdeva as an authority on Indian music.

The chapters on music (vocal and instrumental music) and dance, from part of the fourth Vimshati, namely Vinoda, Prabandha, both in Sanskrit and Prakrit languages, have been described in the ‘Gita-Vinoda’, the chapter on vocal music. Charya finds a prominent place among the compositions mentioned therein.

Charya as a Prabandha

In the history of Indian Music, the first Sanskrit work on Deshi music is Matanga's ‘Brihaddeshi’ (800 A.D.) where forty-eight

'Prabandhas' were described. From the reference of Prof. Krishna Bisht it may be clear that "The Charya is conspicuous by its absence. If we are to accept the date of the Charya between the 9th and the 12th centuries, then the omission is understandable. However, in the 'Brihaddeshi', Gauda Ela — composed in the language of Gauda i.e. Bengal- is found. The Charya had some resemblance with the ancient Gauda Ela. With the passage of time Gauda Ela had undergone certain changes but in the Charya some of them were still extant", (Krishna, 1986).

However, the credit for mentioning the Charya as a full- fledged 'Prabandha' for the first time goes to Someshwara. It is interesting that the next Sanskrit musical work mentioning the Charya is by Someshwra's son Jagadekamalla. His name occurs in 'Sangit Ratnakara' with those of his father and grand-father. The name of the treatise attributed to Jagadekamalla is 'Sangita Chintamoni'. The date of composition of this work has been fixed between 1138-1150 A.D. It is a small work and as such does not describe every topic in detail. In the 'Prabandhakaranam' he mentions the Charya. (Jagadekamalla, 1958).

Following the line of Someshwara, Sharangdeva gives further details of the Charya. In contrast to his predecessors Sharangdeva's approach to every topic is detailed. 'Sangita Ratnakara' is an outstanding work in the world of Indian Music. The topics dealt with therein, are remarkable for clarity and scholarship of the author. Unlike Someshwara's 'Manosollasa', its entire subject matter is on the threefold art of Indian Music.

In the 14th century we come across an interesting work, 'Sangita Upanishat Saroddhara'. It is an abridged version of a bigger and possibly more comprehensive work called 'Sangitopanisat' (Sudhakalasha, 1961) written in the year 1350 A.D. by Vachana Charya Sudha Kalmsha of the Shvetambara Jain Community.

The most voluminous Sanskrit work on music is 'Sangita Raja' or 'Sangita Mimamsa' which was written in the 15th century by Rana Kumbha. The book has been divided by five chapters called 'Ratnakoshas' dealing with Pathya, Gita, Vadya, Nritya and Rasa respectively. In the present context, the "Gita Ratnakosha" is to be taken into account, which contains four 'Ullasas', one of them being 'Prabandhollasa'. The fourth Prakirna of the 'Prabandhollasa' is on 'Prakirna Prabandhas', the other three being on Gitaka, Suda and Alikrama respectively.

Another South Indian work that is relevant in the present context is the 'Chaturdandiprakashika' of Venkatmukhi. (1620 A.D.) Chatura Damodara wrote in his 'Sangita Darpan' nearly fifty years before the composition of 'Chaturdandiprakashika'.

In 17th century Persian work 'Raga Darpan' by Faqirullah, dealing with Indian Music, 'Prabandha' has been mentioned as a mere musical form, like Dhrupad, etc, as against its varieties and classes described in Sanskrit musical treatises. To quote Faqirullah, "Prabandha was composed in two movements; it is a musical form in praise of God (Gita). In it, there were some traces of Dhrupad; but Dhrupad did not originate from it only. "(Rajeshwar, 1371).

To resume our survey of the medieval works, we shall now take up Ahobalas 'Sangita Parijata'. The first khanda of 'Sangita Parijata' named 'Raga-gita-vicharah' contain Suda, Alikrama and Viprakirna Prabandhas and the Charya comes in the list of thirty-six 'Viprakirna Prabandha'.

Charyapada and Raga

In the present collection of 'Charyagitis', 17 ragas are found which are - Patamanjari, Gavada or Gauda, Aru, Gunjari or Gujjari,

Devakri, Deshakha, Bhairavi, Kamoda, Dhanashi, Ramakri, Baradi or Balladi, Shavari or Shivari, Mallari, Malasi, Malasigabuda, Kanhagunjari, and Bangala. Most of these names of ragas are familiar to the present-day musicians. Many of the above ragas are found in the ancient Shastras. However due to the impact of local usage some of the ragas have slightly changed names in the Charyagitikosha.

The list of the 17 ragas has been drawn in the Sangit Ratnakara (13th century). Here also the name of the ragas are mentioned in brackets from the text 'Charyagitis':- Devakri, Deshakhya (Deshakha), Dhannasi (Dhaanasi, Dhanasi), Bangala, Bhairavi, Malhari, Malavashri (Malasi), Gurjari (Gunjari, Gujjari), Gauda (Gavada), Kamoda, Ramakri, Barati (Baradi, Balladi). The next list of ragas of Sangita Raja are — Madhyamadi, Lalita, Vasanta, Gurjari, Dhannasika, Bhairava, Gaudakriti, Deshakhya, Malavashri, Kedara, Malava, Gauda, Shriraga, Malhara, Megha, Natta, Saptadasha, Bangala, Marutkriti etc. For various reasons, the Ragas mentioned in ‘Sangit Ratnakara’ and ‘Sangit Raja’ have not been deciphered by modern scholars.

Sharangdeva mentioned Gurjari, whereas Matanga clearly mentions Gunjari, as one of the right bhasas of Malavakaisha. It seems that the name Baradi or Balladi was the shadow of Barati. The name Shivari or Saviri has resemblance with the name of Sauviri which is knownas Shastrika raga. Two names resembling Shivari or Shavari have been traced in ‘Sangita Raja’ (1449 A.D.), for i.e. Savari and Shambari. In the text ‘Sangitsarasangraha’, the name Saviri mentioned as a shadava raga. It is very interesting to say that Faqirullah mentioned the name Shivari in his work Raga Darpan (17th century) as a ragini of Malkaus. (Hariharnivas, 2010).

Musical Instrument used in Charypada

Certain musical instruments have been used for accompaniment. In musical treatises the percussion to be played with Charya-Prabandha has been mentioned as Mandidakka' In Mandidhakka, the Patakshara is composed as in Hudukka. The centre of the circle and the rope should be struck with the left hand. The mouth of the instrument at the right hand should be played with the right hand. On the occasion of worship of the Goddess Shakti and in the process of singing the Charya, Mandidakka should be played with special efforts by the experienced and well versed.

Sharangdeva also prescribes the same percussion instrument to be played with Charya songs. In the 'Vadyadhyaya' of his Sangit Ratnakar the structure and techniques of playing the Mandidakka have been described.

The 'Mandidakka' is similar to 'Dakka' However (the difference is that) its length is sixteen angulas; the two heads should be eight angulas each in circumference. At the centre the circumference should be sixteen angulas. Mandidakka does not have Argala (bolts for fastening) or Kachchha (hemming or lacings). On the upper head, there should be two circular rings.Mandidaka is to be played in the singing of Charya and the worship of Shakti.

Tala of Charya

Charya was a 'Taravali' type of Prabandha having two angas, pada and tala. In musical treatises 'Dvitiya tala' has been prescribed for it. Description of 'Dvitiyatala' is found in the fifth chapter titled 'Taladhyaya' of ‘Sangita Ratnakara’. Like gitas, talas are also of two kinds,'Marga' and 'Deshi' tala. 'Dvitiya tala' was one of the 120 Deshi talas. In the words of Sharangdeva, "Dvitiya tala has two drutas and one laghu. The tala is expressed as: 00 (i.e. two drutas) (one Laghu)"(Sharangdeva, 1959).

The Charya was a Niryukta Prabandha having specific metre and tala. But in the present

collection of 'Charyagitis,' no mention of tala is found. The reason for not maintaining the name or names of tala makes us conjecture that some common and wellknown talas were used for all the Charya songs. However, in the Tibetan translation of Charyagitis, two talas named 'Indratala' and 'Ekatala' are found. The former has been mentioned as a raga (Indratalaraga) in giti no, 24. The original (kishnacharyapa) is missing. The Charyagiti set to Ekatala and in Mallari raga, composed by Bhusukupa is to be found in the original also, but without mention of any tala.

The Charya has metres like Padhadi etc; at the end of each foot there is rhyme, the theme is of spiritual import and the talas used are Dvitiya, etc. The tala is dvitiya, there is prasa at the end of each foot, and the import of spiritualist jati is taravali, having two angas, like pada and tala; it has three dhatus, like udgraha, dhruva and abhoga.

Here the rules of Padhadi Chhanda have not been followed strictly. But this applies to recitation only. If we consider the above padas from the point of view of singing, which they were primarily intended for, then some laxity may be allowed, e.g. in singing, rules of Laghu, Guru etc. are not so rigidly observed as in recitation. Not even in the padas given by Somesha (mentioned earlier) do we come across Padhadi Chanda. In this connection, it would not be out of context to refer to the remarks made on Swami Haridasa's padas by the eminent Hindi scholar, Pt. Ram Chandra Shukla in his Hindi Sahitya ka Itihas. According to him, Haridasa's expression is somewhat rigged. He made this remark, of course, from the literary point of view. In the world of music, Haridasa's padas are very popular for they are very well suited to musical rendition.

While dealing with the Gana Elas, Sharangdeva speaks of some options with regard to the use of Laghu (short and Guru (long) as and when occasion arises. Some of them may be explainedwith the help of Simhabhupala's commentary, such as Vapadante, even a 'hrasva'letter at the end of a pada may be regarded as a Guru by option. In modern Ragadari music, we do not bother about the metre of the verse that is being sung; rather we take liberties with it to meet the exigencies of metre of the tala or the phrases of the raga in which it is being sung. As we know, each of the Charyapadas had specific raga for its rendition. As such they were of classical form and certainly allowed some kind of license for breaking the rules of metre.

These divisions and subdivisions indicate the possible absence of a uniform metre in the Charya and the Sangita Ratnakara itself confirms this fact when it mentions two varieties of Charya, like Purna and Apurna of which the latter did not consist of complete metre; but it was an accepted from of the Charya. Moreover, Kallinatha's explanation for 'Vishamal) hruva' shows that there was ample scope for lengthening or shortening of dhatus (perhaps depending on the nature of tune) since the Udgraha could be longer or shorter than the Dhruva or vice versa.

Table of Charyagitis

Name of Composer	Serial no of songs	Name of Raga	Total no of Padas
Luipa	1,29	Patamanjari	2
Kukkuripa	2, 20, 48	Gabada, Patamanjari	3
Biruba or Biruapa	3	gabada	1

Gundaripa	4	Aru	1
Chattilya or Chatilapa	5	gurjari	1
bhushukupa	6,21,23,27,30,41, 43,49	Patamanjari, Baradi, Kamoda, Mallari, Kanhugunjari, Bangal	8
Kanhapa or Krishnacharyapa or Krishnapa or Krishnavajrapa	7 ,9, 10, 11, 12, 13, 18, 19, 24, 36, 40, 42, 45	Patamanjari, Deshakha, Bhairavi, Kamoda, Gauda, Malasigabuda, Mallari	13
Kambalamba rapa	8	Devakri	1
Dombopa	14	Dhanasi	1
Shantipa	15, 26	Ramakri, Savari or Shibari	2
Mahidharapa	16	Bhairavi	1
Vinapa	17	Patamanjai	1
Sarahapa	22, 32, 38,39	Gunjari, Deshakha, Bhairavi, Malasi	4
Tantripa	25 *	Raga not mentioned	1
Dhamapa	47	Gurjari	1
Jayanandi	46	Sabari	1
Kaunkanapa	44	Mallari	1
Aryadeva	31	Patamanjari	1
Shavarapa	28, 50	Balladi, Ramakri	2
Darikapa	34	Baradi	1
Bhadepa	35	Mallari	1
Tadakapa	37	Karnoda	1
Dhendanapa	33	Patamanjari	1

It is extremely difficult, in most cases, to fix the date or personal facts of these Siddhacharyas for want of ample corroboration. Scholars have attempted to build up some sort of biographicalsketch but, again, there is too much of controversy among them.

In the forgoing study an attempt has been made to trace the elements of the forms of the regional music 'Charya' in ancient musical treatises. After a survey of these treatises, it has been found that the 'Charya' was a 'ViprakirnaPrabandha' of Taravali jati having two angas like 'Pada' and 'Tala'. It had three dhatus - Udgraha, Dhruva and Abhoga, and the metre was 'Paddhadi'. So far

scholars have referred to only three works "Manasollasa", "Sangita Ratnakara " and "ChaturdandiPrakashika", with regard to the 'Charya' In the present work the 'Charya' as a 'Prabandha'(musical form) has been searched not only in the above three works but also in 'Sangita Chaudamani', 'Sangita Samayasara', 'Sangitapanishad Sarodhara', 'Sangita Raja', 'Sangita Darpan' and 'Sangita Parijata'. Survey of these works has proved to be very fruitful; many facts have emerged to establish certain theories, such as the question of the prevalence of the 'Char-ya' till as late as the 17th century.

References :

Eliot, Sir Charles. (1962), Hinduism and Buddhisam, Routlege& Kegan Paul Ltd, London. Majumder, R.C. (1960), History & Culture of the Indian People, Bharatiyavidya Bhavan, Bombay.

Shastri, M.M. Haraprasad. (1959), Baudddha Gana O Doha, Bangiya Sahitya Parishad, Calcutta Chatterjee, Suniti Kumar. (1970), Origin and Development of Bengali Language, Gerge Allen & Unwin Ltd., London.

Sukla, Ramchandra. (2015), Hindi Sahitya ka Itihas, Nagari Pracharani Sabha, Varanasi.

Sen, Dinesh Chandra. (1954), Bengali Language and Literature, Calcutta University.

Sen, Sukumar. (1960), History of Bengali Language, Sahitya Akademi, New Delhi.

Kumbha, Maharana. (1963), Sangita Raja, Banaras Vishvavidyalaya.

Bisht, Krishna. (1986), Sacred Symphony: A Study ofBuddhistic and Vaishnav Music of Bengal in relation to Hindustani Classical Music, Bhagirath SewaSansthan, Gaziabad.

Jagadekamalla. (1958), Sangit Chintamani, Gaekwad's Oriental Series, Baroda Mukhopadhyaya, Niharkana. (1369), Sangita O Sahitya, M.C. Sarkar & sons Pvt. Ltd., Calcutta.

Damodara, Chatur. (1952), Sangita Darpan, Saraswati Mahal Series, Tanjore.

Sudhakalasha. (1961), Sangitopanishat- Saroddhara, Geekwad's Oriental Series, Baroda

Mitra, Rajeshwar. (1371), Mughal Bharater Sangit Chinta, Lekhak Samavaya Samiti, Calcutta

Fazal, Abui. (1972), Ain-I-Akbari, Royal Asiatic Society, Calcutta.

Dvivedi Hariharnivas. (2010), Mansingaur Mankautuhal, Gwalior

Sharangdeva. (1961), Sangita Ratnakara, Adyar Library Series

gkiqM vkSj esjB dk ,frgkfld LFkyksa ij lkaxhfrd okn| ,d lkaLd`frd ;k=k

M,- ekfudk nhf{kr *

lkjka'k

यह शोध–पत्र भारतीय सभ्यता के महाकाव्यों में वर्णित ऐतिहासिक और धार्मिक स्थलों के अध्ययन पर आधारित है। इसमें गढ़मुक्तेश्वर के कल्याणेश्वर महादेव, गंगा मंदिर, हस्तिनापुर के कर्ण मंदिर, जयंती माता शक्तिपीठ और पांडेश्वर महादेव जैसे स्थलों का गहन अध्ययन किया गया है। हापुड़ और मेरठ के इन स्थलों का ऐतिहासिक महत्व है, जो हमारी प्राचीन वैदिक संस्कृति और महाकाव्यों से जुड़े हुए हैं। विशेष रूप से गढ़मुक्तेश्वर और हस्तिनापुर के धार्मिक स्थलों में शिव और शक्ति की पूजा से संबंधित चमत्कारिक घटनाओं और मंदिरों के सांस्कृतिक और स्थापत्य पहलुओं पर प्रकाश डाला गया है, जो भारतीय सभ्यता और कला के महत्वपूर्ण प्रमाण हैं। शोध में यह भी पाया गया है कि इन मंदिरों में आयोजित धार्मिक अनुष्ठान और चमत्कार आज भी भक्तों और श्रद्धालुओं के बीच आस्था का केंद्र बने हुए हैं।

eq[; 'kCn% *गढ़मुक्तेश्वर (कल्याणेश्वर महादेव, गंगा मंदिर), हस्तिनापुर (कर्ण मंदिर, जयंती माता शक्तिपीठ, पांडेश्वर महादेव, जैन मंदिर)*

vuqlaèkku i)fr *– प्रस्तुत शोध–पत्र के लेखन में ऐतिहासिक, तथ्यात्मक, विश्लेषणात्मक और सर्वेक्षणात्मक पद्धति का प्रयोग किया गया है। प्राथमिक व द्वितीयक दोनों स्रोतों को आधार बनाकर, स्वयं भ्रमण कर, साक्षात्कार व संकलित सामग्री द्वारा लेखन कार्य किया गया है।*

vè;;u {ks= – प्रस्तुत शोध–पत्र में भारतीय सभ्यता के प्रतीक, महाकाव्यों में वर्णित प्राचीन, ऐतिहासिक, धार्मिक स्थलों का भ्रमण कर वहां के तथ्यों को एकत्र किया गया है। कर्ण मंदिर, गढ़मुक्तेश्वर, गंगा मंदिर, कल्याणेश्वर महादेव इत्यादि धार्मिक स्थलों, हस्तिनापुर, हापुड़, मेरठ के ऐतिहासिक स्थलों पर जाकर वहां की प्राचीन, वैदिक सभ्यता, संस्कृति व कला को उजागर करने का प्रयास किया गया है।

lkfgR; foe'kZ – भारत का इतिहास बहुत ही समृद्ध है। यहां के प्रत्येक भाग में एक से बढ़कर एक ऐतिहासिक स्थल, भव्य मंदिर और चमत्कार से भरी कुछ कहानियां छिपी हुई हैं, जहां तक हर कोई नहीं पहुंच पाता। ऐसे स्थल जो हमारी प्राचीन वैदिक सभ्यता का प्रतीक हैं, जिनमें हमारे महाकाव्यों का इतिहास छुपा हुआ है, ऐसा ही कुछ विशेष ऐतिहासिक धार्मिक स्थलों को, उत्तर प्रदेश राज्य के हापुड़ और मेरठ जिले के अंतर्गत, भ्रमण करने पर पाया गया जिनका विवरण निम्नलिखित है :–

x<eqä'oj ¼gkiqM½ – उत्तर प्रदेश राज्य का एक स्थान है 'हापुड़' जिसे 28 सितंबर 2011 को तत्कालीन मुख्यमंत्री मायावती ने पंचशील नगर के नाम से एक जिला के रूप में घोषित किया था। इसकी तीन तहसीलों में एक विशेष है गढ़मुक्तेश्वर। यह दिल्ली से करीब 90 किलोमीटर दूर स्थित है।[1] गंगा के किनारे बसा गढ़मुक्तेश्वर हिंदुओं का अति प्राचीन एवं प्रमुख तीर्थ स्थान है। महाभारत काल में यह नगर जल मार्ग द्वारा व्यापार का मुख्य केंद्र था और हस्तिनापुर की राजधानी का एक भाग था। अब यह गाजियाबाद जनपद का अंग है। हस्तिनापुर आने–जाने के लिए गढ़मुक्तेश्वर से 15 किलोमीटर पर एक गुप्त मार्ग हुआ करता था जिसके चिन्ह आज भी वहां मौजूद हैं। गंगा के किनारे लगने वाले गढ़ मेले का इतिहास भी हजारों वर्ष पुराना है।

भगवान राम के पूर्वज महाराज शिवि ने अपना चतुर्थ आश्रम गढ़मुक्तेश्वर में ही बनाया था और भगवान परशुराम के द्वारा यहां शिव मंदिर की स्थापना कराई गई थी। भगवान परशुराम ने यहां पांच स्थानों पर शिवलिंग की स्थापना कराई जिसमें से मुक्तेश्वर महादेव (नक्का कुआं) तथा झारखंड महादेव (नहुष कूप) के निकट जंगल में आज भी दर्शनीय हैं। मुक्तेश्वर महादेव मंदिर में शिवलिंग

*एसोसिएट प्रोफेसर (संगीत विभाग), किशोरी रमण महिला स्नातकोत्तर महाविद्यालय, मथुरा

पर तांबे और पीतल के कलश द्वारा लगातार जल चढ़ता रहता है। इसी के साथ छोटे–बड़े आकार के घंटों को टंगा देखा जा सकता है। मंदिर प्रांगण में आरती के समय उन **?kVk** का वादन लय–ताल के लिए किया जाता है। (चित्र संख्या– 1)

उस समय इस स्थान को खांडवी वन के नाम से प्रसिद्धि प्राप्त थी। शिव मंदिर स्थापना और वल्लभ संप्रदाय का प्रमुख केंद्र होने के कारण बाद में इसका नाम शिववल्लभपुर पड़ा, जिसका वर्णन शिव पुराण में मिलता है। भगवान विष्णु के गण जय तथा विजय (जो नारद मुनि के श्राप के कारण मृत्यु लोक में आ गए थे) उन्होंने अपनी मुक्ति के लिए कई तीर्थ यात्रा की परंतु जब उन्हें कहीं शांति नहीं मिली तब वह शिववल्लभपुर आए और शंकर भगवान की उपासना की। भगवान शिव ने दर्शन देकर उनका उद्धार किया। तब से इन गणों के मुक्ति स्थान होने के कारण यह गणमुक्तेश्वर नाम से जाना जाने लगा जो अपभ्रंश रूप में 'गढ़मुक्तेश्वर' कहलाया। यह अपने अंदर 5000 वर्षों का इतिहास समेटे हुए है। यहां महाभारत में वीरगति को प्राप्त योद्धाओं की आत्मा शांति के लिए श्री कृष्ण भगवान ने पिंडदान भी करवाया था।[2]

सन् 1679 में मुगल सम्राट औरंगजेब ने हिंदू मंदिर व धार्मिक स्थलों पर आक्रमण कर उन्हें नष्ट करवा दिया और वहां अपनी शैली से मकबरे बनवा दिए परंतु काफी समय बाद जब मुगल राज्य पतन की ओर अग्रसर था तब मराठों ने फिर से इन मंदिरों का पुनः उद्धार किया लेकिन मंदिरों के गुंबज को यूं ही रहने दिया गया। अतः वह आज भी मुगल–शैली पर ही हैं। (चित्र संख्या– 2)

dY;k.k'oj egkno ¼x<eä'oj½ – गढ़मुक्तेश्वर से 4 किलोमीटर दूर जंगल में कल्याणेश्वर महादेव का मंदिर है जो अपनी पौराणिकता और चमत्कार के लिए दुनिया–भर में जाना जाता है। यह गढ़मुक्तेश्वर का सबसे प्राचीन मंदिर है जिसका रहस्य अलौकिक है। लोकमान्यता है कि महादेव के इस मंदिर में स्थापित शिवलिंग पर जो जल अर्पित किया जाता है, शिवलिंग पर चढ़ने के बाद वह जल बहता हुआ नजर नहीं आता बल्कि गायब हो जाता है, वह जमीन में कहां समा जाता है, प्राचीन काल से आज तक यह चमत्कार का रहस्य बना हुआ है।[3] मंदिर के मुख्य द्वार पर बड़े आकार का **?kVk** लगा हुआ है तथा मंदिर में शिवलिंग के ऊपर की छत पर अनेक छोटे–बड़े आकार के घंटे वहां की वाद्य–परंपरा का बोध कराते हैं। (चित्र संख्या –3)

xxk efnj ¼ x<eä'oj½ – गढ़मुक्तेश्वर में देखने योग्य स्थलों में एक गंगा मंदिर भी शामिल है जिसके गंगा तट की ओर खुलने वाले द्वार पर 101 सीढ़ियां बनाई गई थीं परंतु अब उनमें से केवल 85 सीढ़ियां ही शेष बची हैं। इन सीढ़ियों में लगे पत्थर की एक विशेषता है कि यदि उस पर कोई पत्थर गिराया जाय तो उसके घर्षण से वह **<ky** वाद्य की तरह आवाज करती हैं। इसी मंदिर में एक चमत्कारी पत्थर भी है जिसकी हर गांठ पर शिव आकृति स्वयं बनती है।[4] मंदिर के द्वार पर पीतल का एक बड़ा–सा **?kVk** लगा हुआ है जो गंगा आरती के साथ बजाया जाता है। (चित्र संख्या– 4)

d.k efnj ¼gfLrukiqj ejB½ – महाभारतकालीन ऐतिहासिक नगर हस्तिनापुर में स्थित कर्ण मंदिर से द्वापर युग के साक्ष्य मिलते हैं। यह वही स्थान है जहां कर्ण को भगवान इंद्र द्वारा अपने कवच और कुंडल दान किए गए थे। वहां के महंत शंकर देव जी के द्वारा यह ज्ञात हुआ कि दानवीर कर्ण इसी स्थान पर कामाख्या देवी की पूजा करते थे। इस मंदिर का पुराणों में भी वर्णन मिलता है।[5] इस मंदिर के अंदर एक प्राचीन शिवलिंग भी मौजूद है। मान्यता है कि इस पर जल चढ़ाने से लोगों के बिगड़े काम बन जाते हैं। शिवलिंग के ठीक ऊपर बड़े आकार का **?kVk** आरती के साथ ध्वनि उत्पन्न करने हेतु लगा हुआ है। (चित्र संख्या– 5) पौराणिक कथाओं में कहा गया है कि इस शिवलिंग की स्थापना कर्ण ने स्वयं की थी।[6]

t;rh ekrk 'kfä ihB ¼gfLrukiqj ejB½ – हस्तिनापुर में ही महाभारतकालीन पांडवों की कुलदेवी मां जयंती शक्तिपीठ मंदिर है जिसमें माता पिंडी के रूप में विराजमान हैं। बताया जाता है कि श्रीकृष्ण के कहने पर पांडवों ने माता की स्तुति की थी और मां ने प्रसन्न होकर यहीं पर उन्हें अस्त्र–शस्त्र प्रदान किए थे।[7] इस मंदिर में प्रारंभ में ही दो मठ और एक पुराना बरगद का पेड़ है। मंदिर के अंदर जयंती माता का स्वरूप महाकाली के रूप में विराजमान है। यह महर्षि वेद व्यासरचित देवी भागवत पुराणों में वर्णित 51 शक्तिपीठों में से एक शक्तिपीठ है।[8] कहते हैं माता सती के 108 हिस्सों में से उनकी दाहिनी जंघा का हिस्सा यहां गिरा था जिससे इसका नाम जयंती माता शक्तिपीठ पड़ा। मंत्रों के उच्चारण और कई आरतियों में

मां जयंती का सबसे पहले आह्वान किया जाता है।[9] पांडव टीला पर स्थित इस मंदिर में नवरात्रों में आज भी विधि–विधान से पूजा अर्चना होती है।

शोध–पत्र लेखन हेतु इस मंदिर का दर्शन किया गया और आचार चंद्रमणि (जो पिछले दो वर्षों से वहां सेवा कार्य कर रहे थे) से साक्षात्कार किया गया। आचार्य चंद्रमणि ने बताया कि 6000 साल पहले पांडवों को जिताने के लिए इस शक्तिपीठ की खोज की गई थी। वर्तमान में यहां जो मूर्ति विराजमान है वह 42 साल पुरानी है। यहां प्रातःकाल और सांयकाल में नौ प्रकार की आरतियां जिसमें सर्वप्रथम गणेश, मां काली, राधा कृष्ण, कुंज बिहारी, भैरो बाबा, हनुमान, भोले, शनि महाराज, गंगा मैया और अंत में विष्णु भगवान की आरती 'ओम् जय जगदीश हरे' का गायन विभिन्न वाद्य–यंत्रों के साथ किया जाता है। विभिन्न प्रकार के छोटे–बड़े आकार के **?kV] >k>] ethjk] <kyd] uky** तथा **fo|r l pyu oky ?kV] uxkMk** इत्यादि वाद्य मंदिर प्रांगण में आज भी उपलब्ध हैं। (चित्र संख्या 6)

ikM'oj egkno ¼gfLrukij½ – पांडव टीला के पास पांडेश्वर महादेव का मंदिर हजारों सालों का इतिहास अपने आप में समेटे हुए है। यहां पांडवों के द्वारा भगवान शिव की पूजा अर्चना की जाती थी।[10] मंदिर के अंदर पांचों पांडवों की मूर्तियां भी बनी हुई हैं। कहा जाता है कि ये मूर्तियां खुदाई के समय जमीन से निकली थीं। (चित्र संख्या –7) आज भी शिवरात्रि के अवसर पर यहां भगवान शिव की प्रतिमा पर जल अर्पण करने के लिए हजारों की संख्या में श्रद्धालु आते हैं। मंदिर में शिवलिंग के ठीक ऊपर कई सारे **?kV** सामूहिक रूप से बंधे दिखते हैं जो वहां की सांगीतिक परंपरा को दर्शाते हैं। (चित्र संख्या– 8)

fnxcj tu çkphu cMk efnj ¼gfLrukij½ – हस्तिनापुर में स्थित दिगंबर जैन प्राचीन बड़ा मंदिर वहां का सबसे पुराना जैन मंदिर है जो 16 वें जैन तीर्थंकर शांतिनाथ को समर्पित है। यह जैन वास्तु कला पर आधारित है। मुख्य मंदिर का निर्माण 1801 वर्ष में राजा हरसुखराय के तत्वावधान में किया गया था जो सम्राट शाह आलम द्वितीय के कोषाध्यक्ष थे।[11] मुख्य मंदिर में प्रमुख देवता 16 वें तीर्थंकर शांतिनाथ पद्मासन मुद्रा में विराजमान हैं।[12] इस मंदिर परिसर में अन्य स्मारक और मंदिर भी हैं जिसमें मूल नायक मंदिर के द्वार पर खंभे पर **lDlkQku** सरीखा वाद्य बजाती महिला का चित्र अंकित है जिससे पता चलता है कि जैन समाज में संगीत का प्रचलन था और वाद्यों का प्रयोग किया जाता था। (चित्र संख्या –9)

dyk'k ior fnxcj tu efnj – यह मंदिर 131 फीट ऊंचा है। इसका निर्माण जैन धर्म के प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभदेव की निर्माण–शैली मानसरोवर में स्थित कैलाश पर्वत के रूप में किया गया है। यहां भूतकाल, वर्तमान काल और भविष्यकाल के तीनों चौबीसी के 72 मंदिर बने हुए हैं। सबसे ऊपर सवा ग्यारह फीट ऊंची पद्मासन अवस्था में श्री ऋषभदेव भगवान की प्रतिमा विराजमान है।[13] बाहर मुख्य द्वार पर छोटे–बड़े आकार के घंटे टंगे दिखाई देते हैं जिससे जैन समाज के संगीत–प्रेमी होने का आभास होता है। (चित्र संख्या –10)

fu"d"k %

इस शोध–पत्र में गढ़मुक्तेश्वर और हस्तिनापुर के प्रमुख धार्मिक और ऐतिहासिक स्थलों का अध्ययन किया गया है, जिनमें गढ़मुक्तेश्वर के कल्याणेश्वर महादेव और गंगा मंदिर तथा हस्तिनापुर के कर्ण मंदिर, पांडेश्वर महादेव और जयंती माता शक्तिपीठ–जैसे स्थल शामिल हैं। ये स्थल न केवल हमारी प्राचीन वैदिक सभ्यता और महाकाव्यों से जुड़े हुए हैं, बल्कि भारतीय इतिहास और संस्कृति की अनमोल धरोहर भी हैं।

इस अध्ययन के माध्यम से यह महत्वपूर्ण रूप में परिलक्षित होता है कि हम इन स्थलों को संरक्षित करें और इनके ऐतिहासिक और धार्मिक महत्व के बारे में लोगों को जागरूक करें। इन स्थलों की पौराणिक कहानियों और धरोहरों को भावी पीढ़ियों के लिए सुरक्षित रखना हमारा कर्तव्य है।

अतः हमें चाहिए कि हम इन स्थलों की यात्रा और अध्ययन को बढ़ावा दें, ताकि लोग अपनी सांस्कृतिक जड़ों से जुड़े रह सकें। इसके अलावा, स्कूलों, कॉलेजों और समाज में कार्यक्रमों के माध्यम से जागरूकता फैलाना आवश्यक है, जिससे युवा पीढ़ी इन ऐतिहासिक स्थलों के महत्व को समझ सके।

सरकारी और सामाजिक स्तर पर इन स्थलों के संरक्षण के लिए प्रयास किए जाने चाहिए ताकि ये अनमोल

धरोहर सदियों तक सुरक्षित रह सकें। हमारी संस्कृति और इतिहास की पहचान के रूप में, इन स्थलों को संरक्षित करना न केवल हमारी जिम्मेदारी है, बल्कि हमारे लिये गर्व की भी बात है।

चित्र संख्या – 1 (मुक्तेश्वर महादेव–गढमुक्तेश्वर)

चित्र संख्या – 2 (गढमुक्तेश्वर वर्तमान स्वरूप)

चित्र संख्या–3 (कल्याणेश्वर महादेव)

चित्र संख्या – 4 (गंगा मंदिर–गढमुक्तेश्वर)

चित्र संख्या – 5 (कर्ण मंदिर उपलब्ध वाद्य)

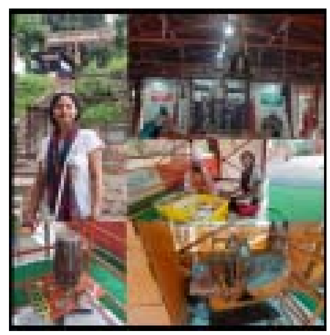

चित्र संख्या – 6 (जयंती माता शक्ति पीठ)

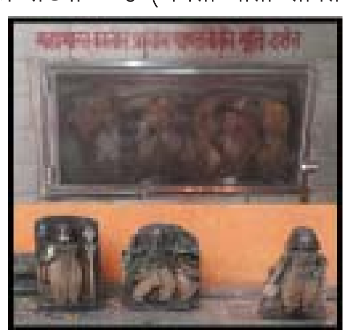

चित्र संख्या – 7 (पांच पांडव मूर्ती एवं प्राप्त अवषेश)

चित्र संख्या – 8 (पांडेश्वर मंदिर)

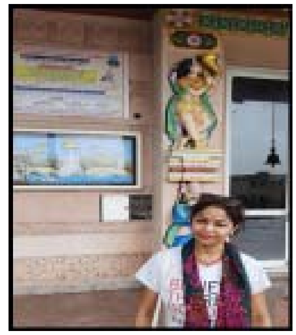

दिगंबर जैन प्राचीन बडा मंदिर एवं दीवार पर अंकित वाद्य यंत्र वादिका का चित्र

चित्र संख्या – 10 (कैलाश पर्वत दिगंबर जैन मंदिर)

संदर्भ सूची :

1. https://him.wikkipedia.org
2. redgostories.com
3. Tva Bharatvarsh https://www.Tva hindi.com and https://sahas.in
4. संकलन गढ़मुक्तेश्वर– प्रकाशक, श्री महंत महेश गिरी (गढ़ मंडल), श्री पंच दशनाम जूना अखाड़ा मुक्तेश्वर महादेव, गढ़मुक्तेश्वर (हापुड़)
5. हस्तिनापुर, अमर उजाला डॉट कॉम–लेख–डिंपल सोनी– 24 जनवरी 2021, मेरठ वाणी डॉट कॉम– 23 नवंबर 2022, भक्ति भारत डॉट कॉम–7 नवंबर 2021
6. टी वी ए भारतवर्ष हिंदी डॉट कॉम–13 अक्टूबर 2023
7. जागरण डॉट कॉम–2 मार्च 2020
8. महर्षि वेदव्यास द्वारा रचित– श्रीमद् देवी भागवत महापुराण (भाषा)– अध्याय 30– सप्तम स्कंध– पृष्ठ संख्या 303 से 305 में वर्णित
9. मेरठ वाणी डॉट कॉम–23 नवंबर 2022, स्टूडियो धर्म डॉट इन–11 सितंबर 2020
10. Hindi.news18.com 20 Jan 2023
11. अरिहंत, 2019 और नो योर स्टेट उत्तर प्रदेश, पृष्ठ संख्या 249
12. कुमार, (पुस्तक का नाम अज्ञात) 2020, पृष्ठ संख्या 142
13. https://en.wikkipedia.org

Ganjam District: A Window of Folk Performance : With Special Reference to Prahlada Nataka

Dhananjay Kumar*
Dr. Niraj Kumar**

Abstract

Prahlada Nataka is a highly stylized theatrical performance of Odisha. Generally, Prahlada Nataka means play or drama. This tradition is not very old, but the theatrical elements and forms it embodies are very rich, like any other folk, classical, or traditional performance. This performance started and flourished in the court of Raja Ramakrishna. Prahlad Nataka is an exemplification of great success because of its style and presentation, which are unique, very attractive, and entertaining. The performance is simplistic, with long texts and some long-duration acts. Prahlada Nataka has one hundred and twenty songs in a play. Many ragas, talas, and songs are interconnected through dialogue. The text was taken from the Nrusingha Rasa of the 18th century and was written by Natabara Bhramarabara. (Pattanaik, 1998) It is based on the mythological story of Bhakta Prahlada and the demon king Hiranyakashipu. Often, performances are held on an open stage in the village street or on temple grounds. The makeup and costumes of the characters are similar to those of Terukkuttu in Tamil Nadu and Yakshagana in Andhra Pradesh (Lal, 2004). This paper focuses on a brief study of Prahlada Nataka's performance and covers various aspects of performance tradition and the present status. This paper is intended to inspire the younger generation, motivate them to study and preserve their culture, and also attract them to relook at their folk performances in the twenty-first century.

Keywords: *Prahlada Nataka, Ganjam District, Tradition, Mythology, Performance.*

Methodology: *The paper will be based on secondary sources mostly involving analysis and interpretation, comprising of digital and traditional sourcessuch as YouTube videos, digital and soft content available on the internet, magazines, books, journals, textbooks, report, paper, photos, and e-books. The methodology involves the analysis and interpretation of available secondary sources on various platforms.*

Introduction :

Prahlad Nataka is a play or act performed on the cult of Bhakta Prahlad and therefore deeply rooted in Indian mythology. Prahlad Nataka's performance is a true combination of an art form that represents true Indian wisdom by incorporating tribal elements, classical elements, and the folk element of Odisha. The Prahlad Nataka involves loud music, high-note singing, highly energetic dance steps, dramatic dialogue delivery, regional Indian acrobatics, and many other specific skill sets demanded from the performer. Rural populations express themselves through various art forms, including song, dance, and plays. The rural people of India are the only hand-holders and whole-souls of these art forms prevalent in rural India. Most of the folk performances are

*Assistant Professor (Drama/Theatre), Department of Education, Mahila College, Chaibasa,

**Assistant Professor of Performing Arts (Theatre Arts), Department of Liberal Arts, Tripura University (A Central University)

exclusively associated with the religious culture of India. The performance follows a set of religious rituals. Even in modern times when these folk art forms are in deep thread from digital entertainment still, the villagers are the participants and patrons of these art forms.

Prahlada Nataka is a highly stylized theatrical performance of Odisha, prevalent especially in the Ganjam district. The play is written in Sanskrit and the colloquial Odia language. Generally, Prahlada Nataka means a play or drama. In the performance, the act will be highly dramatic and combined with raucous music. The tradition of Performance is not very old, but what it embodies is very rich, like classical and traditional forms of theatre. One can say that within all performances spectrum among the Odia land the Prahlada Nataka of Ganjam district is prominent. Ganjam is known for PrahladaNataka where this form of theatre is prevalent. Prahlada Nataka has a total of 18 feudatory chiefs who used to call themselves Rajas. They were big landholders or zamindars with zamindari, but their financial position was not perfect, Raja's were great patrons of art, culture, and literature. The state of Odisha is known as a culturally fertile land in India. In Odisha, there are noted poets of medieval Odia like Upendra Bhanja, Kavisurya Baladev Rath, and Gopalkrishna Pattanaik. All of these poets belong to the Ganjam district. Their music and drama are quite popular, but the lyrics are more prominent and are sung almost in every house in Odisha. In the late 19th century, Raja Ramakrishna was ruler of Jalantar, Presently situated in Srikakulam district, Andhra Pradesh. The Raja was not only a great lover of poetry but also of dance, drama, and music. He ruled from 1857 to 1905. It is he who first practised and introduced Prahlad Nataka. According to history, Raja was a liberal patron of the arts. He ran into debate and could not pay the annual revenue to the British Governor. That's why the British government sold the state to the Raja of Vijayanagar.

According to history, Ramakrishna Chhotray was written by Gopinath Parichha and belonged to the Paralakhemundi. A feudatory state joined Jalantar. It was popularized and flourished by the court of King Raja Ramakrishna. Mistakenly some historians have mentioned his name as the author of the play. The play was a great success because its popularistic style of staging and presentation which became very famous. It was written by Rajas Kishore, Chandra Harichandan Jagadeb, Ray of Surangi, Padamanava Deo of Paralaakhemundi, and Ramchandra Sur Deo of Tarala. These are all plays written by court poets and patronized by the king. Later on, all the plays were edited and published by the government of Odisha, and the manuscripts were preserved in the Madras Oriental Manuscript Library. These all manuscripts were collected in 1938 for public use.

Prahlada Nataka's performance style and the sense in which it is being presented are in contrast to classical dramas. It has long text and some long-duration scenes or acts. It is near the Suanga folk theatre form of Odisha (*Pattanaik, 1998*). In the Prahlada Nataka performance, all the characters sing, dance, and act. The associations of Prahlada Nataka with the suanga folk theatre are highlighted by the varied scholar mostly due to the mythological similarities. The suanga plays mostly represent the mythological story (*Lal, 2004*). The play has twenty male characters and five female characters. Besides the gahtaka, there is a chief singer and commentator, the chorus instrumentist. Saraswati, Diti (Hirnayakashipu mother), Kayadhu or Leelavati (his wife), Bhudevi, God of Earth, Dasi (maidservant) - these are all female characters, and Lord Ganesha, Brahma, Indra, Narada, Hiranyakashipu, Prahlad, Mantri, Shukracharya

Chandramarka (son of Shukracharya), Rishi, Sutradhara, Clara, Dwari, Senry, Asura, Balika, Gajikarna, Mahunta Shahpura, Kapta, and Narsimha are all male characters.

In the Prahlad Nataka performance, the Ghat (chief singer) plays an important role in the entire act. He is the chief singer of the Nataka due to which he is qualified to sing the specified songs in the play. He sings in praise of the gods and goddesses. When he is on the stage, his dialogues are in Sanskritized Odia language. The gataka plays the harmonium and sings mostly the tarasptak or tevrasaptak, and the chorus always sings, supports, and plays the cymbals.

In the performance, there are four pairs of cymbals two drums (mardala), two long trumpets (used only for hearing the appropriate entry of the king), a mukhaveena (like a shehnai or wind instrument), and sometimes conch when Narsimha enters the stage. All musical instruments stand behind the gataka. The drumming and playing are always being played on high notes.

Prahlada Nataka uses more than 120 songs and the songs set the mood with the usage of the particular ragas and talaas. Therefore, one can find the enormous use of traditional tunes in music including raga, tala and lylics, the use of traditional ethnic tunes is the main reason that music is more dominant in the play or performance. Equally more often the songs are linked with the dialogues in the whole performance. The song is sung in the traditional style with localized flavour. Every scene opens with the loud music played by the orchestra team. At the time of opening any of the new scenes, the use of mandala is very unique, evident with the use of peculiar patterns of talas. Among the local audience, musical characters are very popular, which is being referred to as Sangeet Pralaad Nataka (*Jiban, 2004*).

The theme of the Nataka is exclusively based only on the mythology. According to Indian mythology, Brahma is the god of creation, Vishnu is the god of preservation, and Mahesh (Lord Shiva) is the god of destruction. As per Hindu belief lord Vishnu took ten avatars on the earth. In the play lord Vishnu represents the creation of Narasimha in the half-men and half-lion avatar in Prahlada Nataka. In Purana, each avatar is elaborately described, like the matsyapurana, kurmapurana, varahpurana, etc. Narasimha Purana was written in the 14th century by Pitambar Das, one Natabara Bharamarabara also wrote Nrusimbha rasa in the 18th century.

One mythological story is also connected with Prahlada Nataka. The story behind the incarnation of the lord is- that Hiranyakashipu had a brother who himself was involved in dragging the earth into the ocean, Lord Vishnu rescued the earth and killed the demon by taking the incarnation of boar (barahaavatara). This is the main reason why Hiranakyakashipu decided to take revenge on Lord Vishnu. After many years of remaining patient and offering service to lord Brahma, he won the blessings of Lord Brahma (the god of creation), who gave a wish that he would not be killed in the day or at night by a weapon or by any human-made arms, inside or the outside the house. No man, nor god, or neither any demon will kill you that is the time when Hiranyakashipu feels nobody on earth is good enough to kill him. A few days later, he declared himself God and hated people who prayed to Lord Vishnu. But planned by God, Vishnu decided to bhakt Prahlada, who was born as the son of Hiranyakashipu. Bhakta Prahlada always prays to Vishnu. That's why Hiranyakshipu always angers his son Prahlada and gives hints: don't pray to Vishnu; he is not a god; he is a lire; I am the god. Many times, Hirnayakashipu warns Prahlada, but Prahlada does as usual. At that time, Hirnyakashipu wanted to kill Prahlada but

always failed due to the effects of Lord Vishnu Bhakti. Every attempt to kill his son failed, as he protected himself with the blessing of God Vishnu. One day King Hirnayakashipu asked his son Pralada, Where is your God? Show me. Then Prahlad told him that God Vishnu was everywhere, even in the pillars of the house. From the pillar the lord Narasimha emerged, with a man and half lion, appearing neither in day nor at night, without the use of any weapon, neither inside nor outside, not man or animal, not a god nor a demon Narasimha is the combination of men and lion posture. Narsimbha held Hirnakashipu to lie on his lap; he tore apart his belly with sharp clowns and killed Hirnakashipu.

PrahladaNataka performance is held in an open area of the street or temple premises. In the performance, generally, a wooden platform used which provide the height to the whole performance, especially the Hirnayakashipu position is being placed high through the use of a wooden platform. During the entire performance, Hirnayakashipu's position is placed high and shown elevated to the audience through the small technique of a wooden platform. Wooden platform elevate his character and enhances him as a king in the play. Performance spaces are 20 x 30 feet and covered with plastic or sometimes clothes.

In general, in every folk performance actors always use makeup. As usual, it is evident in PrahladaNataka where actors also apply makeup and use suggestive costumes. Narasimha uses sandal paste applied to the forehead and a mask that is made of softwood and brightly painted in dark green and red. A few masks are very old, more than 100 years; these masks are marks preserved in the temple by the villagers (*John Emigh and Kapila Vatsayan, 1994*). As one can see most Indian folk or ritual performances start with prayers, therefore, the practice is common and often similar to Prahlada Nataka, which starts with music, loud drumming and prayers. In the prayer Sutradhara, pray to Bigneswara (Lord Ganesha), the son of Lord Shiva. The boy enters of stage and takes a position like Lord Ganesha, The rest all the character prays to lord Ganesha and take blessings for the success of the performance. Ganesha in his blessing says: "Kalyana Kalyana Kalyana" after Ganesha's prayer. The God of Knowledge, Saraswati, is being asked to give blessings. Once all ritualistic affairs are performed and end the main performance is staged by the performer.

The full performance takes almost 12 hours to perform, it starts at night and ends in early morning. Many times, two teams perform the same scene due to competition in acrobatics, athletics, singing, dancing, and many more because the actors are the most skilled in all these things. A child actor starts the performance at five or ten years old, and slowly he becomes a master of his craft. In Prahlada Nataka, all characters are dressed beautifully, especially Hirnayakashipu, who wears a beautiful long brown beard and moustache. In dressing up, many characters in Prahlada Nataka wear Churidaarpyjama, turbans, etc.

The form of survival

Today's few Prahlada Nataka groups are run by villagers, and many groups leave the performance due to an economic crisis. Most actors are unpaid, and gurus live in poverty condition. Nowadays, faster access to the internet is also a major reason for the low interest in performance and therefore, it poses a big challenge to the folk performance group. Some amateur groups perform at fairs and festivals due to their inherent entertainment quality and due to social association with the performances. These days, the government also organizes some programs for preserving performances, which are operated by Sangeet Natak Academi, Odisha,

Sangeet Natak Akademi, New Delhi and through various government institutions and agencies.

Conclusion

In this study, an attempt is being made to find and record the origin, confront the history, and enquire about the religious association with the nature of the performance of Prahlad Nataka.

Nowadays, performance is decreasing due to inactive youth and the new start from Sutradhar Nataka performance switch to again cycle and predict performance, but continuously increasing digital platform in the 21st era, so audience lost. Odisha's culture is exceptionally vibrant than that of other states in India. Indian culture of the countries, so we have to talk and we have to respond to preserve the culture, so we have to organize time-to-time performances and domestic festival events to do and perform, and our perspective is also to lose the performance shift and come cultures to revive in the Ganjam district and Odisha.

References :

- Emigh, J. (2013). Crisis and contestation in the Prahlada Nataka of Ganjum. Pushulla publication, 01-07.
- Emigh, J. (1996). Masked performance; the play of self and others in ritual and theatre. United States of America: University of Pennsylvania Press, Philadelphia.
- Jiwan, P. (2004). Back to the roots: essays on the performing arts of India Delhi: Manohar Publishers and Distributors.
- John Emigh and Kapila Vatsayan . (12/01/1994). Seminar on the Orrissan theatrical tradition of Prahlada Nataka. Delhi: IGNCA Delhi.
- Lal, A. (2004). The Oxford Companion to Indian Theatre. New Delhi : Oxford University Press.
- Pattanaik, D. N. (1998). folk theatre of Orissa. Bhubaneswar : Orrisasangeetnatakakademi.
- Satapathy, M.K.(2016). Festival & folk theatre of Odisha,surbhi publications, Gurgaon.

Other sources -

- Internetzone.com-prahladanataka
- https://www.odisha.live-prahlada natakaganjam folk theatre/amalokakalaamasanskruti.

mÙkjiwoZ dh dyk ij Lekjd Mkd&fVdV

Mk- fou; iVsy*

lkjka'k

भारतीय संस्कृति की पहचान विभिन्न कला, कला–संस्कृतियों और कलाकारों से है । भारतीय सांस्कृतिक इतिहास को नई दिशा कलाकार के गुण तत्वों ने प्रदान किया है । भारतीय संस्कृति का प्रचार–प्रसार स्मारक डाक टिकटों के द्वारा भी किया जाता रहा है । यह डाक टिकट बहुत छोटे और रंगीन होते हैं जिनकी सुन्दरता और भव्यता ने लोगों को अपनी ओर आकर्षित किया है । स्मारक डाक टिकटों में उत्तरपूर्व भारत की कला के मनोरम इतिहास को इस शोध–पत्र में प्रस्तुत किया गया है । ये टिकट ऐतिहासिक घटनाओं को स्मरण कराता है । इन डाक टिकटों में भारतीय पारंपरिक कल्पना को समाहित किया गया है जो बीते हुए कल की कथा–कहानियों में विद्यमान थी ।

इस शोध–पत्र में उत्तरपूर्व भारत की कला–परंपरा और उनके कला–कौशल को स्मारक डाक टिकटों के माध्यम से दिखाया गया है क्योंकि उत्तरपूर्व भारत की कला को स्मारक डाक टिकटों की श्रेणी में बहुत ही कम दिखाया गया है।

lwpd 'kCn % *उत्तरपूर्व की कला, पुरी की कला, उड़ीसा की कला, जगन्नाथ की कला, पारंपरिक कला।*

'kksèk&ekè;e % *द्वितीयक*

ifjp;

भारत अनेक संस्कृतियों का संगम है। चारों दिशाओं में फैली हुई कलाएँ और उनकी विशेषताएं ही भारत को सम्पूर्ण करती हैं। उन्हीं में से एक है उत्तरपूर्व की कला जिसे 'उड़ीसा' भी कहते हैं। ओडिशा के मंदिर मुख्यतः भुवनेश्वर, पुरी और कोणार्क में स्थित हैं। ओडिशा वास्तुकला की अपनी पहचान में देउल (गर्भगृह के ऊपर उठता हुआ विमान तल, जगमोहन (गर्भगृह के बगल का विशाल हॉल), नटमंडप (जगमोहन के बगल में नृत्य के लिये हॉल), भोगमंडप, परकोटा तथा ग्रेनाइट पत्थर का इस्तेमाल शामिल है। भुवनेश्वर का लिंगराज मंदिर, पुरी का जगन्नाथ मंदिर, कोणार्क का सूर्य मंदिर इस शैली के श्रेष्ठ उदाहरण हैं। सूर्य मंदिर (कोणार्क) का निर्माण गंग वंश के शासक नरसिंह देव प्रथम ने किया था। कोणार्क के सूर्य मंदिर को यूनेस्को की विश्व विरासत सूची में भी शामिल किया गया है। कोणार्क के ब्लैक पैगोडा (सूर्य मंदिर) के अतिरिक्त उत्तराखंड के अल्मोड़ा में कटारमल सूर्य मंदिर है।

चित्र (1)

जगन्नाथ पुरी, जारी 15 सितम्बर 2003, मूल्य 5 रुपया

jFk ;k=k] iqjh mM+hlk& आषाढ़ शुक्ल द्वितीया को रथयात्रा का पर्व मनाया जाता है। यह उड़ीसा में मनाया जाता है क्योंकि जगन्नाथ पुरी मंदिर भारत के प्रधान चार धामों में से एक है जो उड़ीसा में समुद्र–तट पर स्थित है। वर्ष में एक बार मंदिर में रखी प्रतिमाओं को रथ में बैठाकर नगर यात्रा कराई जाती है जिससे सनातन धर्म या हिन्दू धर्म का संरक्षण हो सके और प्रचार–प्रसार तेजी से प्रति वर्ष प्रकाशमय होता रहे।

यह मंदिर उड़ीसा के शहर पुरी में स्थित है। यह मंदिर हिन्दुओं के देवता विष्णु और कृष्ण को समर्पित है। इस मंदिर की विशेषता यह है कि इसके शिखर पर लगा हुआ झंडा हमेशा हवा के विपरीत दिशा में लहराता है। मंदिर के शिखर पर सुदर्शन चक्र भी लगा है। यह मंदिर

*असिस्टेन्ट प्रोफेसर (एप्लाइड आर्ट्स), स्कूल ऑफ फाइन आर्ट्स एण्ड डिजाइन, नोएडा इन्टरनेशनल यूनिवर्सिटी, गौतम बुद्ध नगर, उत्तर प्रदेश

कलिंग वास्तु–शैली के देउल–शैली में बना है। इस मंदिर की स्थापना में कई किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं। यह मंदिर 12वीं शताब्दी में प्रकाश में आया। इस मंदिर में एक अरुण स्तम्भ है जिसे कोणार्क के सूर्य मंदिर से लाकर यहाँ स्थापित किया गया। इस स्तम्भ के शीर्ष पर सूर्य के सारथी अरुण की प्रतिमा बनी है। मंदिर के पूर्वी द्वार पर सिंह द्वार है जिस पर सिंह की दो मूर्तियाँ बनी हैं, और द्वार के दोनों ओर विष्णु के द्वार–पाल जय और विजय की खड़ी प्रतिमा को निर्मित किया गया है। इसके अतिरिक्त तीन अन्य द्वार भी हैं जिन्हें 'अश्वद्वार', 'गजद्वार' और 'व्याघ्रद्वार' कहते हैं। इस मंदिर में जगन्नाथ, बलराम और सुभद्रा की प्रतिमाएँ हैं जो नीम की लकड़ी से बनाई गयी हैं। इन मूर्तियों को प्रत्येक बारह साल में बदला जाता है, जिसके लिए अनुष्ठान किया जाता है, उसे 'नव कलेवर' कहा जाता है। मंदिर के गर्भगृह में तीन पीठिकाएं हैं जिसे 'रत्नवेदी' कहते हैं। इसका अर्थ है रत्नों का सिंहासन। इस वेदी पर सुदर्शन चक्र, श्रीदेवी, भू देवी और मदन मोहन की मूर्तियाँ उत्कीर्ण की गयी हैं। मंदिर के शिखर के ऊपर अष्टधातु में बना चक्र है जिसे 'नील चक्र' या 'श्री चक्र' कहते हैं। मंदिर में कई अन्य मंदिर भी हैं, जैसे–विमला देवी मंदिर, महालक्ष्मी मंदिर आदि। इस मंदिर की विशेषता यहाँ का रथयात्रा उत्सव है। इस मंदिर में केवल हिन्दुओं को ही प्रवेश करने की अनुमति है।

उड़ीसा का प्राचीन नाम उत्कल प्रदेश था। यह एक प्रसिद्ध बंदरगाह था। जहाँ जावा, सुमात्रा, इंडोनेशिया, थाईलैंड आदि अन्य देशों से व्यापारिक सम्बन्ध था। विष्णु को 'नीलमाधव' भी कहा जाता था। ये सब जनजाति के देवता थे। यहाँ के लोग अपने देवता की मूर्ति लकड़ी की बनाते थे। उड़ीसा को श्रीक्षेत्र, श्रीपुरुषोत्तम क्षेत्र, शाक क्षेत्र, नीलांचल, नीलगिरी और जगन्नाथपुरी भी कहा जाता है। पुराणों में कई कथाएं हैं, इस मूर्ति के सम्बन्ध में। इस मंदिर का निर्माण मालवा के राजा इंद्रद्युम्न ने कराया। यह मंदिर कई बार टूटा और कई बार बनाया गया। इस मंदिर का निर्माण–कार्य सन् 1078–1148 कलिंग राजा अनंतवर्मन चोडगंग देव ने शुरू कराया था। इसके बाद उड़ीसा के राजा अनंग भीम ने सन् 1197 में इस मंदिर को वर्तमान रूप दिया। यह मंदिर 4,00,000 वर्गफुट चहारदिवारी से घिरा है। यह डाक टिकट 15 सितम्बर 2003 में जारी किया गया। इसका मूल्य 5 रूपये है। यह मिश्रित रंग में बना है।

चित्र (2)

त्रिपुरेश्वरी उदयपुर, जारी 15 सितम्बर 2003, मूल्य 5 रुपया

f=ij'ojh efnj] mn;ij& त्रिपुर सुन्दरी हिन्दू धर्म के एक्यावन शक्तिपीठों में से एक है। सती के अंग के अंश, वस्त्र, आभूषण जहाँ–जहाँ गिरे, वे 'शक्तिपीठ कहलाये। ये शक्तिपीठ पूरे भारत में कई स्थानों पर हैं । दक्षिणी त्रिपुरा का मुख्यालय उदयपुर है। पहले त्रिपुरा की पुरानी राजधानी उदयपुर थी। त्रिपुर मंदिर का आकार कुर्म के आकार का है। इस मंदिर में लाल काली कास्टिक पत्थर की बनी काली की मूर्ति है जिससे इसको त्रिपुरेश्वरी मंदिर कहते हैं। यह टिकट 15 सितम्बर 2003 में जारी किया गया। इसका मूल्य 5 रूपये है। यह मिश्रित रंग में बना है।

चित्र (3)

रथयात्रा पुरी, जारी 2 जुलाई 2015, मूल्य 5 रुपया

uodyoj Jh txUukFkèkke ijh] mMhlk&

जगन्नाथ स्थान पुरी में है और नवकलेवर जगन्नाथ के मंदिर से सम्बंधित एक अनुष्ठान की प्रक्रिया है। इसके अंतर्गत जगन्नाथ, बलभद्र, सुभद्रा और अर्जुन की पुरानी प्रतिमा को हटाकर नई प्रतिमाएँ रखी जाती हैं जिसे 'जीर्ण बेर परित्याग' कहते है, इसका अर्थ है पुरानी देव प्रतिमा के स्थान पर नई प्रतिमाएँ रखना, प्रतिमाओं की प्राण–प्रतिष्ठा करना। ये प्रतिमाएँ दारू ब्रम्हा नाम की विशेष लकड़ी से बनाई जाती है। प्राचीन–परम्परा के अनुसार मंदिर के पुजारी काकतपुर मंगला मंदिर में मंगला देवी की आराधना करते हैं। पूजा से प्रसन्न होकर देवी स्वप्न में उन्हें वृक्षों का पता बताती हैं। प्रतिमाओं के परिवर्तन में

मंदिर में रखे गये ताड़–पत्रों पर लिखित दस्तावेज संस्कृत पाण्डुलिपि में मिलता है। मंदिर के तीन पुजारियों को ही इसे पढ़ने की आज्ञा है। डाक टिकट व प्रथम दिवस आवरण और विरूपण अलका शर्मा ने बनाया। यह टिकट 12 जुलाई 2010 को जारी किया गया। इसका मूल्य वर्ग 500 पैसा है। मुद्रित टिकटें 6 लाख और प्रक्रिया वेट ऑफसेट हैदराबाद द्वारा मुद्रित है।

चित्र (4)

पोंगल, जारी 12 जनवरी 2006, मूल्य 5 रुपया

ikxy& 'पोंगल' दक्षिण भारत का एक प्रसिद्ध त्योहार है। यह चार दिनों का होता है। इस त्यौहार को जनवरी महीने में मनाया जाता है। तमिलनाडु में हल्दी को बड़ा ही पवित्र माना जाता है। हल्दी, धान और ईख की फसल एक साथ खेतों से निकलती है। इस दिन लोग अपने पालतू पशुओं की पूजा कर उनके मस्तक पर हल्दी कुमकुम लगाकर पुष्पहार पहनाते हैं। यह त्यौहार किसानों का त्यौहार है। इस दिन सूर्य की पूजा–अर्चना की जाती है। मुख्यतः 14 या 15 जनवरी को मनाया जाता है। पोंगल के पहले दिन इंद्र की पूजा की जाती है। 'पोंगल' शब्द के दो अर्थ हैं, पहला यह कि इस दिन सूर्य को प्रसाद अर्पित किया जाता है जो 'पोंगल' कहलाता है तथा दूसरा तमिल भाषा में पोंगल का अर्थ होता है 'अच्छी तरह उबालना'। सूर्य के मकर राशि में प्रवेश करने पर उत्तर भारत में 'मकर संक्रांति' मनाई जाती है तो वहीं दक्षिण भारत में 'पोंगल' मनाया जाता है। पारंपरिक रूप से तमिलनाडु में लोग दूध से भरे हुए बर्तन को ईख, हल्दी या अदरक के पत्तों को धागे से सिलकर या बांधकर आग में पकाते हैं। फिर उसमें चावल डालकर खीर बनाते हैं। यही पोंगल कहलाता है। पोंगल का पहला दिन भोगी पोंगल, दूसरा दिन सूर्य पोंगल, तीसरा दिन मट्टू पोंगल और चौथा दिन कन्या पोंगल होता है। पहले दिन घर की सफाई, दूसरे दिन सूर्य की पूजा, तीसरे दिन बैल की पूजा और चौथे दिन कन्या की पूजा काली मंदिर में की जाती है। पोंगल की कथा मदुरै के पति–पत्नी कण्णगी और कोवलन से जुड़ी है। इस त्यौहार से जुड़ी कई किंवदंतिया भी प्रचलित हैं।

यह टिकट 12 जनवरी 2006 में जारी किया गया। यह डिजिटल डाक–टिकट है। इसका मूल्य 5 रूपये है। यह मिश्रित रंगों में छापा गया है। चित्र के अग्रभाग में दूध से भरा हुआ घड़ा रखा है। उसके समीप ही केला नारियल आदि फलों से भरी हुई थाली रखी है। बायीं तरफ एक सफेद गाय अपने बच्चे को दूध पीला रही है। चित्र के केंद्र में दो बैलों के जोड़े को दिखाया गया है और उसके पीछे कांधे पे हल रखे हुए किशन को दिखाया गया है। नारियल के वृक्ष, ग्रामीण दृश्य, महिला, उगते हुए सूर्य और अनाज की बाली को दिखाते हुए सम्पूर्ण चित्र को हर्षोल्लास रूप में चटक रंगों से चित्रित किया गया है। पोंगल का यह त्यौहार उड़ीसा और असम में भी मनाया जाता है जिन्हें अलग–अलग नामों से जाना जाता है।

चित्र (5)

नुपीलाल जारी 10 अक्तूबर 2004, मूल्य 5 रुपया

u|ih yky vkUnksyu & यह आन्दोलन मणिपुर की महिलाओं का आन्दोलन था जो सन् 1939 को मणिपुर के राजा तथा अंग्रेजों के साम्राज्यवादी नेतृत्व को समाप्त करने के लिए किया गया। इस आन्दोलन में यह मांग की गयी थी कि मणिपुर के राजा सर चूंडचंद सिंह को यह याचिका दी गयी कि विधान परिषद् की स्थापना की जाय और परिषद् के सदस्यों में से दरबार के सदस्य मनोनीत किये जायें किन्तु ये मांगें पूरी नहीं की गयीं और कटाई के मौसम में अचानक चावल की कीमत को बढ़ा दिया गया। उस समय व्यापारियों का राज्य के चावल व्यापार पर एकाधिकार था। यह आन्दोलन 1939 से 1940 तक चला। प्रशासनिक सुधार के लिए यह आन्दोलन किया गया। इस आन्दोलन में महिलाओं को आहत किया गया और उनके साथ बर्बरता की गयी, कई महिलाओं को जेल में डाल दिया गया। इस दिन को 'नुपी लाल दिवस' के रूप में मनाया जाता है। डाक टिकट और प्रथम दिवस आवरण

का आलेख सुरेश कुमार द्वारा और विरूपण अलका शर्मा द्वारा किया गया। टिकट का मूल्यवर्ग 500 पैसे हैं, तकनीक फोटोग्रेव्योर, मुद्रित टिकटें आठ लाख, भारत प्रतिभूति मुद्रणालय, नासिक द्वारा किया गया।

fu"d"k %

भारत की कला एक अनोखी कला है। ये तीज–त्यौहार समान्यजन के हर्षोल्लास का प्रतीक है किन्तु एक खास विचारधारा ने इस पर अपना आधिपत्य जमाकर इसे अपने अधीन कर लिया और इसको धार्मिक रूप दे दिया । यह त्यौहार लोगों के मानसिक गुलामी का भी प्रतीक है जो धर्म और काल्पनिक कथाओं को और अपने पूर्वजों के संघर्ष को भुलाते हुए इस विचारधारा का समर्थन करते हैं। किसी भी तीज–त्यौहार को मनाने से पूर्व उनके पीछे का इतिहास देखना, जानना तथा समझना बहुत ही जरुरी है। किन्तु उस विचारधारा ने उस तार्किक सोच को लोगों में विकसित नहीं होने दिया। धर्म और आस्था दोनों ही व्यक्ति और समाज को नपुंसक बनाते हैं। इसलिए कला को कला की तरह देखना चाहिए न कि उसे धर्म–विशेष से जोड़कर नतमस्तक होना चाहिए। डाक–टिकटों में इन कलाओं को धार्मिक दृष्टि से निरुपित किया जाता है न कि वैज्ञानिक विचार से। सामाजिक रूप से फैली इस धार्मिक नपुंसकता को दूर कर ही व्यक्ति, समाज व देश का कल्याण किया जा सकता है।

सन्दर्भ सूची :

- सरकार, भारत (1986). ''भारत वार्षिक सन्दर्भ ग्रन्थ'', पटियाला हाउस नई दिल्ली, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार के गवेषण और सन्दर्भ प्रभाग द्वारा संकलित 1986 इण्डिया का हिंदी रूपांतर : पेज 51,69,60
- https://www.amarujala.com/bizarre-news/mysterious-facts-of-jagannath-puri-temple?pageId=6, Access:12.3.2021
- https://www.inditales.com/hindi/jagannath-puri-mandir-paryatak-sthal/.Access: 15.3.2021
- https://hindi.webdunia.com/sanatan-dharma-history/jagannath-mandir-pauranik-katha-119070400037_1.html. Access: 17.3.2021
- https://www.patrika.com/temples/how-jagannath-temple-built-3041461/.Access: 20.3.2021
- https://bharatdiscovery.org/india/त्रिपुर_सुन्दरी_शक्तिपीठ#gsc.tab=0. Access: 22.3.2021
- https://www.samanyagyan.com/hindi/specialday-pongal-festival.Access:10è5è2021
- https://www.patrika.com/dharma-karma/pongal-an-one-to-two-thousand-years-old-special-festival-6608448/.Access:12/52021

lxhr % ,d vkè;kfRed –f"Vdks.k

fot; lkC;ky*

संगीत का अर्थ ही अध्यात्म है। अध्यात्म यानी आन्तरिक अनुभूति। इस अनुभूति को भाषाओं के परे प्राप्त किया गया है। संगीत भी भाषाओं की विभिन्नता के परे है। अध्यात्म और संगीत दोनों मानवता में विभिन्नताओं को पीछे छोड़कर एकत्व की ओर यात्रा करवाते हैं।

संसार मुख्य रूप से दो तरह से देखा जाता है– पश्चिमी और पूर्वी दुनिया। दोनों में भाषाओं, विचारों, जीवन–दर्शन, खान–पान, रहन–सहन, ओढ़ने–पहनने की विभिन्नताएं मिल जाएंगी। किन्तु अध्यात्म के अनुभव चाहे ईसाई हों चाहे बौद्ध, चाहे सिख हों चाहे यहूदी, चाहे मन्दिरों के माध्यम से हों, चाहे गिरजों के द्वारा, दोनों दुनियाओं में एक जैसे हैं– पूरब में भी, पश्चिम में भी।

संगीत में भी दोनों दुनियाओं में एक ही अनुभव है। यह अनुभव सात सुरों का है। पूरब में सा रे ग म प ध नि।

पश्चिम में भी सात हैं C, D, E, F, G, A, B, C। ये सातों रोमन वर्णमाला– alphabet– के पहले सात अक्षर हैं। इन्हें do re mi fa so la ti की तरह पहचाना जाता है। हॉलीवुड की प्रसिद्ध फिल्म 'Sound of Music' में 'डो रे मी' गीत आज तक लोकप्रिय है। हिन्दी फिल्म 'परिचय' का गीत 'सारे के सारे गामा को लेकर गाते चले' भी एक अत्यन्त सफल गीत है। कहने का मतलब है सात सुरों की एकता– पश्चिमी संगीत में भी और भारतीय यानी पूर्व का प्रतिनिधित्व करने वाले भारतीय संगीत में भी है। यहाँ सा रे ग म आदि, वहाँ डो रे मी फा वगैरह। सात सुरों की यात्रा– सा से लेकर नि तक अध्यात्म की ही यात्रा है– 'सा' यानी साकार से 'नि' यानी निराकार तक की यात्रा। यह तो मानी हुई बात है की संगीत कि विधा में पारंगत होने के लिए एक अच्छे गुरु का सानिध्य प्राप्त होना अत्यंत आवश्यक है । साथ ही, मेहनती होना आवश्यक है और परमपिता परमात्मा की कृ पा। ये तीनों चीजें ऐसे ही नहीं मिलती हैं, इनके पीछे एक बहुत बड़ा सत्य छिपा है और वह है इंसान की प्रारब्ध की यात्रा। मेरे विचार में आध्यात्मिक यात्रा के लिए संगीत सर्वश्रेष्ठ माध्यम है, चाहे वह संगीत शास्त्रीय हो, उपशास्त्रीय हो, लोक संगीत हो, कर्नाटक संगीत हो, गायन हो, वादन हो, कोई भी विधा हो, संगीत एक साधना है, विषय नहीं। योग है, इस से कुंडलिनी शक्ति जागृत होती है जिसे संभालना अति कठिन होता है। गुरु अच्छा हो, सामर्थवान हो, शिष्य की प्रारब्ध की यात्रा यानी संस्कार, बहुत बड़ा योगदान करते हैं। असल में होता यह है कि कुंडलिनी जैसे ही जागृत होकर ऊपर की तरफ अपनी यात्रा प्रारंभ करती है, तो एक–एक चक्र और उसकी विशेषताएं उस व्यक्ति में दिखनी शुरू हो जाती हैं जिससे एक औरा बनता है उस कलाकार विशेष के इर्द–गिर्द। यह एक आकर्षण है और इस ऊर्जा को संभालना अति आवश्यक होता है परंतु हमने अपने जीवन में ऐसा बहुत देखा है कि अच्छे–अच्छे कलाकार इस ऊर्जा को संभाल नहीं पाते हैं और भोग–विलास में लिप्त होकर अपनी आध्यात्मिक यात्रा वहीं समाप्त कर मृत्यु को प्राप्त करते हैं। ठीक इसी समय अगर किसी उचित गुरु का सानिध्य प्राप्त हो जाए तो यही कलाकार अपनी अर्जित की हुई ऊर्जा को और ऊपर की तरफ ले जा सकता है और एक बार यह ऊर्जा हृदय–चक्र को पार कर जाए उसके बाद वह अपनी आध्यात्मिक यात्रा सहजता से कर सकता है। यह ध्यान रहे कि जब तक ऊर्जा आज्ञा–चक्र तक नहीं पहुंचती, तब तक उसको संभालना अति आवश्यक होता है अर्थात् गुरु का स्थान बहुत जरूरी होता है क्योंकि अगर साथ में मंजिल तक पानी को पहुंचना हो तो आप जितना भारी पंप लगा दें परंतु पानी ऊपर तक पहुंचेगा जब पहली सातों मंजिल के नल बंद होंगे । अगर किसी भी मंजिल का नल खुला रह जाए तो ऊर्जा नष्ट होने की पूरी संभावना हो सकती है। और इस ऊर्जा को संभाल कर परिवर्तित करने में सफल होते हैं, वही 'संगीत संत' कहलाते हैं जैसे स्वामी हरिदास जी। नवग्रहों में सब से महत्वपूर्ण और प्रबल ग्रह है शुक्र। बाकी ग्रह केवल शुक्र के असर को बल देते हैं या कमजोर करते हैं। धरती पर जीवन का कारण शुक्र है

*उर्फ रंगीले ठाकुर, सेवा निवृत केंद्र निदेशक, (भारतीय प्रसारण सेवा) आकाशवाणी, जम्मू

और मृत्यु भी इसी के कारण है। शुक्र एक कलात्मक ग्रह है और यह एक महत्वपूर्ण ग्रह है। शुक्र गायक, संगीतकार, और रचनात्मक कलाकारों का प्रतिनिधित्व करता है। चूँकि संगीत–रचना में रचनात्मकता शामिल होती है, इसलिए बिना किसी पीड़ा के अच्छी स्थिति में स्थित शुक्र सफल संगीतकार या गायक के लिए सबसे महत्वपूर्ण कारक है। इसको समझने के लिए ज्योतिष–विज्ञान पर भी नजर डालना उचित होगा। संगीत का ज्योतिष विज्ञान से अंतर्संबंध है–'संगीत का ज्योतिष विज्ञान से संबंध स्पष्ट करने के लिए हमें पहले ज्योतिष विज्ञान की मोटी–मोटी बातों को समझना होगा जो इस प्रकार से हैं–

(1) भारतीय ज्योतिष विज्ञान के मूलाधार ग्रह–नक्षत्र, उनकी गतियां, उनके योग–दुर्योग और उनकी प्रभाव शीलता है।

(2) सनातन धर्म के सभी शास्त्र में मानते हैं कि इस चराचर संसार का ऐसा कोई भी पक्ष नहीं है जो ग्रह–नक्षत्रों से प्रभावित नहीं है।

(3) अन्य शब्दों में कहें तो तात्कालिक रूप से ग्रह–नक्षत्र ही इस नश्वर संसार के मूलाधार, संचालक, समन्वयक, निर्देशक और निर्णयकर्ता होते हैं।

(4) पर भारतीय ज्योतिष का ये भी मानना है कि, ग्रह–नक्षत्र प्रभावक होते हुए भी अपने आप में सम्पूर्ण नहीं है। इनका मूल प्रभाव भी हमारे ही जीवन के किन्हीं कार्यों/अवस्थाओं के परिणामों के एक निश्चित चक्रीय क्रम से होता है जिसमें स्व प्रेरकत्व (induction effect) चलता–रहता है।

(5) भारतीय ज्योतिष के इस चक्रीय क्रम और प्रभाव (induction effect) के तीन भाग हैं। पहला भाग है 'कर्म'।

ये कर्म तीन भागों में बंटा है– क्रियमान कर्म (तत्काल फलित), संचित कर्म और प्रारब्ध कर्म। इन कर्मों के आधार पर ग्रह–नक्षत्रों के प्रभाव और जीवन के परिणाम निर्धारित होते रहते हैं। दूसरा भाग है– 'हमारी स्वतंत्र चेतना और ज्ञान का प्रभाव' ये जानकर आश्चर्य जरूर लगता है कि सब कुछ प्रभु के हाथ में है । तो चेतना और ज्ञान स्वतंत्र कैसे ? पर वास्तव में 'एक स्वतंत्र ज्ञान और चेतना' और कुछ नहीं, बल्कि प्रभु द्वारा दिया गया Deligation of Power है जिसका समय–समय पर audit होता रहता है। तदनुसार Deligation of power में कमी या बढ़ोतरी होती रहती है। परिणामस्वरूप हमारे ग्रह–नक्षत्र की प्रभावशीलता कम–ज्यादा होती है। तीसरा भाग है 'हमारा भाग्य (जो कर्म आधारित ही है।), गुरू–कृपा और हमारी साधना' इनके अनुसार ही अंततोगत्वा ग्रह हमें मोक्ष की स्थिति प्रदान करते हैं।

(6) अगर बहुत ही ध्यान से अवलोकन करें और निष्कर्ष निकालें तो इस संबंध में मेरा व्यक्तिगत रूप से मानना है कि, ज्योतिष विज्ञान के इन तीन भागों में मूलतः दो ही प्रकार के कार्य या परिणाम घोषित–अघोषित रूप से होते रहते हैं। वे ये हैं कि, हम किसी वस्तु, व्यक्ति, कार्य, ज्ञान, चेतना, भाव, कल्पना, अवस्था और साधना आदि से या तो 'दूर हो रहे होते हैं' या 'पास हो रहे होते हैं'।

(7) ये दूर होना और पास चले जाना एक–दूसरे के पूरक होते हैं। हम जब किसी से दूर होते हैं तो उसी समय किसी के पास हो रहे होते हैं। हम संसार में आए हैं। अन्ततोगत्वा संसार से दूर हो जाएंगे।

(8) ये दूर होना या पास होना, भारतीय ज्योतिष में सिर्फ शुक्र ग्रह करता है। मेरी व्यक्तिगत राय है कि भारतीय ज्योतिष में नवग्रहों में सिरमौर ग्रह एक मात्र 'शुक्र ग्रह' है। बाकी ग्रह तो, शुक्र ग्रह के लक्ष्यों में या तो सहयोगी होते हैं या बाधक होते हैं। जीव–उत्पति से लेकर मोक्ष तक केवल शुक्र ग्रह का ही नेतृत्त्व और नायकत्त्व होता है।

(9) जहां 'दूरियों' और 'नजदीकियों' में शुक्र ग्रह कारक है वहीं व्यक्तिगत रूप से शुक्र भावुकता, संबंध, कोमलता, स्वास्थ्य, रोग, जीव–उत्पति, मृत्यु, कला, साहित्य और संगीत का भी प्रतिनिधित्व करता है।

(10) कर्म, ज्ञान–चेतना, देव–गुरू कृपा और साधना के सम्मिलित प्रभाव से शुक्र ग्रह किसी व्यक्ति को संगीत से जोड़ता है।

(11) वैसे एक बात 'खुला रहस्य' (open secret) की तरह है कि जब शुक्र ग्रह, प्रजनन, उत्पत्ति, मृत्यु, रोग शोक, भाव, कला, प्रेम, राग, खुशी, घृणा, आकर्षण,

विकर्षण, अवसाद, साहित्य और संगीत आदि का प्रतिनिधित्व करता है। तो बिल्कुल स्पष्ट है कि, संसार का ऐसा कोई जीव या प्राणी नहीं जिसमें संगीत का कोई–न–कोई अंश नहीं होता है।

(12) 'संगीत' वास्तव में एक निश्चित आवृत्ति की ध्वनि तरंगें हैं। जब शिशु गर्भस्थ होता है तब वह लगातार अपनी माता के हृदय के धड़कनों की आवाज सुनता है। इन्हीं धड़कनों की आवाज में पलता–बढ़ता, सोता–जागता है। मां के हृदय की धड़कनें एक निश्चित आवृत्ति में होने से वो संगीत का भाग बन जाती हैं। तय है कि, हर जीव, गर्भ में रहते हुए ही संगीत से जुड़ जाता है। यही संगीत आगे उसके जीवन में हर प्रकार के संतुलन में सहायक होता है । वह तो प्रारब्ध के अनुसार मिले ग्रहों के परिप्रेक्ष्य में कोई खिलाड़ी, कोई व्यापारी, कोई कलाकार आदि बन जाता है पर सभी का एक अदृश्य संबंध लगातार संगीत से बना ही रहता है।

(13) भारतीय ज्योतिष के अनुसार, शुक को बुध ग्रह का सहयोग मिले तो संगीत–साधना मुखर हो जाती है। इसमें तर्कपूर्ण, विधिपूर्ण प्रगति के साथ व्यापार भी जुड़ जाता है।

(14) शुक्र को गुरू ग्रह का सहयोग मिले तो संगीत–साधना में प्रयोग, पद और मान मिलता है।

(15) शुक्र को चंद्र और सूर्य ग्रह का सहयोग मिल जाए तो ऐसे संगीत–साधक अच्छे गुरू या दाता हो जाते हैं।

(16) शुक्र को मंगल ग्रह का सहयोग मिले तो संगीत में संकल्प, दृढ़ता और निरंतरता बनी रहती है।

(17) शुक्र को शनि ग्रह का सहयोग मिले तो संगीत–साधना आध्यात्मिक रूख ले लेती है। यह परामनोविज्ञान, अतीन्द्रिय ज्ञान और समाधि की ओर बढ़ जाती है। जहां से मोक्ष का मार्ग सरल बन जाता है।

(18) शुक ग्रह को यदि राहु–केतु ग्रह का सहयोग मिले तो संगीत–साधना गोपनीय रहस्यों और ज्ञान की ओर ले जाती है। किसी भी समय कोई विलक्षण शक्ति प्राप्त हो जाती है। ये संगीत के दुरूपयोग और दुर्योगों की ओर भी ले जा सकती है।ये स्थिति अप्रत्याशित 'लाभ और सफलता' या 'हानि और असफलता' दे सकती है।

(19) कुल मिलाकर जातक की ज्योतिष–कुण्डली में शुक्र ग्रह बहुत अच्छा है और उसे बुध, गुरू, शनि, मंगल, सूर्य, चंद्र ग्रहों का अलग–अलग या एक साथ सहयोग मिल जाए। तो ऐसा जातक संगीत के क्षेत्र में सर्वगुणसम्पन्न हो जाता है। ये इस क्षेत्र में मील का पत्थर भी बन जाता है।

ehjkckbZ dh HkfDr lk/kuk esa laxhr dh egÙkk

çk- ¼Mk-½ vfurk jkuh*

lkjka'k

कृष्ण भक्त मीरा एक ऐसी भक्त साधिका, कवयित्री संगीतज्ञ रहीं हैं, जिन्होंने अपनी भक्ति, साधना, काव्य एवं सांगीतिक रचनाओं से मात्र जनमानस को ही नहीं, अपितु मानव मात्र को भी प्रभावित किया है। उनकी सभी रचनाएँ संगीताधारित हैं, यही कारण है कि उनके विषय में सुना जाता है कि वह अपनी भक्ति में गाते–गाते इतनी तन्मय हो जाती थीं कि सिर्फ कृष्ण सुध रहती थी, उनकी सूरत मन में रहती और रचनाएँ स्वतः ही प्रस्फुटित हो उठती थीं। शास्त्रीय संगीत हो, काव्य का विधि–विधान हो, कोई भी विचार उनकी भक्ति–भाव से ऊपर नहीं था। कृष्ण–प्रेम के अतिरिक्त कोई विचार, कोई सम्प्रदाय, कोई पद्धति उन्हें प्रभावित नहीं कर सकी। संगीत आत्मा का सौन्दर्य है यह मानसिक व्याधि की औषधि है। संगीत का सीधा संबंध अंतरात्मा से है और अंतरात्मा पूरे शरीर को प्रभावित करती है और मीराबाई को हम ऐसे ही भक्त कवियों की श्रेणी में रख सकते है। ऐसा होना कोई अस्वाभाविक नहीं है, क्योंकि भक्ति और संगीत का अटूट संबंध है, जो वैदिक युग से चला आ रहा है। इसका सहज एवं स्पष्ट कारण है संगीत का आधार नाद है और धर्म का आधार भक्ति।

eq[; 'kCn ½ *मीरा, संगीत, काव्य, भक्ति, साधना*

'kks/k&izfof/k ½ *द्वितीयक माध्यम*

मीराबाई के सभी पद संगीत के स्वरों से सराबोर हैं, उनके गीतों में उनकी आवेशपूर्ण आत्माभिव्यक्ति मिलती है। इनकी रचनाओं में श्रृंगार रस का प्रयोग प्रमुखता से किया गया है। इन्होंने वियोग–श्रृंगार तथा कहीं–कहीं शांत रस का भी प्रयोग किया है। इनके गेय पदों में कई रागों एवं छंदो का प्रयोग किया गया है।

अतः मीराबाई ने कृष्ण आराधना के साथ–साथ संगीत को एक नया आयाम पहुंचाने और संगीत में आमजन की रुचि बढ़ाने में अपना सम्पूर्ण सहयोग प्रदान किया है। संगीत में मीरा द्वारा की गयी काव्य रचना और रागों की रचना संगीत को और अधिक मनमोहक बनाती है।

वस्तुतः संगीत कला सर्वव्यापी है। विश्व का कोई भाग इसमें अछूता नहीं है। किसी–न–किसी रूप में यह सब जगह विराजमान है। विश्व का हर प्राणी किसी–न–किसी रूप में संगीत से जुड़ा हुआ है। हमारी हिन्दू संस्कृति में देवी–देवता भी संगीत के अनन्य प्रेमी रहे हैं। संगीत के द्वारा मानव–जीवन अनुप्राणित होता है।

भारतीय मनीषियों के अनुसार संगीत हृदयगत भावनाओं के प्रस्फुटन का सफल साधन है और धर्म, अर्थ, काम मोक्ष की प्राप्ति का सफल साधन माना गया है। भारतीय दर्शन के अनुसार, कला मुक्ति के लिए उपकारक है। डेजी वालिया के शब्दानुसार ''कला का अंतिम लक्ष्य भौतिक संसार से ऊपर उठकर एक ऐसी प्राकृतिक अवस्था को प्राप्त करना है, जिसमें भौतिक द्वंदों की सत्ता ही विनष्ट हो जाये।''

संगीत शब्द 'सम' और 'गीत' दो शब्दों से मिलकर बना है जिसका अर्थ होता है सम्यक् गीत। संगीत में भावों की तीव्र गति, ज्वलंत तथा हृदय को स्पर्श करने की अनुपम शक्ति है। संगीत का सीधा संबंध अंतरात्मा से है और अंतरात्मा पूरे शरीर को प्रभावित करती है और मीराबाई को हम ऐसे ही भक्त कवियों की श्रेणी में रख सकते है। ऐसा होना कोई अस्वाभाविक नहीं है, क्योंकि भक्ति और संगीत का अटूट संबंध है, जो वैदिक युग से चला आ रहा है। इसका सहज एवं स्पष्ट कारण है संगीत का आधार नाद है और धर्म का आधार भक्ति।

*संगीत (सितार) विभाग, श्रीमती बी.डी. जैन गर्ल्स पी.जी. कॉलेज, आगरा

भगवत–प्रेम की प्राप्ति के लिए मानसिक विकारों का शमन कर जो भजन गाये जाते हैं, भक्ति संगीत कहलाता है। संगीत का महान गुण है कि वह चित्तवृतियों को शांत तथा एकाग्र कर श्रोताओं को तन्मय कर देता है, इसलिए जप, तप और ध्यान से भी अधिक महत्व भजन तथा कीर्तन का माना गया है।

प्रारम्भ से भारत के देवालयों में शास्त्रीय संगीत पल्लवित हुआ जिसका अर्थ है इष्टोपासना में किया गया गायन, वादन तथा नृत्य इत्यादि सब ही लगभग शास्त्रीय संगीत पर आधारित होता था। अतः प्राचीन काल में संगीत, भजन, कीर्तन स्तुति के रूप में अपना स्थान बनाये हुए हैं। ''समय–समय पर ब्रज के भक्ति संगीतज्ञों तथा संतों आदि ने शास्त्रीय संगीत पर आधारित पदों का गान कर न केवल भावना को प्रधानता दी, वरन् शास्त्रीय संगीत के विकास एवं प्रसार में भी अभूतपूर्व सहयोग दिया।''[1]

संगीत गेय काव्य का प्रमुख तत्व है। गीत के बोलों में संगीत प्राण भर देता है। मानव ह्रदय की भावनाएँ संगीत का साथ पाकर खिल उठती हैं। जन्म से मृत्यु तक मानव–जीवन संगीत की डोर से जुड़ा है। डॉ० अरविंद के अनुसार –''संगीत के अभाव में गेय काव्य का सौन्दर्य एवं मधुरता खटकने लगती है। प्रारम्भ से ही गीत को संगीत का सहारा मिला है।''[2]

संगीत के महत्व का निरूपण करते हुये ओंकार नाथ ठाकुर का कथन है कि ''सर्वव्यापी और सहज स्वर के बिना साहित्य का श्रेष्ठतम अंग काव्य कैसे उत्कर्ष पा सकता है। काव्य को स्वर का, ताल का और संगीत का संबल चाहिये।''[3] मीराबाई के काव्य में उनके ह्रदय की सरलता स्पष्ट रूप से दिखती है। मीराबाई ने गीत काव्य की रचना की तथा उन्होंने कृष्ण भक्ति कवियों की परम्परागत पद शैली को अपनाया।

मीरा जिन पदों को गाती थी, भाव–विभोर होकर नृत्य करती थी, वे ही गेय पद उनकी रचना कहलाये।

'नरसीजी का मायरा', 'राग गोविन्द', 'राग सोरठ के पद', 'गीत गोविन्द की टीका', 'मीराबाई की मल्हार', 'राग विहाग' एवं फुटकर पद तथा गरवा गीत आदि मीरा की प्रसिद्ध रचनाएँ है।

जतिंद्र सिंह खन्ना के अनुसार– ''संगीत में राग एक ऐसा विधान है जिसके द्वारा प्रत्येक राग के विशिष्ट रागों के गाने से विशिष्ट चित्र अंकित होते है।''[4]

''राग उस गाने बजाने को कहते है जो अपने माधुर्य से प्राणी–मात्र के ह्रदय को आकर्षित कर लें चाहें वह कंठ से गाया जाय या किसी वाद्य यन्त्र पर बजाया जाय। स्वरों के कुछ मेल को, जो माधुर्य उत्पन्न कर सके, राग कहते है।''[5]

मीरा ने संगीत के सर्वव्यापी महत्व को भली–भांति समझ लिया था। प्रभु मिलन की अपनी व्याकुलता और मनोभावों को व्यक्त करने के लिए उन्होंने संगीत के सुरों में अपने मनोभावों को अपनी भक्ति भावना में प्रकट किया। संगीत के इस गेयत्व ने ही उनके पदों को अमरता प्रदान की। डॉ प्रदीप दीक्षित ने संगीत के प्रभाव के विषय में कहा है ''तुलसी, मीरा, सूर आदि के काव्यरूपी मुक्तक, यदि संगीत के धागे में न पिरोय गए होते, तो साहित्यिक दृष्टि से कितने ही उच्च कोटि के होने पर भी जन सामान्य के गले का हार न बन पाते।'' आज भी और भविष्य में भी जब किसी काव्य को कोटि–कोटि कंठो से निनादित करना होगा, तब केवल कागज पर अंकित शव्दों से नहीं, संगीत से ही कार्य सिद्ध होगा। मीरा का गायिका रूप कवियित्री रूप से अधिक प्रखर एवं प्रबल सिद्ध हुआ है।

मीरा जानती थीं कि मन की कोमलता भावनाओं की अभिव्यक्ति जितनी सुंदरता और सहजता से संगीत के द्वारा हो सकती है, उतनी अन्य किसी माध्यम से नहीं। मीरा के पदों में ,काव्य की अपेक्षा संगीत की सुगंध अधिक आती है। मीरा यह भी जानती थी कि भगवान न तो योग से मिलेगा, न श्रम से और न वैराग्य में, जहाँ संगीत का मनोहारी गायन होगा, वहीं प्रभु का निवास होगा। मीरा की रचनाओं में संगीत की कुशलता तथा माधुर्य का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है।

मनोहर विनायक राव भागवत लिखते हैं कि ''किवदंतियों से ज्ञात होता है कि मीरा 1538 के आस–पास मेड़ता को त्याग कर वृन्दावन पहुँचीं। वहाँ के भक्तियुक्त सांगीतिक वातावरण से मीरा का संगीतज्ञान और भी विकसित हुआ। इस काल तक मीरा कुशल कवियित्री, संगीतज्ञ एवं भक्तिगीत गायिका के रूप में प्रसिद्ध हो गईं।''[6]

कवियित्री भक्त संगीतज्ञा के रूप में मीरा की प्रसिद्धि संगीत सम्राट तानसेन तक जा पहुँची। एक जनश्रुति के अनुसार, तानसेन सम्राट अकबर के साथ मीरा से मिलने गये और मीरा को एक पद गाकर भी सुनाया। तानसेन मीरा से प्रभावित थे, इसका प्रमाण उनके द्वारा लिखित एक पद जिसमें उन्होंने मीरा का उल्लेख किया है। पद में वर्षा को वधु रूप में दर्शाया है। उदाहरण– ''ऐसी पावस– बनिता मिली मीरा लाल गिरधर कू लै काम–प्रीत–हार गूंदे।'' तानसेन पर मीरा का इतना अधिक प्रभाव था कि तानसेन की पद–रचना–शैली पूर्णतया मीरा से प्रभावित दिखती है।

मीरा का संगीत ज्ञान असंदिग्ध है, क्योंकि उनके पदों में जो संगीतात्मकता तथा राग–वर्णन मिलता है, उसे देखकर यह सिद्ध हो जाता है कि वह संगीत शास्त्र की पूर्ण ज्ञाता थीं। शास्त्रीय संगीत के साथ ही मीरा के पदों में लोक संगीत की अनेक विधाओं–लावणी, मांड, रसिया, कजरी, चैती आदि का प्रभाव भी दृष्टिगोचर है।

डॉ० भगवानदास तिवारी के शब्दों में ''मीरा के गीतों में उनके मनोवेगों का स्वाभाविक गायन और उनकी आत्म विभोर चेतना का संगीतात्मक अभिव्यंजन पाया जाता है। मीरा के प्रत्येक गीत में आकार की संक्षिप्तता और संगीतात्मकता विद्यमान है।''[7]

मीरा के पदों में आंतरिक संगीत और बाह्य संगीत– दोनों ही दिखते है। इनमें एक शाश्वत सौन्दर्य की स्पष्ट झलक दिखाई देती है। मीरा के संगीत के विषय में डॉ० लाजवंती भटनागर लिखती है कि ''मीरा के संगीत में हृदय की भक्ति भावना मंदाकिनी की भांति कलकल करती हुई आई और मीरा के कंठस्थ सरस्वती की संगीतधारा में मिल गई। वही भावना संगीत का सार बनी और उसी में मीरा के हृदय को अनुभूति मिलती है।''[8]

मीरा का काव्य संगीत हृदय से निःसृत हुआ है, अतः वह आत्मध्वनि का द्योतक है। मीरा का संगीत तत्व जितना शास्त्रीय है, उतना ही सुगम भी, वस्तुतः उसमें मीरा कि आत्मा की ध्वनि ही संगीतमय हो गई है। उस युग में एक स्त्री का संगीतज्ञ होना अपने आप में कम आश्चर्यजनक नहीं है इस सम्बन्ध में डॉ० दिनेशचंद्र के विचार उल्लेखनीय हैं–''भारतीय संगीत और साहित्य के इतिहास में किसी युग में पुरुष गायकों एवं कवियों को कोई कमी नहीं रही। भरत, नारद, मतंग, जयदेव, विद्यापति, सूरदास, हरिदास, तानसेन आदि अनेक प्राचीन तथा मध्यकालीन कलाकारों के नाम लिए जा सकते हैं, किन्तु उन शताब्दियों के मध्य स्त्री–संगीतज्ञों के दो नाम ही मिलते है, यह आश्चर्य की बात है। इतिहास में केवल मीरा का ही नाम मिलता है जो काव्य और कला दोनों में ही सिद्धहस्त थीं।''[9]

मीरा के संगीत की चर्चा करते हुए डॉ० उमा मिश्रा लिखती है– ''संगीत की दृष्टि से मीरा के पद जहाँ एक ओर तत्कालीन शास्त्रीय संगीत का आधार ग्रहण करते हुए पूरिया कल्याण, बागेश्री, दरबारी, जयजयवन्ती, आनन्दभैरो जैसे रागों में गाये जाते हैं, वहां अनेकपद लावनी आदि लोकधुनों की धुन पर भी रचे गये।''[10]

मीरा ने अपने मूल पदों को किन–किन रागो में गाया, इसका कोई प्रामाणिक उल्लेख प्राप्त नहीं है। डाकोर और काशी की प्रतियों में भी रागों का उल्लेख नहीं हैं, फिर भी मीरा के पद प्रायः छायानट, झिंझोटी, ललित, गुर्जरी, त्रिवेणी, धानि, सूहा, सारंग, दरबारी, सोरठ, हमीर, मांड, तेलंग, कामोद, तोड़ी, सुख सोरठ, काफी, कजरी, कल्याण, आसावरी आदि रागों में गाये जाते हैं।

मीरा के पदों की प्रामाणिकता विवादास्पद है। उपलब्ध संकलनों में केवल आचार्य परशुराम चतुर्वेदी द्वारा सम्पादित मीराबाई की पदावली को ही शुद्ध पाठ माना गया है।

अतः मीराबाई ने कृष्ण आराधना के साथ–साथ संगीत को एक नया आयाम पहुंचाने और संगीत में आमजन की रुचि बढ़ाने में अपना सम्पूर्ण सहयोग प्रदान किया है। संगीत में मीरा द्वारा की गयी काव्य–रचना और रागों की रचना संगीत को और अधिक मनमोहक बनाती है। मीरा के भक्ति काव्य में संगीत के समस्त तत्व अपनी सम्पूर्णता के साथ प्रतिष्ठित हैं। स्वर और ताल यह संगीत के प्रमुख तत्व हैं और मीरा के पद स्वर और ताल के बंधन में बंधे हुए हैं। मीरा ने संगीत में प्रयुक्त होने वाली विशिष्ट शब्दावली का भी प्रयोग किया है। मीरा की पदावली गीति काव्य के अंतर्गत आती है, भावानुभूति, संगीतात्मकता एवं कोमलता गीति–काव्य के प्रधान गुण हैं जो मीरा के पदों

में सहज और स्वाभाविक रूप से विद्यमान हैं। उनके पदों में एक लयात्मक प्रवाह है उनके काव्य की आत्मा संगीत अर्थात् भक्ति विशुद्ध सात्विक है।

संदर्भ सूची :

1. खन्ना, जतिन्द्र सिंह, मध्यकालीन धर्मों में शास्त्रीय संगीत का तुलनात्मक अध्ययन, पृ०सं० 85
2. कुमार, डॉ० अरविन्द, भारतीय सांगीतिक जगत को तुलसीदास का योगदान, पृ०सं० 58
3. मीरा संगीत अंक, मीरा : एक भक्त गायिका, पृ०सं० 17
4. खन्ना, जतिन्द्र सिंह, मध्यकालीन धर्मों में शास्त्रीय संगीत का तुलनात्मक अध्ययन, पृ०सं० 6
5. निगम, विक्रमादित्य सिंह, संगीत कौमुदी, प्रथम भाग, पृ०सं० 42
6. भागवत, मनोहर विनायक राव, मीरा की भक्ति में संगीत, मीरा संगीत अंक, पृ०सं० 26
7. तिवारी, भगवान दास, मीरा के गीतों की मनोवैज्ञानिक भूमिका, मीरा संगीत अंक, पृ०सं० 26
8. भटनागर, डॉ० लाजवन्ती, धर्म सम्प्रदाय और मीरा का भक्तिभाव, पृ०सं० 25
9. गुप्ता, डॉ० दिनेश चन्द्र, भक्ति कालीन काव्य मे राग और रस, पृ०सं० 15
10. मिश्र, डॉ० उमा, काव्य और संगीत का पारस्परिक संबंध, पृ०सं० 135

A Review on Oriental Music in European Notation by A.M. Chinnaswami Mudaliar and Elements of Western Music by P. Sambamoorthy

M. Sharana Sree*

Abstract

The exploration of musical traditions typically means crossing cultural borders, and this attempt has been seen in the works of AM Chinnaswami Mudaliar and P. Sambamoorthy. These two authors exemplify such a tendency in their creations Oriental Music in European Notation by A.M. Mudaliar and Elements of Western Music by P. Sambamoorthy.

In his work, Mudaliar probes deeply into the complex melodies and rhythms of Oriental music to provide a bridge for western-trained musicians to grasp eastern musical traditions and appreciate them more fully. By this painstaking transcription and analysis, Mudaliar demystifies râgas, thâlams, and other elemental features of Indian classical music that can then be comprehended by musicians who have grown up within the framework of western knowledge systems.

However, Sambamoorthy's research on Western music acts as a backdrop to understanding musical concepts for performers whose background is embedded in Eastern traditions. Here, Sambamoorthy breaks down the theoretical foundation for western harmony, counterpoint as well as form so that readers are equipped with requisite resources needed to take part in a wider range of music while still being able to maintain their originality. Here, in this Journal Mudaliar's methods with regard to those used by Sambamoorthy are reviewed here.

Keywords : *European Notation, Western Music , Elements of Western Music, Musical traditions, Cultural diversity , Theoretical concepts of Western music.*

Methodology :

- *This literature review should present a detailed overview of already available information sources on European notation and oriental music, focusing on A.M Chinnaswami Mudaliar works and P Sambamoorthy's Elements of western music.*
- *To create a basis for this study, identifying the major themes and methodologies from the previous research is significant to understand .*
- *The content of both Authors are analysed to understand their approaches to cross-cultural musical integration.*
- *Comparative analysis of these works include notation systems, theoretical frameworks, pedagogical strategies that mediate East – West musical traditions. This will also help to identify where they agree or differ in terms of perspectives, methodologies and contribution towards a global understanding of cross-cultural musical interactions.*

Introduction

Since time immemorial, blending musical styles from various cultures served as a fertile ground for innovation and inspiration in music. A.M. Chinnaswami Mudaliar's "Oriental Music in European Notation" and P. Sambamoorthy's "Elements of Western Music"

*M.E., M.A, M.Phil - Music, Potti Sreeramulu Telugu University, Hyderabad.

stands as a significant work that addresses the fusion of Eastern and Western music from different perspectives. Mudaliar's objective is to change Oriental Music into European notation thereby allowing those trained in Western music to discover the subtleties of Eastern musical traditions. On the other hand, Sambamoorthy discusses the theoretical basis for western music which adds value to the understanding of practitioners coming from eastern musical backgrounds.

This overview aims at investigating how Mudaliar and Sambamoorthy narrow down the gap between Oriental and Western music by discussing their methodologies, perspectives and implications. It will examine both authors' contents so as to understand how they can enhance cross-cultural relations through their writings. Lastly, it situates these texts within the larger context of historical interactions between East and West in terms of musical practices.

This review aims to expound on Mudaliar and Sambamoorthy initiatives in enhancing cultural interactions among communities of music lovers as well as promoting better insight into the variety of musical expression by people throughout the globe. This journal focuses on the contribution towards a more detailed understanding of this through an analysis of where Oriental meets Western music through their compositions, examining how these occurrences are loaded with different meanings. In addition, we will look at what all this means for music education globally, performances, and academic research done in today's interrelated world.

Textual analysis

A.M. Chinnaswami Mudaliar's "Oriental Music in European Notation" and P. Sambamoorthy's "Elements of Western Music" provide different insights on how Eastern and Western music can be integrated together. These two great works contain the ideas, plans and contributions to East-West musical connection which is within them.

Mudaliar's "Oriental Music in European Notation", was perhaps the first attempt to translate the intricacies of Oriental music into a notation system familiar to western trained musicians. Mudaliar seeks to make Indian classical music more accessible for a wider public through an elaborate process of transcription and analysis. The writer provides explanations and examples for some basic concepts such as ragas, talas, melodic ornamentations among others. This book is used by both Western musicians who wish to explore oriental forms of music but also as a testament to the cosmic quality of music that traverses boundaries.

In contrast, Sambamoorthy's "Elements of Western Music" goes into theoretical foundations of western music that supplement and broaden the perspectives of practitioners from an eastern musical background. He provides insight into the include harmony, counterpoint and form. Sambamoorthy simplifies Western music by putting it into a critical theoretical framework that contextualises the whole meaning and allows retaining cultural identity for different genres and styles.

Mudaliar and Sambamoorthy use their respective works to promote intercultural musical understanding employing contrasting approaches. While Mudaliar has a practical approach where he uses transcription and analysis in order to bridge the gap between Oriental and Western notation systems, Sambamoorthy addresses the subject theoretically i.e. within a larger theoretical context aiming at furthering practitioners' understanding who have been rooted in Eastern traditions.

However, they both share the same target by promoting cultures and how diverse music is expressed globally. Hence, professionals whose focus is Oriental music will find these books essential references. By doing this, Mudaliar and Sambamoorthy represent a more inclusive pluralistic perspective that enriches its theory.

Comparative Analysis

A.M. Chinnaswami Mudaliar's "Oriental Music in European Notation" and P. Sambamoorthy's "Elements of Western Music" are two essential sources that offer contrasting views on how far Eastern and Western music styles have been mixed. Drawing comparisons between these landmark publications, we will be able to see the convergence and diverge in terms of methods used, approaches taken as well as what each brings to cross-cultural understanding.

Strategy

Mudaliar's strategy was realistic; this based on practical rather than theoretical consideration. He focuses on inscribing and explicating Oriental music using the European notation. He intends to create a tangible link for musicians trained in the West associated with traditions of Orient.

On the other hand, Sambamoorthy's method is theoretical; he puts Western music into a larger theory context. In this regard, he makes it difficult for an East-based practitioner to understand the principles like harmony, counterpoint and form.

Methodologies

Mudaliar's technique makes use of transcription and analysis to translate Eastern music into Western notation. He explains ragas, talas, ornamentation etc in detail to help western musicians understand them clearly.

Sambamoorthy's aim is to develop the theoretical foundation of Western music by providing a general analytical framework for reading and interpreting musical works, such as tonality, modulation, etc.

Perspectives

Mudaliar sees the quality of involving or being shared by all people in expressing himself through music by highlighting similarities surrounded by oriental and western music irrespective of cultural differences. The author wants to make it possible for Oriental melodies not to be regarded as exotic sounds by the West.

Sambamoorthy reflects on the distinctiveness between East-West musical traditions while calling for more inclusive approaches towards musical studies and practice. The author asks us to consider how Oriental/Western styles contribute to fusion that enriches art.

Contribution

Mudaliar's work contributes towards expanding horizons of Oriental music to encompass new audiences thereby serving as a practical European musicians' handbook on exploring Eastern musical genres. His efforts have made cross-cultural conversations and global cultural interactions possible.

The work by Sambamoorthy extends understanding of Western music to those who are rooted in Indian traditions, offering a theoretical framework that transcends all cultural boundaries. His insights promote greater appreciation for the world's diverse musical expressions and foster collaboration between different cultures.

Conclusion

In this study, the authors have taken different approaches and methods in order to

combine Oriental and Western music; however, they are complementary in terms of enhancing intercultural understanding in terms of music. They close the gap between Eastern and Western musical traditions through their works, making our global musical culture richer.

By translating the Oriental music to the European notation, Mudaliar gives a hand to Western-trained musicians who want to immerse themselves into Eastern rich music culture. On the other hand, Sambamoorthy's study of Western music from a theoretical viewpoint informs practitioners grounded in Eastern traditions of certain insights. Both Mudaliar and Sambamoorthy tend toward an inclusive and pluralistic approach to musical scholarship and practice. These works insist on the generalness of music while simultaneously acknowledging its particularity as well.

Mudaliar and Sambamoorthy help us understand each other better and be more creative . Their works keep reminding us that there is no limit to what music can do in terms of bringing people together beyond boundaries constructed between such diverse individuals who share a common aesthetic experience.

References :

- Oriental Music in European Notation by A.M.Chinnaswami mudaliar.
- Elements of western Music by P.Sambamoorthy.
- Exploring the melodic Harmony of East and west : Indian class vs Western Music by Minisharma Dinesh.

Guruvayur Chembai Sangeetolsavam : A glimpse on its history

Dr. Shyama K.R*

Abstract

This article details the history of Chembai Sangeetolsavam, held at Guruvayur. This festival is one of the oldest in Kerala, having a history of more than 100 years. The festival was initiated by Chembai who was an ardent devotee of Lord Guruvayurappan and is now conducted under the auspices of the Temple Devaswom. This article also gives an insight on how the Pancharatnaalapana started in Kerala.

Key words : *Chembai Vidyanatha Bhagavatar, Pancharatnakirtana, Ekadasi, Temple Devaswom, All India Radio, Chembai Puraskaram*

Methodology : *Through Secondary Sources.*

There are few musicians in Kerala, whose memory is kept alive and evergreen through music festivals. Chembai Vaidyanatha Bhagavatar, the iconic figure in Carnatic music was one among the musicians who were instrumental in keeping alive the Carnatic classical music tradition at a time when the concert scenario was undergoing a drastic change in terms of venue, audience, time and content of concerts. Chembai, with his bell metaled voice and a music well rooted in tradition, was successful in stealing the hearts of music lovers, connoisseurs as well as lay man in and outside Kerala. Chembai has become so famous that the name "Chembai" has become synonymous with Classical music of Kerala.

Vaidyanatha Bhagavatar had unstained devotion for Lord Krishna of Guruvayur. The affinity to Guruvayur started in 1907, when he got an opportunity to sing there. From this year onwards, Chembaisang at the templeon Vaikunta Ekadasi day, every year. In 1939, an incident occurred which made the Bhagavatar determine that the musical offering at Guruvayur should not be interrupted. That year, Chembai agreed for a concert before the Samuthiri at Kozhikode, forgetting that it was Ekadasi. While singing, Chembai suddenly found that his voice was lost. Realising that it was Ekadasi, he immediately requested the Samuthirito make arrangements for him to reach Guruvayur. On reaching Guruvayur, he prostrated before the Lord and regained his voice.After this incident, Chembaimade it a point to sing there every year.

It was Chembai who started conducting the Ekadasi festival during the Malayalam month of Vrishchikam. Initially the festival was conducted for 3 days, starting from Navami. Chembai would invite musicians from far and wide to present concert as an offering. In a letter to the Samuthiri Raja, dated 18/10/1967, Chembai states that he had been conducting the 'Seva' (offering) for the last 55 years, which would mean that the festival had started well back in 1912. The letter was written to request the Samuthiri to make arrangements in the temple innto provide food for the artists. (see fig.1)

*Assistant Professor, Department of Music, Govt. College for Women, TVPM

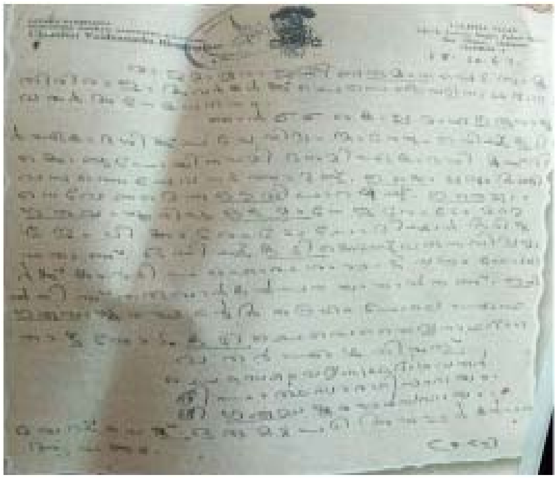

Fig.1

A temporary stage was set up in the premises of Mathilkkakam Bhagavati shrine and it was there that the musical offering took place. An akhandanamajapam from 6 AM used to take place during these days, organized by the Thiruvambaadi Temple committee. Musical offerings were done only in the evening after Deeparadhana. On the Ekadasi day, after all the disciples had sung, Chembai would present a concert and wind up the offering with Mangalam.

During those days, specific time duration was not given for the artists. They were asked to sing until the next musician came and was ready to take the stage.

Pancharatnakirtanaalapanam

In 1973, when the Bhagavatar had completed 62 years of his Aradhana, Sri Guruvayurappan Sankirtana trust decided to honour the Bhagavatar with the title of "Abhinava Tyaga Brahmam". When the President of the trust Aanjam Madhavan Nambuthiri informed Chembai about this, Chembai expressed his happiness and decided to pay homage to the Saint Composer by singing the Pancharatna Kirtanas along with his disciples. And thus, the first Pancharatna Kirtana offering happened in the premises of Guruvayur temple under the guidance of the Bhagavatar, by vidwans including Poomulli Raman Nambuthirippad, T.V. Gopalakrishnan, V.R.Krishnan, B. V Rama and Lakshmana, Guruvayur Ponnammal, Konnurpulli Parameswaran Nambuthiri, Babu, Jaya - Vijaya, Maruthvamkudi Rajagopala Iyer, P.S. Narayana Swamy, Trissur V. Ramachandran, M Chandrasekhar, C.R Mani Iyer, Coimbatore Mani Bhagavatar, Chittur Gopalakrishnan, G. Srinivasan (Violin) and Alankudi Ramachandran (ghatam). This happens to be the first Pancharatnakirtanaalapana in Kerala as well. Until then, the Aradhana was done in Tanjavur and other places in Tamil Nadu.

The Pancharatnaalapana in 1973 was Chembai's first and last offering of the five kritis at the temple, for he breathed his last in October 1974.The Ekadasi that year was conducted by prominent disciples of Chembai. The following year onwards, the temple Devaswomtook charge of organizing the festival and it was named "Chembai Sangeetolsavam" in memory of the Bhagavatar. The festival is conducted with so much sanctity that it commences by lighting the lamp brought from the sanctum of the Lord. The festival soon acclaimed wide popularity and the number of days was gradually increased to 5, 7, 10 and 15, owing to the increase in the number of musicians wanting to participate.Now, the festival commences 14 days before the Ekadasi day. The Pancharatnakritialapana is conducted on the Dasami day.

Trissur P Radhakrishnan, Programme executive, All India Radio was one of Chembai's disciples. During the festival in 1973, Chembai expressed his wish to broadcast the concerts through AIR. The then Guruvayur Devaswom Administrator, P.V.Sankunni Varrier along with Trissur P Radhakrishnan made arrangements for this and All India Radio started broadcasting the concerts in 1974.

When the number of musicians wanting to showcase their talent increased, it was decided

to give a 5-minute slot to all of them. The main concerts take place from 6.30 pm. Acclaimed artists from all over the country come to offer their musical salutations to the Lord. Main concerts and AIR relay concerts (20 minutes each) are given only to graded artists of All India Radio.

From the year 2005, an award in the name of the great maestro, "Guruvayurappan Chembai Puraskaram" started to be given to one leading artist. The prestigious award includes a 10-gram gold coin inscribed with the form of the Lord, Rs.50,000/-, Citation and ponnaai. The award was first given to Sri. T.V. Gopalakrishnan. Some of the artists who have received the award are M.S. Gopalakrishnan, Dr. M. Balamurali Krishna, Smt. Parassala Ponnammal, Mavelikkara Velukkutty Nair, Sri. Trissur V. Ramachandran, Sri. Kadri Gopalnath, VîGa maestro A. Anandapadmanabhan, Sri. K.G.Jayan, Dr. K Omanakutty, Sri. Pala C K Ramachandran etc.

The festival starts with the award function. The very first concert will be presented by the awardee. For the next 14 days, the festival is held in such a way that the musical offerings take place without break from morning 5 till midnight. The stage at Melpattur Auditorium is set in such a way that two groups of performers can be seated side by side. The concerts take place in an akhandam format, i.e, there will not be a break between concerts. Next concert starts immediately as one ends.Two types of concerts are showcased in a day. From evening 6 pm till 9 pm, there will be three special concerts of one-hour duration each by senior artists. From morning till 6 pm and later, from 9 pm till 11 pm, amateur artists perform a composition for 5 minutes. The Guruvayur festival committee receives around 8000 applications every year for the five-minute performances. The special performances are arranged by the committee itself.

During the last five days, there will be 20 minutes concerts by AIR graded artists which will be broadcasted live by All India Radio. The time of relay programme is from 9.30 to 12.30 in the morning and from 7.35 to 8.30 at night. Thus, sixteen AIR relay concerts are featured in a day in addition to the special concerts and amateur concerts. All special concerts, relay concerts and Pancharatnam are telecasted on Doordarsan.

The Chembai Sangeetolsavam at Guruvayur has become one of the most recognised and important music festivals in Kerala. It is one of such kind held in memory of a musician.The biggest and well organised music festival in South India, it holds the record of featuring the highest number of musicians totalling up to 3000. The sangeetolsavam rightly honours the memory of Chembai Vaidyanatha Bhagavatar, an exceptional musician and an extraordinary human being who will live in the musical minds forever.

References :

1. Guru Guruvayur, '***Sangeetolsavathindesamaarambham***', Bhaktapriya, Guruvayur Devaswom Publication, Nov 2016, Pg. 42 – 45
2. Jain. V., ***Anaswaranaya Chembai (Malayalam)***, Thiruanathapuram Cultural Publications Department, Govt. Of Kerala, 2003
3. Jayavijaya, ***Chembai, Sangitavum Jevitavum (Malayalam)***, D.C.Books, Kottayam, 1981

Journals :

1. Chembai Vaidyanatha Bhagavatar 'Uttama Gayaka', Part one, ***Sruti***, Issue 98, November 1992, p.p. – 17-37.
2. Chembai Vaidyanatha Bhagavatar 'Uttama Gayaka', Part two, ***Sruti,*** Issue 99/100, December 1992/January 1993, p.p. – 41-58.

Interviews :

1. Sri. Chembai Suresh, Grandnephew of Chembai Vaidyanatha Bhagavatar
2. Sri Guruvayur Parameswaran, Member, Guruvayur Devaswom
3. Prof. Vaikom Venugopal, Professor in Mridangam (Rtd), SST College of Music, Tvpm and Committee member, Chembai Sangeetolsavam

edq'k % Hkkjr d s of'od ik'o xk;d

fl rUn jtu flg*

'kks/k&lkjka'k

एक ऐसी जादुई आवाज जिसने हर दिल को छुआ, जो लोगों को अपनी ओर खींच ले आती थी। मुश्किल–से–मुश्किल गीतों को वह इतनी सहजता से गा लेते थे कि उनके गीत सीधे दिलों में घर कर जाते। मुकेश के गीत जितने सरल, सहज और मधुर हैं, उतने ही सरल और मधुर मुकेश अपनी असल जिन्दगी में भी थे। अपने दौर में मुकेश शिखर के तीन पार्श्व गायकों में से एक थे । अभी गायक–गायिकाओं की बाढ़–सी आ गयी है लेकिन मुकेश का आज भी कोई सानी नहीं है। अधिकांश गायक आंधी की तरह आते हैं तथा तूफान की तरह जल्द ही गायब भी हो जाते हैं जबकि रफी, किशोर और मुकेश जैसे गायक आज भी अमर हैं।

cht 'kCn& *पार्श्व गायक, अभिनेता, गायक, नायक, निर्माता*

çfof/k& *द्वितीयक माध्यमों के अतिरिक्त लोक व्यवहार से प्राप्त जानकारियों को शामिल किया गया है।*

मुकेश अर्थात् मुकेश चंद माथुर का जन्म 22 जुलाई 1923 को दिल्ली, भारत में एक माथुर कायस्थ परिवार में हुआ था। लोकप्रिय तौर पर वे सिर्फ मुकेश के नाम से जाने जाते थे। उन्हें हिंदी फिल्म उद्योग के सबसे लोकप्रिय और प्रशंसित पार्श्व गायक माना जाता है। उनके पिता जोरावर चंद माथुर एवं माता चंद्रानी माथुर थी। वह दस बच्चों वाले परिवार में छठे स्थान पर थे। मुकेश की बहन को संगीत की शिक्षा देने के लिये एक संगीत शिक्षक घर में आते थे जिन्हें मुकेश बगल के कमरे से सुनते थे। उन्होंने दसवीं कक्षा के बाद पढ़ाई छोड़ कर कुछ समय के लिये लोक निर्माण विभाग में काम किया। नौकरी के समय वॉयस रिकॉर्डिंग, गायन क्षमता और संगीत वाद्य–यंत्र कौशल को भी उन्नत किया।

"किसी की मुस्कुराहटों पे हो निसार,
किसी का दर्द मिल सके तो ले उधार
किसी के वास्ते हो तेरे दिल में प्यार,
जीना इसी का नाम है"

xk;u ;k=k

जब अपनी बहन की शादी में मुकेश गाना गा रहे थे तो उन पर दूर के रिश्तेदार अभिनेता मोतीलाल की नजर पड़ी। मोतीलाल उन्हें बम्बई (मुम्बई) ले गये और पंडित जगन्नाथ प्रसाद द्वारा गायन की शिक्षा की व्यवस्था की। 1941 में मुकेश को एक हिंदी फिल्म 'निर्दोष' में एक अभिनेता–गायक के रूप में अवसर मिला। अभिनेता–गायक के रूप में फिल्म 'निर्दोष' के लिये "दिल ही बुझा हुआ हो तो" पहला गाना मिला जो नीलकंठ तिवारी द्वारा लिखा गया था। पार्श्व गायक के रूप में उनका पहला गाना 1945 में अभिनेता मोतीलाल के लिये फिल्म 'पहली नजर'में 'दिल जलता है तो जलने दे' था, जिसमें संगीत अनिल विश्वास ने और गीत आह सीतापुरी ने लिखे थे। मोतीलाल एक नामी कलाकार थे और उन्होंने अपने लिये मुकेश को पार्श्व गायक रखने की शर्त पर फिल्म में काम किया। यहीं से भारतीय सिनेमा में पार्श्व गायन शुरू हुआ। यह गाना उनके जीवन के लिये मील का पत्थर साबित हुआ।

मुकेश गायक के.एल. सहगल के बहुत बड़े प्रशंसक थे, इस लिये उनके शुरुआती वर्षों के गायन में उनकी छाप स्पष्ट दिखाई पड़ती है। जब के.एल. सहगल ने पहली बार 'दिल जलता है तो जलने दे' गाना सुना, तो उन्होंने टिप्पणी की, "यह अजीब है, मुझे यह गाया गाना याद नहीं है"। मुकेश ने अपनी खुद की गायन–शैली बनाई और सहगल–शैली से बहार आये। नौशाद की फिल्म 'अंदाज' के लिये मुकेश ने दिलीप कुमार के लिये गाना गाया जबकि मोहम्मद रफी ने राज कपूर के लिये गाया। नौशाद की कई हिट फिल्मों के लिये उन्होंने गाना

*सहायक प्राध्यापक, दृश्यकला शिक्षा विभाग, महिला कॉलेज, चाईबासा, प. सिंहभूम, झारखण्ड

गाया, जैसे–अनोखी अदा (1948), मेला (1948), अंदाज (1949)। संगीतकार अनिल विश्वास ने "जीवन सपना टूट गया" जैसे हिट गानों में फिल्म 'अनोखा प्यार' में दिलीप कुमार के लिये मुकेश की आवाज का उपयोग किया। शंकर–जयकिशन ने 'यहूदी' फिल्म में और सलिल चौधरी ने फिल्म 'मधुमती' में 'सुहाना सफर' और 'दिल तड़प तड़प के' लिये मुकेश की आवाज का उपयोग किया। मुकेश ने सबसे ज्यादा 133 गाने शंकर–जयकिशन के लिये रिकॉर्ड किये, उसके बाद कल्याण जी–आनंदजी के लिये 99 गाने रिकॉर्ड किये। 4 में से 3 फिल्मफेयर पुरस्कार मुकेश ने शंकर–जयकिशन के गाने के लिये जीते। 1974 में मुकेश को फिल्म 'रजनीगंधा' के गाने "कई बार यूँ भी देखा है" के लिये सर्वश्रेष्ठ पार्श्व गायक का राष्ट्रीय फिल्म पुरस्कार मिला। फिल्म 'अनाड़ी' (1959) के गाने "सब कुछ सीखा हमने" के लिये फिल्मफेयर पुरस्कार मिला। फिल्म 'पहचान' (1970) में 'सबसे बड़ा नादान वही है', फिल्म 'बेईमान' (1972) में 'जय बोलो बेईमान की' (तीनों शंकर–जयकिशन द्वारा रचित) और संगीतकार खय्याम की फिल्म 'कभी–कभी' में 'कभी–कभी मेरे दिल में ख्याल आता है' (1976) के लिये भी फिल्म फेयर पुरस्कार मिला। मुकेश ने संख्या के बजाय गुणवत्ता पर जोर दिया। यही कारण है कि उन्होंने लगभग 1300 गाने गाये जो उनके समकालीन गायकों द्वारा गाए गये गीतों से कम है।

'नैना है जादू भरे' से लेकर 'दर्द जमाना क्या जाने' (1958), जिसे अकेले कल्याणजी ने संगीतबद्ध किया था और "मैं हूँ मस्त मदारी" फिल्म 'मदारी' (1959) पहली कल्याणजी–आनंदजी–मुकेश द्वारा ,"चाहे आज मुझे नापसंद करो", दरिंदा (1977) तक। उन्होंने "छलिया मेरा नाम", "मेरे टूटे हुए दिल से", "डम–डम डिगा–डिगा" (छलिया–1959) जैसे कई लोकप्रिय गाने दिए। "मुझको इस रात की तन्हाई में", (दिल भी तेरा हम भी तेरे–1960), "हम छोड़ चले हैं महफिल को" (जी चाहता है), "हमने तुमको प्यार किया है जितना" (दुल्हा–दुल्हन), "चल मेरे दिल लहरा के चल" (इशारा), "धीरे रे चलो" (जौहर महमूद इन गोवा), मैं तो एक ख्वाब हूँ" (हिमालय की गोद में–1965), "वक्त करता जो वफा", (दिल ने पुकारा), "दीवानों से ये मत पूछो" (उपकार), "खुश रहो हर खुशी है" (सुहाग रात), "हम सफर अब ये सफर कट जायेगा" (जुआरी), "चांदी की दीवार" और "ले चल मेरे जीवन साथी" (विश्वास–1969) इत्यादि।

आनंद (1971) का "कहीं दूर जब दिन ढल जाए" और "मैंने तेरे लिये ही सात रंग के सपने चुने", मेरा नाम जोकर का "जीना यहाँ मरना यहाँ" और "कहता है जोकर" सबसे लोकप्रिय गाने हैं। मुकेश ने राज कपूर के लिये 110 गाने, मनोज कुमार के लिये 47 गाने और दिलीप कुमार के लिये 20 गाने गये।

"इक दिन बिक जायेगा माटी के मोल,
जग में रह जायेंगे, प्यारे तेरे बोल"
दूजे के होठों को देकर अपने गीत,
कोई निशानी छोड़, फिर दुनिया से डोल"

,d vfHkusrk ds :i es

मुकेश ने अपने पेशा की शुरुआत एक अभिनेता गायक के रूप में 1941 में फिल्म 'निर्दोष' से की, जिसमें उनकी नायिका नलिनी जयवंत थीं। उनकी दूसरी फिल्म 'अदाब अर्ज' थी। 1953 में राज कपूर की फिल्म 'आह' में अतिथि कलाकार की भूमिका निभाई। 1953 में फिल्म 'माशूका' में सुरैया के साथ काम किया। 1956 में फिल्म 'अनुराग' में नायक और निर्माता के रूप में काम किया। मुकेश ने डार्लिंग फिल्म्स के साथ नायक अर्जुन और नायिका शम्मी के साथ फिल्म 'मल्हार' का निर्माण 1951 में किया। उस समय पार्श्व गायन शुरू नहीं हुआ था और अभिनेता को गायन स्वयं ही करना होता था।

0;fäxr thou

"कहीं करती होगी वो मेरा इंतजार
जिसकी तमन्ना में फिरता हूँ बेकरार"

मुकेश ने करोड़पति रायचन्द्र त्रिवेदी की बेटी सरल त्रिवेदी से शादी की। सरल के पिता इस शादी के खिलाफ थे क्योंकि फिल्मों में गायन को उस समय एक अनैतिक पेशा माना जाता था। मुकेश और सरल ने भागकर 22 जुलाई 1946 को शादी की जिसमें अभिनेता मोतीलाल ने कन्यादान किया। उनके पांच बच्चे थे–रीता, नितिन, नलिनी, मोहनीश और नम्रता। अभिनेता नील नितिन मुकेश, उनके पोता हैं।

ngkolku

27 अगस्त 1976 को डेट्राइट, मिशिगन, संयुक्त राज्य अमेरिका में दिल का दौरा पड़ने से मुकेश की मृत्यु हो गई जहाँ वह एक कार्यक्रम को प्रस्तुत करने गये थे।

जब उनकी मृत्यु की खबर अभिनेता राजकपूर तक पहुँची तब उन्होंने कहा "मैंने अपनी आवाज खो दी है"। उनके द्वारा गाये गये गीत फिल्मों में 1997 तक रिलीज हुए।

"जाने चले जाते हैं कहाँ,
दुनिया से जाने वाले, जाने चले जाते हैं कहाँ,
कैसे ढूंढे कोई उनको, नहीं कदमों के भी निशां"

i|jLdkj

jk"Vªh; fQYe i|jLdkj

1974 में फिल्म 'रजनीगंधा'के गीत "कई बार यूँ भी देखा है" के लिये सर्वश्रेष्ठ पार्श्व गायक का राष्ट्रीय फिल्म पुरस्कार प्राप्त हुआ।

fQYeQ;j i|jLdkj

o"kZ	xkuk	fQYe	l xhr funs'kd	xhrdkj
1959	सब कुछ सीखा हमने	अनाड़ी	शंकर–जयकिशन	शैलेन्द्र
1970	सबसे बड़ा नादान	पहचान	शंकर–जयकिशन	वर्मा मलिक
1972	जय बोलो बेईमान की	बेईमान	शंकर–जयकिशन	वर्मा मलिक
1976	कभी–कभी मेरे दिल में	कभी–कभी	खय्याम	साहिर लुधियानवी

eukuhr

o"kZ	xkuk	fQYe	l xhr funs'kd	xhrdkj
1962	होठों पेर सच्चाई रहती है	जिस देश में गंगा बहती है	शंकर जयकिशन	शैलेन्द्र
1965	दोस्त दोस्त न रहा	संगम	शंकर जयकिशन	शैलेन्द्र
1968	सावन का महीना	मिलन	लक्ष्मीकांत प्यारेलाल	आनंद बख्शी
1971	बस यही अपराध	पहचान	शंकर जयकिशन	नीरज
1972	जाने कहाँ गये वो दिन	मेरा नाम जोकर	शंकर जयकिशन	हसरत जयपुरी
1972	कहीं दूर जब दिन ढल जाए	आनंद	सलिल चौधरी	योगेश
1973	एक प्यार का नगमा है	शोर	लक्ष्मीकांत प्यारेलाल	संतोष आनंद
1975	मैं ना भूलूंगा	रोटी,कपड़ाऔर मकान	लक्ष्मीकांत प्यारेलाल	संतोष आनंद
1977	एक दिन बिक जाएगा	धरम करम	राहुल देव बर्मन	मजरुह सुल्तानपुरी
1977	मैं पल दो पल का शायर हूँ	कभी–कभी	खय्याम	साहिर लुधियानवी
1978	सुहानी चांदनी रातें	मुक्ति	राहुल देव बर्मन	आनंद बख्शी
1978	चंचल शीतल निर्मल कोमल	सत्यं शिवं सुंदरम्	लक्ष्मीकांत प्यारेलाल	आनंद बख्शी

बंगाल फिल्म जर्नलिस्ट्स एसोसिएशन पुरस्कार – विजेता

1. 1967– 'तीसरी कसम' के लिये सर्वश्रेष्ठ पुरुष पार्श्वगायक
2. 1968– 'मिलन' के लिये सर्वश्रेष्ठ पुरुष पार्श्वगायक
3. 1970– 'सरस्वतीचंद्र' के लिये सर्वश्रेष्ठ पुरुष पार्श्वगायक

मुकेश के जीवन पर कई पुस्तकें प्रकाशित हैं। मुकेश ऐसे पार्श्व गायक हैं जिनके गाये सभी गीतों के संकलन पर लेखक हरीश रघुवंशी द्वारा रचित 'मुकेश गीत कोश' नाम की एक अनुपम पुस्तक है जिसमें मुकेश के फिल्मी गीतों के साथ उनके गैर फिल्मी गीतों को भी संजोया गया है।

जिस दिन मुकेश के गीतों की रिकार्डिंग होती थी उस दिन वह उपवास रखते थे, रिकार्डिंग से पहले सिर्फ पानी और गरम दूध ही लेते थे जिससे गला बिल्कुल ठीक रहे और सुरों में रत्ती भर भी कमी न आए। संगीतकार खेमचंद्र प्रकाश के चचेरे भाई जगन्नाथ प्रसाद से मुकेश ने शास्त्रीय संगीत सीखा। वे अब्दुल करीम खां और बड़े गुलाम अली खां को सुनते थे। वे अनिल बिस्वास, के एल सहगल और रोशन का बहुत सम्मान करते थे। एक गीत 'आपसे हमको बिछड़े हुए एक जमाना बीत गया' को मुकेश की अनुपस्थिति में मनहर से गवाया गया जिसे बाद में मुकेश को गाने के लिये कहा गया तब मुकेश ने गीत सुना तो बोला कि इस गीत में क्या कमी है, मनहर ने इसे बहुत अच्छा गाया है तो उस बेचारे को हटाकर मुझसे क्यों गवा रहे हो और मनहर के ही स्वर में गीत को रखा गया जबकि फिल्म के अन्य सभी गीत मुकेश की आवाज में रिकार्ड किया गया था।

गीतकार योगेश का मानना था कि उनका लिखा गीत 'कहीं दूर जब दिन ढल जाए' मुकेश का गाया सर्वश्रेष्ठ गीत है। मेरे विचार से रामचरितमानस का गायन उनकी अब तक की सबसे अनूठी और आश्चर्यजनक प्रस्तुति है। रामायण सुनने पर लगता है जैसे मुकेश तो निमित्त हैं, गायन तो प्रभु ही कर रहे हैं। एक बार सुनने पर किसी का भी जी नहीं भरता और बार–बार सुनने का मन करता है। सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय के प्रचार विभाग ने जिन श्रेष्ठ कृतियों का प्रकाशन किया है, उनमें से एक है भारत के वैश्विक गायक मुकेश। ये यह साबित करने के लिये काफी है कि मुकेश अपने काम के प्रति कितने निष्ठावान और समर्पित व्यक्ति थे। संगीतकार खय्याम के अनुसार मुकेश बड़े समर्पण से अभ्यास करते थे, एक–एक शब्द का उच्चारण सफाई से करते थे,किस शब्द पर कितना वजन देना है,उसकी अनुभूति को कैसे बाहर लाना है, यह सब बहुत तन्मयता से करते थे।

Jhjkepfjreku l dk egkxku

हिंदी पद्य साहित्य में 'महाकाव्य' के रूप में गोस्वामी तुलसीदास–कृत 'श्रीरामचरितमानस' विस्तृत मानवीय सम्बन्धों, सम्वेदनाओं एवं अनुभूतियों का अनूठा महाग्रंथ है। अपनी अद्भुत भावपूर्ण गायकी से रामायण को शाश्वत जीवन्त करने वाले गायक मुकेश अनन्त काल तक इसके प्रचार–प्रसार के वाहक रहेंगे। वर्ष 1973 में 'श्रीरामचरितमानस' के 'चतुश्शती समारोह' पर तुलसी रामायण को स्वरबद्ध करने के लिये गायक के लिये विचार–विमर्श किया गया। चयन पर जिनके नाम पर सर्व सम्मति बनी वे थे गायक मुकेश। यह नाम ही पवित्रता एवं पावनता का प्रतीक माना जाता था। भावों, अनुभूतियों एवं सम्वेदनाओं का जो अलौकिक भंडार 'मानस' में निहित था उसे अपनी वाणी से सार्थकता प्रदान करने का कौशल मुकेश की वाणी द्वारा संभव था। मानस के संपादन–संकलन का दायित्व कवि–गीतकार पं० नरेन्द्र शर्मा को, संगीत मुरली मनोहर स्वरुप को तथा अवधी भाषा, व्याकरण और उच्चारण के लिये 'काशी हिन्दू विश्वविद्यालय' के हिंदी विभाग के प्रो० चंद्रशेखर पाण्डेय की सेवाएँ ली गयीं। मुकेश एक–एक गीत पूर्ण मनोयोग से प्रस्तुत करने के प्रति कृतसंकल्पित रहते थे। मुकेश ने इसे श्रीराम का आशीष मान कर विनीत भाव से सहर्ष स्वीकार कर लिया और अपने स्वर्णिम कंठ से भावपूर्ण वाणी के साँचे में ढालकर 'तुलसी रामायण' को जन–जन तक पहुँचाया है। रामनवमी के दिन 11 अप्रैल 1973 को 'श्रीरामचरितमानस' के 'चतुश्शती समारोह'के उद्घाटन दिवस पर गायक मुकेश के पावन स्वर में 'तुलसी रामायण' का प्रथम लॉन्ग प्ले रेकार्ड का विधिवत विमोचन किया गया। 'बाल–काण्ड' भाग–प्रथम एवं द्वितीय के साथ ही रामायण के आठों काण्ड रिकार्ड किये गये। मुकेश की वाणी में मानवीय सम्बन्धों को सूक्ष्म एवं विराट अभिव्यंजनाओं की आदर्श अभिव्यक्ति है 'रामायण' महाकाव्य का महागान।

"राम राज बैठे त्रेलोका हर्षित भये गये सब सोका,
दैहिक दैविक भौतिक तापा,राम राज नहीं काहु दिव्यापा ,
कपि सम्पन्न सदा रह धरनी, त्रेया भयी कृत जुग के करनी,
हर्षित रहहिं नगर के लोगा, करहिं सकल सुर दुर्लभ भोगा"

पूर्व प्रधानमंत्री अटल बिहारी वाजपेयी भी मुकेश के गाने से बहुत प्रभावित हुये थे। 1958 के दिल्ली नगर

निगम के चुनाव में पार्टी को हार का सामना करना पड़ा था। 'फिर सुबह होगी' फिल्म का गाना 'वो सुबह कभी तो आएगी' उन्हें बहुत पसंद था तथा प्रेरणा देता था जिसका जिक्र उन्होंने अपने भाषण में किया था कि वो सुबह आ ही गयी। इसका जिक्र लाल कृष्ण आडवाणी ने भी किया है। पाकिस्तान की प्रधानमंत्री बेनजीर भुट्टो भी मुकेश की बहुत बड़ी प्रशंसक थी तथा उनके गाने बहुत शौक से सुनती थीं। कहा जाता है कि जब एक बच्चा कोमा में था तो उसे 'किसी की मुस्कुराहटों पे हो निसार' गाना सुनाया गया तो वह बच्चा कोमा से बाहर आ गया। एक बार मुकेश घूमने के लिये शिर्डी गये थे और रिक्शा से जाते समय रिक्शावाले द्वारा मुकेश का कोई गीत गाने पर मुकेश ने कहा (मुकेश के बारे में) बहुत बेसुरा गाता है तो रिक्शेवाले ने गुस्से में कहा– चलो रिक्शे से नीचे उतरो। इस पर मुकेश ने कहा– मैं ही मुकेश हूँ। तब वह और क्रोधित हो गया। मुकेश ने कहा– मैं तुम्हें 200 रूपये दूंगा तो भी उसने मुकेश को उतरने के लिये कहा। मुकेश ने उसे एक गाना गाकर सुनाया तो उसे विश्वास हुआ और उसके घर में ही रहा तथा उसे एक रिक्शा और अन्य सामान उपहार में दिया। एक बार महेंद्र कपूर के कहने पर उनके भतीजे के स्कूल में गाना गाया तथा पैसा देने पर यह कह कर मना कर दिया कि क्या तुम नितिन मुकेश के स्कूल में गाना गाते तो पैसा लेते? अन्य कलाकारों को भी बहुत सम्मान करते थे। मोहम्मद रफी को उनके द्वारा 'गाइड' फिल्म में गाये गये गाना 'दिन ढल जाये, हाय रात न जाये, तू तो न आये तेरी याद सताये' के लिये बहुत बधाई दिया था। महेंद्र कपूर को पुरस्कार मिलने पर उन्हें घर जाकर बधाई दी थी। बी०बी०सी० को दिए साक्षात्कार में मुकेश ने कहा था कि अगर मुझे 10 हल्के गाने मिले और एक उदास गाना मिले तो मैं 10 हल्के गाने को छोड़ कर एक उदास गाना को गाना पसंद करूँगा। विदेशों में भी वे बहुत स्टेज शो करते थे। पैसा से ज्यादा गाना को महत्व देते थे। 1974 की फिल्म 'रजनीगंधा'के गीत "कई बार यूँ भी देखा है" के लिये सर्वश्रेष्ठ पार्श्व गायक का राष्ट्रीय फिल्म पुरस्कार मिला था। वह असल में लता मंगेशकर को गाना था लेकिन उन्होंने इसके लिये तीन हजार रूपये मांगे थे लेकिन इतनी रकम देने की स्थिति में निर्माता नहीं थे तो उन्होंने मुकेश से आग्रह किया और उन्होंने मात्र एक हजार रूपये लेकर वह गाना गाया। नितिन मुकेश के अनुसार, उन्हें पापा को याद दिलाना पड़ता था कि आप इतने बड़े गायक हैं। वे अक्सर बस की लाइन में खड़े हो जाते थे, टैक्सी में कहीं भी चले जाते थे। इस बारे में कुछ कहने पर कहते थे "अब फिर न कहना मैं जैसा हूँ, वैसा खुश हूँ। मुझमें औरों से अलग कोई बात नहीं है।"

fu"d"k

अतः हम निष्कर्ष के रूप में कह सकते हैं कि मुकेश न सिर्फ एक दिलकश आवाज के मालिक थे तथा उन्हें 'दर्द भरे नगमों का बादशाह' कहा जाता था जिनकी आवाज श्रोता के सीधे दिल तक जाती थी बल्कि वह एक सीधे–सादे ,सरल एवं महान व्यक्ति भी थे जो लोगों की भावनावों को भी अच्छी तरह समझते थे। अतः हम गर्व के साथ कह सकते हैं कि भारतीय हिंदी सिनेमा जगत के एक अनमोल पार्श्व गायक मुकेश हैं जिन पर हम सब को गर्व है।

lanHk %

1. जागरण समाचार – 5 नवम्बर 2005
2. श्रीवास्तव, राजीव, भारत के प्रथम वैश्विक गायक मुकेश, प्रकाशन विभाग सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय, नई दिल्ली
3. श्रीवास्तव, डा० राजीव, पांचजन्य– श्री राम मन्दिर प्राण–प्रतिष्ठा पर विशेष : गायक मुकेश द्वारा गाए गये तुलसी रामायण के 50 वर्ष जनवरी 14, 2024

2024 चौबीसवाँ अंक
2001 पहला अंक
2002 दूसरा अंक
2003 तीसरा अंक
2004 चौथा अंक
2005 पाँचवाँ अंक
2006 छठा अंक
2007 सातवाँ अंक
2008 आठवाँ अंक
2009 नौवाँ अंक
2010 दसवाँ अंक
2011 ग्यारहवाँ अंक
2012 बारहवाँ अंक
2013 तेरहवाँ अंक
2014 चौदहवाँ अंक
2015 पन्द्रहवाँ अंक
2016 सोलहवाँ अंक
2017 सतरहवाँ अंक
2018 अठारहवाँ अंक
2019 उन्नीसवाँ अंक
2020 बीसवाँ अंक
2021 इक्कीसवाँ अंक
2022 बाइसवाँ अंक
2023 तेइसवाँ अंक

स्तोम

कलाभिव्यक्ति का माध्यम

वार्षिक शोध पत्रिका

कुमार प्रिन्टर्स
लाह बाजार, शिल्पी पोखरा, छपरा, सारण (बिहार)
(निबंधित कार्यालय : प्रभुनाथ नगर, छपरा)
Mob. : 9431090666